श्री कृष्णायनमः

श्रीमद्गीतार्थ संग्रहः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितः

प्रभा-देवी विरचित

भाषाटीकोपेतः

श्री कृष्णायनमः

श्रीमद्गीतार्थ संग्रहः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितः

प्रभा-देवी विरचित

भाषाटीकोपेतः

ार-आश्रम

त गंगा (निशात)

नगर-कश्मीर

ाम संस्करण, मार्च १९८७

्य : २०० रुपये (Price : 100/-)

inted by the Normal Press, Lal-Chowk), Srinagar-Kashmir, 190001

शैव-योग-संपन्न

अद्वितीय गुरुवर्य
श्रीमान् ईश्वर-स्वरूप जी के
कर-कमलों में
सादर समर्पित
तृतीय पुष्प

विषय-सूची

पृ० सं०

श्रीकृष्णार्पणमस्तु !

महाभारत के भीष्म पर्व में जो अठारह अध्यायें कही गई हैं वही श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से सुप्रसिद्ध हैं। भारतवर्ष में विद्यमान महाभारत की पांडुलिपि और कशमीर में विद्यमान महाभारत की पांडुलिपि के कई श्लोकों में पारस्परिक पाठ-भेद है। भारतवर्ष में प्रचलित भगवद्गीता के श्लोक तो यहीं के महाभारत की पांडुलिपि से मेल खाते हैं किन्तु अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा संग्रहीत इस भगवद्गीता के श्लोक काशमीरिक महाभारत की पांडुलिपि से मिलते हैं। अतः पाठक जनों की यह धारणा एकदम निर्मूल है कि अभिनव जी ने गीता में श्लोक, मनोनुसार ही बदले हैं। तथ्य तो यही है कि उन्होने कशमीर के महा-भारत के अनुसार ही गीतार्थ-संग्रह के श्लोकों का पाठ रक्खा है।

इसके अतिरिक्त एक और हर्ष की बात है कि आचार्य महोदय ने इन भगवद्गीता के श्लोकों का पदार्थ न लिखकर गूढार्थ प्रकट किया है। तभी तो अभिनव जी ने इन श्लोकों की व्याख्या को टीका का नाम न देकर अर्थ-संग्रह नाम रक्खा। इस भगवद्गीतार्थ-संग्रह में न केवल श्लोकों में पाठ-भेद ही है अपितु कई अधिक सुन्दर, मनोहर तथा गंभीर श्लोक भी हैं जो कशमीर के महाभारत में पाये जाते हैं।

हम ने अपने विद्यागुरु श्री महेश्वरराजदान जी की संरक्षता में सन् १९३३ ई० में गीतार्थ-संग्रह पुस्तक को छपवाया था। १९४४ ई० में हमने इसी गीता को कशमीरी भाषा में सुश्री शारिका जी व प्रभा जी को पढ़ाया। इन दोनों सत्शिष्याओं ने अति लगन से इस गीता का मनन किया। फल यह हुआ कि प्रभा जी ने इस का हिन्दी अनुवाद भी साथ-साथ किया। कई वर्षों तक यह पुस्तक इसी रूप में रही। प्रभा जी ने अपने परिश्रम से तथा हमारे आदेशानुसार इस भाषा टीका को अब प्रकाशित किया। इस पुस्तक के छापने में अनेकानेक विघ्नों के आ उपस्थित होने पर भी इन्होंने सराहनीय धैर्य से काम लिया। हम तो हृदय से इनके परिश्रम की सराहना करते हैं। इन दोनों सत्शिष्याओं के प्रति हमारा हार्दिक आशीवाद आजीवन सदा साथ-साथ है। प्रभु इनकी जीवत-यात्रा को सफल बनायें।

इनके साथ ही हम श्री आदरणीय प्रोफेसर पुष्प जी को भी सस्नेह आशीर्वाद देते हैं जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर पुस्तक के संशोधन आदि का बोझा उठाया और साथ ही 'गीतार्थ-संग्रह' पर अपने सुन्दर विचारों को पाठकों के समक्ष रखा। भगवान् शंकर उन्हें सुखी रखे।

इस गीतार्थ-संग्रह के भाषानुवाद में हम ने श्री गीता जी का न्यास तथा गीता जी के
ात्म्य-परक श्लोकों को भी रक्खा है। ये श्लोक अब लुप्त-प्राय होने लगे थे। हमें पूर्ण
ाा है पाठक जन इस उपयोगी गीतार्थ-संग्रह का हिन्दी अनुवाद पढ़कर पूर्णरूप से
ान्वित होंगे। ऐसा होगा तो प्रभा जी का यह प्रयास भी सफल होगा।

लक्ष्मण जी

वि० संवत् २०४३, ई० १९८७

श्री अभिनवगुप्त तथा गीतार्थसंग्रह

आचार्य अभिनवगुप्त : महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त की प्रतिभा सचमुच बहुमुखी थी। वे दसवीं शती कशमीर ही के नहीं, पूरे भारत के एक निराले मनीषी थे। तन्त्र, दर्शन, साहित्य, काव्य, नाट्य आदि के मर्मज्ञ ही नहीं, व्याख्याता भी थे।

तत्त्वदर्शी ऐसे कि तन्त्र और आम्नाय दोनों के आरपार देखकर भारतीय दर्शन में प्रत्यभिज्ञा की मौलिक उद्भावना कर पाये। इस दृष्टि से उनकी **प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी** में जहां एक ओर दार्शनिक पैठ की गहराई का पता चलता है, वहीं दूसरी ओर **तन्त्रालोक** के कई आयाम वाले विस्तार में विश्वकोशीय सारवत्ता का आग्रह झलक उठता है। काव्य तथा **नाट्य** की तह में काम करने वाले वाली प्रक्रियाओं का सूक्ष्म विवेचन किया। ध्वन्यालोक की चकाचौंध में भी रसध्वनि का **लोचन** खोल दिया तथा भरतनाट्य-शास्त्र की गुत्थियां सुलझाते-सुलझाते रसनिष्पत्ति के साथ ही साथ अभिनय-प्रक्रिया की मूलभूत प्रेरणाओं को भी **अभिनवभा'ती** में उघाड़ दिया।

आचार्य के बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। विशेष कर डा० कान्तिचन्द्र पाण्डे ने उनके जीवन तथा कृतित्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है। अतः यहां पर आचार्य के एक समसामयिक साक्ष्य की चर्चा ही अभीष्ट है।

गुरुनाथपरामर्श : नाम से ग्रथित यह साक्ष्य एक प्रशस्तिकाव्य है जो आचार्य के एक दक्षिणात्य शिष्य ने (मदुरा के मधुराज ने) अपने गुरुनाथ को भेंट किया था। योगी मधुराज 'कर्पर-कन्था-कमण्डलूदंडी ही नहीं थे, खण्डन-मण्डन की प्रवीणता से लैस भी थे। घूमते घामते, अपनी प्रतिभा की धाक जमाते वे (आयु के ७४वें वर्ष में) कश्मीर आ पहुंचे तो आचार्य अभिनवगुप्त की विलक्षणता पर लट्टू हो गये। गुरुनाथ में उन्होंने दक्षिणामूर्ति के दर्शन किये और उनके आश्रम की प्रकाश-विमर्शात्मक प्रेरणा के अमृत-कुंड में वे चार बरस डूबकियां लेते रहे। फिर से अनिकेत यात्रा पर चल देने से पहले गुरुनाथ के चरणों में श्रद्धा के फूल चढ़ा गये। श्रद्धा के इन फूलों में आचार्य के अनुपम व्यक्तित्व की रंगीनी भी है। महक भी।

गुरुनाथपरामर्श में जो झलकियां मिलती हैं, उन में से कुछ एक यों हैं :

"दाख की बेलों के झुरमुट में एक मनोहर मण्डप''' मण्डप भी बिल्लौर का, जिसमें लाल जवाहिर जड़े हैं, मण्डप पर एक स्वर्णपीठ''' ऊपर तने हुए चन्दोए से लटकती मोती-

ड़ियां, हिलोरें ले रही हैं।···दिशाएं फूलमालाओं धूप, दीप और चन्दनलेप की सुगन्ध से
{की हुई··वातावरण नाच-गाने की गहमा-गहमी से मुखरित···स्वर्ण-पीठ पर विराजमान
मान् अभिनवगुप्त, आचार्यों के आचार्य, गुरुनाथ ! उनकी आंखों से आनंद छलक उठता है;
थे पर भस्म का तिलक लगा है; जटाएं खूब सज रही हैं; कानों से रुद्राक्ष के आभूषण
टक रहे हैं। दाढ़ी लम्बी है। गले में लगा हुआ लेप दमक रहा है। ··बदन गोरा है, कपड़े
ाम हैं, चांदनी में धुले से। स्वच्छ निर्मल !···क्षेमराज आदि शिष्य, सेवा में तत्पर, जी
गा कर आचार्य का प्रवचन सुन रहे हैं; गुरुनाथ के मुखारविन्द से निकलते वाक्यों को
ापिबद्ध कर रहे हैं। आचार्य के दाँय बाँय सेवा में तत्पर हैं दो शिव-दूतियाँ जिनके एक
ाथ में ताम्बूल की डिबिया तथा शिवरस.भरा सकोरा है, दूसरे हाथ में उत्पल······"

(श्लोक ४-५)

गुरुनाथ को वे सिद्धान्त, क्रम, भैरव, यामल, कौल आदि सभी में आचार्यपद
र प्रतिष्ठित पाते हैं। उन्हें लगता है कि दक्षिणामूर्तिदेव ही कृपा करके कश्मीर
धारे हैं और श्रीकण्ठ के रूप में अवतरित हुए हैं। (श्लोक ६) उनकी दृष्टि में
ी अभिनवगुप्त 'सारस्वत-चन्द्र' हैं जिनकी छिटकती हुई चांदनी के सामने संसार में अंधेरा
टक सकता है न ताप ! [श्लोक ११] उनके लिए गुरुवर अभिनवगुप्त 'सरस्वती मार्तण्ड'
जिनकी किरणों को छूकर खिल उठे हृदय के पुण्डरीक में मोक्षलक्ष्मी घर कर लेती है।
श्लोक १३] मधुराज की स्वीकारोक्तियां बहुत महत्त्व की हैं। विशेषकर ये—

"अभिनवपरमेश्वर ही का प्रसाद है कि हमें अपने हृदय में ही आत्मदेवता का
ाक्षात्कार हुआ, जिससे (घट-पट-ताम्र-काञ्चन-अश्म आदि) प्रतिमाओं की पूजा में हमारी
ावस्था जाती रही···(श्लोक १६)

"अभिनवपरमेश्वर ही का प्रसाद है कि भौतिक शरीर के बारे में हमारा आग्रह न
रहा। भला पराया धन हरने की हमें सूझे ही क्यों ? किसी से कठोर बोल भी क्यों बोलें ?

(श्लोक १७)

"मेरे गुरुनाथ बड़े करुणालु हैं, जभी तो चिद्रूप बनकर मेरे हृदय में दमक उठे हैं।

(श्लोक ३३)

"गुरुनाथ ने मुझे मेरे ही हृदय की गुहा में ऐसा झोंक दिया कि आन की आन में
ेरा अंग अंग सुनहरा हो उठा।···(श्लोक १२)

"अभिनव उत्पल के पराग से निचुड़ा हुआ शिव—दृष्टि—रसायन चखने वाला मेरा
ातिभाशील हृदय क्यों न सदा के लिए नीरोग हो जाय ? (श्लोक ३७)

अपने गुरुनाथ की महिमा गाते हुए मधुराज ने श्रद्धातिरेक में यहाँ तक कह दिया
है कि—

"अभिनवगुप्तनाथ का लिखा हुआ (सीधे) हृदय में (उतर आता) है, जब कि दूसरे
शास्त्रकारों का लिखा हुआ पानी पर (बहता सा) जान पड़ता है।"

आचार्य के कृतित्व की चर्चा करते हुए उन्होंने उनकी कुछ ऐसी कृतियों का नाम भी लिया है जो अब दुर्लभ हो चुकी हैं। इनमें से **पञ्चाशिका** संभवतः वह **पर्यन्तपञ्चाशिका** है जिसकी ओर आचार्य ने अपनी **परात्रीशिका** में संकेत किया है। ऐसे ही संभवतः शिव-दृष्टिरसायन में **शिवदृष्टिलोचन** की ओर इशारा है। **कथामुखमहातिलक** नाम के जिस ग्रन्थ का मधुराज ने उल्लेख किया है वह वितण्डवाद की रोकथाम के उद्देश्य से लिखा गया जान पड़ता है जभी इसके अंदर 'न्याय में कहे गये सोलह पदार्थों का निरूपण किया गया था। कौन जाने, आचार्य के जिस 'स्वच्छन्द गद्यपद्य' की मधुराज ने प्रशंसा की है, उसमें से कितना कुछ हम तक पहुंच ही नहीं पाया हो। उनके **गीतार्थसंग्रह** में भी तो उनकी कई ऐसी कृतियों से उद्धरण दिये गये हैं जो अब मिलते ही नहीं। विशेष करके देवीस्तोत्रविवृत्ति और शिवशक्त्य विनाभाव-स्तोत्र'

गीतार्थसंग्रह अस्तु, **गीतार्थसंग्रह** में भी मनीषी की बहुमुखी प्रतिभा का प्रतिफलन हुआ है। आचार्य से पूर्व भी कशमीर में गीता पर कई वृत्तियां और टीकाएं लिखी जा चुकी थीं और काशमीर पाठान्तर की परम्परा स्थिर हो चुकी थी। आश्चर्य की बात नहीं कि नवीं शती में राजानक रामकण्ठ ने अपनी **सर्वतोभद्र** (टीका) में जिस पाठान्तर को अपनाया था, अधिकांश में अभिनवगुप्त ने भी उसी को ठीक माना, यद्यपि रामकण्ठ ही से ज्ञात होता है कि कशमीर में एक से अधिक पाठान्तरों का रिवाज था। वैसे **सर्वतोभद्र** में (**शंकरभाष्य** से भिन्न) जो ढाई सौ से ऊपर पाठ-भेद मिलते हैं; उनमें से दो सौ के लगभग पाठ-भेद गीतार्थ-संग्रह में भी मिलते हैं पर **गीतार्थसंग्रह** तथा सर्वतोभद्र में भी तो परस्पर पाठभेद मिलता है।

पाठभेद मुख्यतः चार प्रकार के जान पड़ते हैं :

१. वे जो प्रतिलिपिकार की भूलचूक से बदल गये अंश में प्रकट हों;

२. वे जो प्रतिलिपिकार की जानबूझ कर की गई संवार-निखार की कोशिश का परिणाम हों;

३. वे जो आदर्श-पुस्तक में कीड़ों द्वारा चाटे गये या किसी और क्षति से लुप्त हुए अंश के पुनर्निर्माण की धुन में घुसेड़े गये हों, चाहे ऐसा करते समय सुनासुनी से काम लिया गया हो या अटकल से।

४. वे जो क्षेत्रीय परिधि में प्रचलित मौखिक परम्परा पर आधारित हों या ऊपर लिखे गये तीन कोटियों से किसी एक से जुड़ी हुई अथवा स्वतंत्ररूप से चल पड़ी परंपरा का प्रतिफलन हों।

पाठभेद की इन चार कोटियों का निपटारा तो महाभारतीय पाठान्तर की परिधि के अंदर ही संभव है, फिर भी इतना निश्चित है कि **गीतार्थसंग्रह** में पाये गये पाठभेद प्रायः

चौथी कोटि में आते हैं। इनमें से कई तो बहुत समीचीन, युक्तियुक्त और अर्थगम्भीर जान पड़ते हैं। जैसे ये :—

१. धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे सर्वक्षत्रसमागमे ॥" (प्रथम,१)

२. अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्। ("'१०)

पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्। ("'११)

३. अशोच्याननुशोचंस्त्वं प्राज्ञवन्नाभिभाषसे ("'१२)

४. कर्मण्यस्त्वधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (द्वि०, ४८)

५. स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मोदयादपि (तृ०, ३५)

६. त्वपथ्यः सात्त्वतधर्मगोप्ता"'(चकादश, १८)

७. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्येष वसतेऽर्जुन (अष्टादश, ६१)

शिवाद्वय की दृष्टि से भगवद्गीता पर विचार करने की जो प्रथा कश्मीर में नवीं शती तक उभर आई थी उसी को अभिनव ने अपनी प्रतिभा के स्पर्श से और भी सटीक कर दिया। उनके निजी दृष्टिकोण की विशेषताता का सार संग्रहश्लोकों में छनछन कर आ गया है। 'भक्तिरस के आवेश' से वे अहंकार के विभ्रम को बहा चुके थे, और 'द्वैत के महामोह' से छुटकारा पाकर वे 'ब्रह्ममयी चिति' के आलोक में लोकव्यवहार की सार्थकता देख चुके थे। शिवाद्वय की यह समन्वयदृष्टि यों सवाक् हो उठी है :—

"लसद्भक्तिरसावेषहीनाहंकारविभ्रमः ।
स्थितेऽपि गुणसंमर्दे गुणातीतः समो यतिः ॥ [चतुर्दश]

"हृत्वाद्वैतमहामोहं कृत्वा ब्रह्ममयींचितिम् ।
लौकिके व्यवहारेऽपि मुनिर्नित्यं समाविशेत् ॥ [पंचदश]

समन्वयदृष्टि ने ही स्त्री और शूद्र के प्रति उस उदार भावना को उजागर किया जो रामकण्ठ तथा अभिनव दोनों में लक्षित होता है। स्पष्ट है कि नवीं शती तक यह उदार दृष्टिकोण कश्मीर में पनप चुका था, तभी तो आचार्य ने पुरानी लकीर पीटने वालों को आड़े हाथों लिया। उनका विचार है कि जातिभेद पर जोर देने वाले ईश्वर की उस 'शक्ति का 'खण्डन' करते हैं जिससे वे सबका अनुग्रह करते रहते हैं; ऐसे लोग, वास्तव में, अद्वैत के अन्दर भेदभावना भरने की जबरदस्ती करते हैं, ऐसे लोगों के अन्तःकरण में 'जात्यादि-भेद का महाग्रह' ही आविष्ट हो जाता है। (देखिए, नवम, ३३-३५ पर व्याख्या)

गूढार्थप्रकाशन' की ठान कर आचार्य ने पिष्टपेषण से काम लेना उचित नहीं समझा हैं; हर बात को पैनी दृष्टि से देखकर ही उसपर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। जहां जहां आवश्यक जान पड़ा वहां-वहां अनेक दृष्टिबिन्दुओं की संभावना से इनकार भी नहीं

किया। जैसे, 'भजन्ते नामयज्ञैस्ते' (षोडश, १७), 'अधिष्ठानं तथा कर्ता' (अष्टादश, १४) या 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' (तृतीय में 'नाम', अधिष्ठान' तथा 'अन्न' पदों के स्पष्टीकरण में, १४)।

पदों या वाक्यखंडों के विशदीकरण ही में नहीं, प्रसंग की व्यापक अवधारणा में भी आचार्य की मौलिकता झलकती है। और तो और, गीता के आमुख में ही उन्होंने 'देवासुर-सृष्टिश्च विद्याविद्यामयीति कहकर पारमार्थिक और व्यावहारिक (पक्षों) के समन्वय पर जोर दिया है और धर्मक्षेत्र तथा कुरुक्षेत्र आदि की प्रतीकात्मक व्याख्या करके शरीर के अंदर ही होने वाले 'विद्या अविद्या संघर्ष' अथवा देवासुरसंग्राम में चौकस रहने की अनिवार्यता को उभारा है।

आचार्य की पैनी दृष्टि का एक आह्लादक उदाहरण पदों के अन्वयन् (द्वितीय, ५१) में मिलता है जहां वे 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' को 'अवरं कर्म हि बुद्धियोगाद् दूरेण' सुझाते हैं, न कि (शंकर की तरह) 'कर्म हि बुद्धियोगाद् दूरेण अवरम्' समझते हैं।

'स्वधर्म' की यह व्याख्या भी देखिए कितनी ताजा है :

"**अयं हि नः सिद्धान्तः—सर्वथा मुक्तसंगस्य स्वधर्मचारिणो नास्ति कश्चित्पुण्यपापात्मको बन्धः। स्वधर्मो हि हृदयादनपायी स्वरसनिरूढ एव। न तेन कश्चिदपि रिक्तो जन्तुर्जायते इति**..."। (तृतीय, ३५)

गीतार्थसंग्रह का प्रकाशन

गीतार्थसंग्रह सबसे पहले निर्णयसागर (बम्बई) से सात और टीकाओं, भाष्यों के साथ प्रकाशित हुआ। उस छाप में त्रुटियां देख कर श्री राजानक लक्ष्मण ब्रह्मचारी (ईश्वर स्वरूप जी) ने १९३३ में इसका एक नया संस्करण निकाला जिसके आधार पर उनकी साधनाशील शिष्या श्री प्रभा देवी ने अब यह हिन्दी रूपान्तर अति लगन से तैयार किया है। इससे पूर्व वे **पराप्रावेशिका** तथा **परमार्थसार** के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर चुकी हैं।

आशा है प्रभा जी की सराहनीय शास्त्र-साधना हिन्दी पाठकों तक आगे भी पहुंचती रहेगी।

(प्रो०) (पृथ्वीनाथ) पुष्प
श्रीनगर
वि० २०४३, ई० १९८७

ॐ

भूमिका

त्रिकशास्त्र के मर्मज्ञ श्री अभिनवगुप्त जी की कृतियां न केवल भारतवासियों के
ए ही ज्ञान की निधि हैं अपितु अन्य देशवासियों के लिए भी ज्ञान-वृद्धि का सुन्दर सोपान
नी जाती हैं। भगवान् व्यास कृत गीता जी की अनेकों टीकायें तथा अनेक भाषाओं में
ुवाद हुए हैं इस कथन से तो सभी परिचित ही हैं। कशमीर में भी इस के क्षेत्रीय पाठान्तर
लते हैं। कहीं-कहीं पाठान्तर ही नहीं श्लोकान्तर भी मिलते हैं। कशमीर में प्रचलित
ाभारत का आदर्श लेकर ही शैव-शास्त्र के शिरोमणि शिव-तुल्य अभिनवगुप्त जी ने गीता
े सैद्धान्तिक ग्रन्थ की सारगर्भित किन्तु संक्षिप्त 'अर्थ-संग्रह' नाम वाली व्याख्या की है।
। ग्रंथ में उनका मुख्य प्रयास यही रहा है कि जिस श्लोक के मार्मिक अर्थ को, अन्य
काकार नहीं समझ पाए हैं उन्हीं श्लोकों का तात्त्विक अर्थ, आचार्य ने नपे-तुले शब्दों में
ष्ट करके रख दिया है। उन्हीं श्लोकों पर विहंगम दृष्टि डालते हुए हम उन पर तनिक
काश डालेंगे।

पहिली अध्याय के पहले ही श्लोक में पाठ-भेद यह है—

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे सर्वक्षत्रसमागमे'

इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त जी कहते हैं—कुरु इन्द्रियों को कहते हैं।
। यह शरीर सभी इन्द्रियों का क्षेत्र—तीर्थ बना है तथा जिसमें राग, वैराग्य, क्रोध, क्षमा
ादि विरोधी भावनाओं का संघर्ष रहता है—उसमें मामका—अहंभाव से युक्त भावना
था पांडव—शुद्धवासना से युक्त सत्त्वगुण भावना ने परस्पर क्या किया? सच तो यह है
 कौरव और पांडव जीव की अपनी ही मित्र-भावना और शत्रु-भावना के सूक्ष्म रूप हैं।
न्हीं की स्थूल रूप में ऐतिहासिक घटना, कौरब और पांडव के रूप में हमारे सम्मुख
पस्थित हैं।

इस प्रथम अध्याय के दसवें श्लोक की व्याख्या में भी अभिनवगुप्त जी ने दुर्योधन के
ख से भावी होनहार के विषय में संकेत करते हुए व्याख्या मार्के की, की है। वे कहते हैं
क दुर्योधन को कहना कुछ था पर उसके मुख से भावी होनहार के कारण विपरीत बात ही
ही गई। वे कहते हैं—

'अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीमाभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीष्माभिरक्षितम्॥'

अन्य टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ सीधे शब्दों में कौरवों के विजय-पक्ष में ही लिया है किंतु श्री अभिनवगुप्त जी ने यों किया है—पांडवों की भीमसेन, द्वारा रक्षित सेना हमारे लिए अपर्याप्त है—हम उन्हें जीत नहीं सकते हैं तथा हमारी भीष्मपितामह द्वारा सुरक्षित सेना उनके लिए पर्याप्त है—वे हमारी सेना को सहज में जीत सकते हैं। इस भांति अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों प्रकार के अर्थ अभिनवगुप्त जी ने किए हैं।

अठाइसवें श्लोक में केवल पाठभेद मात्र है। प्रचलित गीता में 'विषीदन्तम्' के स्थान पर यहां 'सीदमानम्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अर्थ दोनों का 'दुःख करना' ही है।

श्री रामकण्ठाचार्य की भांति श्रीमान् अभिनव जी ने भी प्रत्येक अध्याय के अन्त में अपनी ओर से एक श्लोक लिखा है जो अध्याय के तात्त्विक तात्पर्य को अभिव्यक्त करता है। इस अध्याय के संग्रह-श्लोक का भाव कितने मार्के का है। देखिए—विद्या—सात्त्विक ज्ञान और अविद्या—अज्ञान। इन दोनों प्रवाहों के आघात से बेबस बना हुआ मुनि, जब गुरुयुक्ति से दोनों भावनाओं को त्याग देता है तो स्वयं निर्विकल्प बनता है।

दूसरी अध्याय में सत्तारहवें श्लोक का हृदय-ग्राही अर्थ अभिनवगुप्त जी ने इतने सुन्दर शब्दों में किया है कि पाठक का हृदय खिल जाता है। श्लोक यह है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्व दर्शिभिः॥ २-१७ श्लोक

इसी श्लोक का अर्थ जहां शंकरानन्दी टीका में बहुत विस्तार-पूर्वक किया गया है वहां गीता-संग्रह में नपे-तुले शब्दों में यों है—अभिनवगुप्त जी कहते हैं कि असत् जो सदा विनाशी शरीर है उसका अस्तित्व अर्थात् भाव नहीं है, क्योंकि अस्ति, जायते आदि शरीर सम्बन्धि विकारों के परिणाम के कारण शरीर सदा एक जैसा नहीं रहता है। पर आत्मा का कभी नाश नहीं होता। अब इन दोनों का जो अन्त-प्रतिष्ठापद है या यों कहें जहां इन दोनों का टिकाव है—इन दोनों का जहां मध्य-धाम में अनुभव होता है उसे तत्त्वदर्शी मुनि जानते हैं। 'अन्तः' पद का इतना गम्भीर अर्थ करना अभिनवगुप्त जी की प्रतिभा की ही उपज है।

आगे इस अध्याय में पच्चासवाँ श्लोक अधिक है। वह यह है—

'यस्य सर्वे समारम्भा, निराशीर्बन्धनास्त्विह।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं, स त्यागी स च बुद्धिमान्॥२-५० श्लο

इस श्लोक की सार-गर्भित किन्तु संक्षिप्त शब्दों से अभिनवगुप्त जी ने कितनी मार्मिक व्याख्या की है। वे कहते हैं—जिस साधक के सभी कर्म, आशीर्वाद रूप बन्धन से मुक्त हैं—जो निष्काम रूप से कर्म करता है वही बुद्धिमान् है। सच तो यह है कि अभिलाषा ही तो संसार में बांधती है।

इस अध्याय के छप्पनवें श्लोक में अर्जुन के प्रश्नों की व्याख्या सभी टीकाकारों ने
ल सरल शब्दों में यही की है कि स्थित-प्रज्ञ का क्या लक्षण है। वह कैसे बोलता है।
बैठता है और कैसे चलता है। श्री अभिनवगुप्त जी ने एकदम भिन्न अर्थों में इस
की व्याख्या की है। वह कहते हैं भाषा का अर्थ यहाँ लक्षण न होकर 'प्रवृत्ति' है।
किस प्रवृत्ति को लेकर स्थितप्रज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ है। क्या यह रूढिवाचक है
ार्थक है। दूसरी शंका यह भी उपस्थित होती है कि ये 'स्थितप्रज्ञ विशेषण क्या तपस्वी
पति भी लागू होगा या केवल योगी का ही विशेषण हो सकता है। 'किमासीत'
अर्थ करते हुए कहते हैं कि अभ्यास क्या करता है और फिर किस दशा को प्राप्त
ा है?

इस भांति अन्य टीकाकार गीता जी के श्लोकों के अर्थ की गहराई को नहीं छू पाए
अभिनवगुप्त जी की व्याख्या तो सत्यतः वस्तु-निष्ठ और मार्के की देखने को
ती है।

इस अध्याय का संग्रह-श्लोक कितना हृदय-ग्राही है -

> अहो नु चेतसश्चित्रा गतिस्त्यागेन यत्किल।
> आरोहत्येव विषयाञ्छ्रयंस्तास्तु परित्यजेत्' ॥२॥

इस श्लोक का भाव समझ कर यही अनुमान किया जाता है कि श्री अभिनवगुप्त
का मानवीय अनुभव कितने रहस्य की थाह को छू पाया है। वे कहते हैं कि विषयों का
करने से वे विषय, संकल्प बनकर साधक के मन में छिपे रहते हैं -इन विषयों का
ा नाश नहीं होता है। इसके उलट विषयों का पूर्ण रूप से सेवन करने से ही वे विषय
ो जाते हैं। फिर आजीवन उनके भोगने का संकल्प भी नहीं आता।

कितना व्यापक अनुभव इस श्लोक से प्रत्यक्ष होता है।

तीसरी अध्याय के प्रारम्भ में तो सभी श्लोकों की संख्या एक जैसी ही है किन्तु
ोनवें श्लोक से श्लोकों को आगे-पीछे किया गया है। यह अन्तर पच्चीसवें श्लोक तक
इसके बाद प्रचलित गीताओं से पांच श्लोक इस अध्याय में अधिक हैं। वे श्लोक अर्जुन
श्न के उत्तर में कहे गए हैं। अर्जुन के प्रश्न ये हैं—

> 'भवत्येष कथं कृष्ण कथं चैव विवर्धते।
> किमात्मकः किमाचारस्तन्ममाचक्ष्य पृच्छतः॥

अर्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण! इस काम और क्रोध की उत्पत्ति क्यों होती
इस का स्वरूप क्या है? इस की नींव जमने पर इस का रूप क्या होता है?

अर्जुन के ये सभी प्रश्न युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर भगवान
ने चार श्लोकों में देते हैं। वे श्लोक ये हैं—

एष सूक्ष्मः परः शत्रुर्देहिनामिन्द्रियैः सह ।
सुखतन्त्र इवासीनो मोहयन्पार्थ तिष्ठति ॥३९॥

पहिले प्रश्न को सुलझाते हुए कहते हैं—उत्पत्ति के समय इन (काम-क्रोध) का रूप इन्द्रियों में अति सूक्ष्म रूप में ठहरा होता है। यह परमार्थ को नष्ट करने वाला परम शत्रु, सुख रूपी तार पर आसीन होकर जीव को मोह में डाल देता है।

हर्षमस्य निवर्त्येष शोकमस्य ददाति च ।
भयं चास्य करोत्येष मोहयंस्तु मुहुर्मुहुः ॥४१॥

तीसरे प्रश्न को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जीव के वास्तविक सच्चे सुख को हटा कर, यह (काम-क्रोध) शोक ही देता है। इतना ही नहीं अन्तरात्मा में भय भी उपजाता है। इस प्रकार सदा जीव को मोहित करता है।

स एष कलुषी क्षुद्रश्छिद्रप्रेक्षी धनञ्जय ।
रजः प्रवृत्तो मोहात्मा मनुष्याणामुपद्रवः ॥४२॥

चौथे प्रश्न का उत्तर कितने सुन्दर शब्दों में देते हैं कि यह तुच्छ काम-क्रोध इस जीव के मानसिक दुर्बलता रूपी छिद्र को अपलक रूप से देखता रहता है अतः रजोगुण से बल पकड़ कर, मनुष्यों को मोहित करके उनके उपद्रवों का कारण बनता है।

उपर्युक्त प्रश्न तथा उत्तर की समीचीनता देख कर ये सभी श्लोक तो अवश्य होने चाहिएँ पर न जाने क्यों प्रचलित गीता में नहीं हैं ?

यह तो रही अधिक श्लोकों का वार्त्ता

इसी तीसरी अध्याय के ग्यारहवें श्लोक की व्याख्या अभिनवगुप्त जी ने हृदय को भाने वाली तथा मार्के, की की है। श्लोक यह है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

सभी टीकाकारों ने इसका सामान्य अर्थ यही किया है कि यज्ञ आदि कर्मों के करने से देवता प्रसन्न होंगे—वे वृष्टि को बरसा कर अनाज की पुष्टि करेंगे। अभिनवगुप्त जी को यह अर्थ न भाया, उन्होंने देव का अर्थ क्रीडा करने वाली इन्द्रियां कहा है। इन्हीं इन्द्रियों को खिलाने-पिलाने से तृप्त करके ये हमें स्वात्मा का साक्षात्कार सहज रूप में कराएँगी। इसी अर्थ को लक्ष्य में रखकर अगले सभी श्लोकों का अर्थ आन्तरिक भाव को लेकर ही किया है। ठीक भी है कि एक मुमुक्षु साधक के लिए, बाह्य यज्ञ की उपयोगिता कहां तक सफल हो सकती है जब तक कि वह अपनी ही इन्द्रियो का परीक्षण न करता रहे।

इस अध्याय का संग्रह-श्लोक कितना मार्मिक है—

धनानि दारान्देहं च योऽन्यत्वेनाधिगच्छति ।
किं नाम तस्य कुर्वन्ति क्रोधाद्याश्चित्तविभ्रमः ॥३॥

जो साधक, धन, स्त्री और अपने शरीर को भी घट की भांति अन्य भाव से देखे ा भला, क्रोध आदि मानसिक विक्षेप क्या बिगाड़ सकते हैं ।

चौथी अध्याय में प्रचलित गीताओं के समान ही कुल बत्तालीस श्लोक हैं किन्तु इन ोकों की व्याख्या, अन्य टीकाकारों से एकदम भिन्न अर्थ को लेकर की गई है । भिनवगुप्त जी ने संक्षिप्त शब्दों में जिस भी श्लोक का अर्थ किया है उस का विस्तृत अर्थ रके भी अन्य टीकाकारों में तात्पर्य अर्थ नहीं समझ आता । उदाहरण के रूप में इस श्लोक ा लीजिए—

कर्मण्यकर्म यः पश्यत्यकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स चोक्तः कृत्स्नकर्मकृत ॥४-१८॥

इस श्लोक की व्याख्या 'शंकरानन्दी' टीका में इतने विस्तार से की गई है कि पाठक ा मन उकता कर भी तात्त्विक अर्थ की थाह कहीं नहीं पाता । आचार्य अभिनवगुप्त जी इस श्लोक का भाव सरल तथा नपे-तुले शब्दों में सुझाया है। वह कहते हैं—जो साधक पने द्वारा किए गए कर्मों को अकर्त्ता मान कर उन कर्मों को अकर्म समझ कर शान्त रहता और दूसरे के द्वारा किए हुए कर्मों को सर्वात्म-भावना का सिद्धान्त सम्मुख रख कर, अपने ारा किया हुआ जानता है वही सभी मनुष्यों में बुद्धिमान् है और वही तथ्य रूप से सभी र्मों को करता है । इस भांति अपने किए हुए कर्मों पर अहंता का भाव हटा कर निष्काम ाव से कर्म करता है और दूसरे के कर्मों में आत्मा के सर्वव्यापक होने से अपने द्वारा किया आ ही जानता है। ऐसा साधक सभी कर्मों को करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता । इसी ावना से वह सर्वात्मभाव की स्थिति को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार चौथी अध्याय के सभी श्लोकों की व्याख्या अपनापन लिए है । चौंतीसवें लोक की व्याख्या देखिए कितने मार्के की है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥४-३४॥

अन्य सभी टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ, सामान्य रूप से ज्ञानियों की शरण में ाकर तत्त्व का उपदेश ग्रहण करना किया है । इधर मेधावी श्री अभिनवगुप्त जी ने तर्क का आश्रय लेकर ही अर्थ किया है। वह कहते हैं कि भला भगवान् कृष्ण से बढ़ कर अन्य कौन ज्ञानी, तत्त्व का उपदेश करने वाला हो सकता था और भगवान् को क्या आवश्यकता पड़ी थी जो वह अर्जुन को अन्य ज्ञानियों के पास जाने के लिए प्रेरित करते । इसके अतिरिक्त

आत्म-ज्ञान का सौदा यदि ज्ञानियों की सेवा, नमस्कार तथा प्रश्न आदि करने पर ही निर्भर हुआ करता तो सभी शिष्य ज्ञानियों के चरण पकड़ कर, उन्हें प्यार-दुलार से फुसला कर आत्मा का साक्षात्कार करते। पर ऐसा देखने में नहीं आता है। इन सभी बातों को दृष्टिपथ में रख कर आचार्य जी ने ज्ञानी, अपनी ही इन्द्रियों को माना है। इन्हीं इन्द्रियों की शरण में जाकर, इन्हें स्वयं बुद्धि के द्वारा मनवा कर जीव, अभ्यास-परायण रहने से ही आत्म-लाभ प्राप्त कर पाता है।

हम देखते हैं आजन्म गुरु-सेवा करने के बाद भी जब तक साधक अपने मन को सिधा कर एकाग्र न बने तब तक स्वरूप-लाभ का होना एकदम असम्भव है। अतः ज्ञानी अपनी ही इन्द्रियां हैं। सत्यतः आचार्य महोदय की दृष्टि पैनी थी जभी तो इतना आनुभविक अर्थ कर पाए हैं।

इस अध्याय का संग्रह-श्लोक कितना हृदय-ग्राही है—

विधत्ते कर्म यत्किञ्चिदक्षैच्छामात्रपूर्वकम्।
तेनैव शुभभाजः स्युस्तृप्ताः करणदेवताः॥

अपनी ही करणेश्वरी देवियाँ, जब इन्द्रियों के इच्छा के अनुसार कर्म करने से तृप्त बनती है तो वे सच्चे कल्याण का सेवन कराती हैं। अतः अपनी ही इन्द्रियों से तर्क-वितर्क करके कल्याण का पथिक बनना चाहिए।

पांचवें अध्याय के आठवें, नववें और दसवें श्लोकों की व्याख्या अति संक्षिप्त शब्दों में आचार्य महोदय ने की है। वे कहते हैं कि साधक की इन्द्रियां यदि स्थिति-स्थापक संस्कार के कारण अपने-अपने विषयों का सेवन भी करेंगी तो इससे व्याकुल नहीं होना चाहिए। विचारना यही चाहिए कि ये चक्षु आदि इन्द्रियां अपने-अपने विषयों के भोगने में लगी हैं, मुझे इनसे क्या संबन्ध है? दर्शक बन कर इनकी उछल कूद को देखते रहना चाहिए। विषयों को भोगने पर उन से लगाव नहीं होना चाहिए। यही इस अभ्यास की कुंजी है। ऐसा मन रखने से फिर विषयों में लिप्त नहीं होता।

इसी अध्याय के तेरहवें श्लोक की व्याख्या केवल दो सितूरों में करके आचार्यपाद ने सचमुच गागर में सागर भर दिया है। वे कहते हैं जिस प्रकार घर का स्वामी घर की टूट-फूट को अपने व्यक्तित्व की टूट-फूट नहीं समझता, उसी भांति मुझ आत्मा को नेत्र आदि इन्द्रिय रूपी नव झरोखों (रोशनदानों) के रहने तथा उनका विषयों से सम्बन्ध होने पर भी उनका कुप्रभाव मुझ आत्मा को नहीं होता। कारण यह कि मैं तो प्रमाता बन कर उन विषयों को देखता हूं।

हमने इस अध्याय में अठारहवां श्लोक नहीं रक्खा है। एक तो इस श्लोक की टीका श्रीमान् अभिनवगुप्त जी ने नहीं की है। दूसरे हमारी इस अभिनवगुप्त कृत गीता के श्लोकों की

प्रामाणयता रामकंठाचार्य की गीता के साथ मिलती है। अतः उस गीता में भी यह श्लोक नहीं है। हो सकता है कि संग्रह-कर्त्ता ने अन्य किसी कशमीर की प्रति में इस श्लोक को देखा हो तभी यहाँ रक्खा गया है किन्तु हमारी बुद्धि में यह श्लोक इस प्रसंग के साथ बैठता नहीं है अतः हमने यह श्लोक नहीं रक्खा।

अन्य प्रचलित गीताओं में उन्नीसवां श्लोक यह है—

इहैव तैर्जितः सर्गा येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

इस गीता में तथा रामकंठाचार्य की गीता में यह श्लोक छटे अध्याय का दसवां श्लोक है। ऐसा क्यों हुआ है इसका कारण या तो श्री अभिनवगुप्त जी जानते होंगे अथवा रामकंठाचार्य जी।

इस अध्याय के सत्ताईसवें श्लोक की व्याख्या अन्य सभी टीकाकारों ने बाह्य क्रियात्मक अभ्यास को लेकर ही की गई है। अभिनवगुप्त जी ने इसका एकदम अनौखा अर्थ किया है। बे कहते हैं कि बाह्य स्पर्श अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध नाम वाले विषयों को मन से स्वीकार न करते हुए वाम-दक्षिण दृष्टि अर्थात् क्रोध और राग रूप जो वृत्ति है उसके रिक्त (खाली) स्थान में सभी इन्द्रियों को रख कर उसके बाद प्राण—अपान यानि धर्म और अधर्म नाम वाली चित्त-वृत्ति के मध्य में साम्य रूप से नासा—मन की वृत्ति को ठहराये।

वास्तव में आचार्य महोदय ने इस श्लोक की व्याख्या आणवोपाय के आधार पर नहीं की है। शाक्तोपाय को लेकर ही इस श्लोक का अर्थ किया गया है। क्रोध आदि मानसिक बृत्तियों को प्रमातृभाव से देख कर उनको साम्य अवस्था में ठहराना ही वह विशेष अभ्यास मानते हैं।

इस पांचवीं अध्याय का सार श्लोक कितना महत्व रखता है। अर्थ यह है—जो साधक सभी जीवधारियों को समभाव से अर्थात् आत्म-रूप ही जानता है वह मूर्खों की भांति व्यवहार करता हुआ भी मोक्ष का भागी बनता है।

छटे अध्याय के तीसरे श्लोक की व्याख्या अभिनवगुप्त जी ने मार्के की, की है। प्रचलित सभी टीकाओं में मोक्ष के अभिलाषी आरुरुक्षु को ज्ञान-योग की प्राप्ति के लिए कर्म—अभ्यास आदि कारण माना है और फिर योग पर आरूढ बनने पर शम, दम आदि कारण—उपाय माने हैं। आचार्यपाद ने दूसरे कारण का अर्थ उपाय न कह कर लक्षण माना है। ठीक भी है योगारूढ होने पर फिर भला शम, दम आदि उपायों की आवश्यकता ही क्या है। शम तो उसका लक्षण बन आता है। यही अर्थ हृदय-ग्राही है।

आगे जाकर सत्तारहवें श्लोक में केवल मात्र पाठ भेद है। प्रचलित गीता का श्लोक यह है--

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्तु न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुनः ॥

यहां का पाठ यह है—

योगोऽस्ति नैवात्यशतो न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य नातिजागरतोऽर्जुन ॥

तेईसवां श्लोक यह है—

'यं लब्धवा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

यहां अन्तिम पाद का अर्थ करते हुए आचार्य महोदय कहते हैं कि ज्ञानवान भी—"**न विचाल्यते**—विशेषेण न चाल्यते अपितु संस्कारमात्रेणैवास्य प्रथमक्षणमात्रमेव चलनं करुणादिवशात, नतु मूढतया, विनष्टो वताहं कि मया प्रतिपत्तव्यम्। अन्य टीकाकारों ने इस 'विचाल्यते' पद का अर्थ—सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से वह साधक तनिक भी नहीं घबराता यह किया है। इसके उलट आचार्यपाद ने अनुभूत अवस्था को सही अर्थ में लेकर कितने सूक्ष्म अर्थ में इस पद की व्याख्या की है। ठीक भी है ज्ञानी जन पत्थर की भाँति हृदय-रहित तो होते नहीं है उन्हें भी पहिले क्षण में सुख-दुःख का स्पर्श होता ही है दूसरे क्षण में विमर्श के बल-भूते पर मन की चंचल वृत्ति को साम्य अवस्था में रख लेते है।

इसके अगले श्लोक में पाठ-भेद यों है—

"स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विणचेतसा ।'

प्रचलित गीता में 'योगो निर्विणचेतसा' यह पाठ है। अभिनवगुप्त जी ने इस पाठ के दोनों अर्थ किए हैं। बे कहते हैं—**अनिर्विणम्—उपेयप्राप्तौ दृढतरं संसारं दुःख-बहुलं प्रति निर्विणं वा चेतो यस्य ॥**

प्रभु को पाने के लिए योग, न उकताये हुए मन से अर्थात् उद्योग पूर्वक करना चाहिए। शेष टीकाकारों ने 'निर्विण' पद को लेकर ही अर्थ किया है। वे कहते हैं कि सांसारिक दुःख-प्रद विषयों के प्रति जिनका हृदय बिंधा हुआ हो उन्हें योग सफल बनाता है।

आगे उन्नतीसवें श्लोक में 'सुखेन' पद का अर्थ आचार्य जी ने राजयोग को समक्ष रख कर किया है। वे कहते हैं—

'अनेनैव क्रमेण योगिनां सुखेन ब्रह्मावाप्तिः, नतु कष्टयोगादिनेति तात्पर्यम् ।'

शरीर को कष्ट देकर प्रभु की प्राप्ति नहीं होती अपितु सहज रूप से अनुसंधान पर ताक लगाये रखने से ही अभ्यास में सफलता प्राप्त होती है।

अठतीसवें श्लोक में प्रचलित गीता से पाठ-भेद यों है—

अयतः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
लिप्समानः सत्तां मार्गं प्रमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

प्रचलित गीता में दूसरा पाठ यह है—

'अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति'

प्रचलित गीताओं में तो छटे अध्याय के श्लोकों की संख्या सैंतालीस है पर इस गीता में उन्नचास श्लोक हैं। पांचवीं अध्याय का एक श्लोक इस में रक्खा गया है। इसका क्या कारण हो सकता है। ज्ञात नहीं होता।

इस अध्याय का सार श्लोक यह है—

भगवन्नामसंप्राप्तिमात्रात्सर्वमवाप्यते ।
फलिताः शालयः सम्यग्वृष्टिमात्रेऽवलोकिते ॥६॥

इस श्लोक में भगवान् के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा की झलक मिलती है। इसे पाठक जन स्वयं समझ सकते हैं।

सातवीं अध्याय में प्रचलित गीता से कोई विशेष अन्तर श्लोकों में नहीं है। केवल प्रारम्भ के किन्हीं श्लोकों में पाठ-भेद है। दूसरे श्लोक के दूसरे पाद में इस प्रकार का पाठ-भेद है—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यंद ज्ञातव्यमवशिष्यते ।

आगे जाकर प्रचलित गीता के आठवें श्लोक की परिभाषा यह है—**'रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'**

इस गीता का पाठ यह है—

'रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रकाशः शशिसूर्ययोः'।

फिर नववें श्लोक में प्रचलित गीता का पाठ 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां **च**' यह है और इस गीता का पाठ—पुण्यः पृथिव्यां गन्धोऽस्मि यह है। आगे सोलहवें श्लोक में भी थोड़ा सा पाठ-भेद है। प्रचलित गीता में सुकृतिनोऽर्जुन है और इस गीता में **'सुकृतिनः सदा'** ऐसा पाठ है।

शेष श्लोक की संख्या एक जैसी है। इस अध्याय का सार, श्लोक कितना हृदय-ग्राही है—

स्फुटं भगवतो भक्तिराहिता कल्पमञ्जरी ।
साधकेच्छासमुचितां येनाशां परिपूरयेत् ॥

कहते हैं भगवान् की भक्ति रूपिणी कल्प-मंजरी को यदि भली-भाँति ग्रहण किया जाये तो वह साधक के मनोनुकूल आशाओं रूपी फल को शीघ्र देती है।

आठवीं अध्याय में पाठ-भेद बहुत कम है और श्लोकों की संख्या भी अठाईस ही है। ग्यारहवें श्लोक के चौथे पाद का पाठ यहां 'अभिधास्ये' है और प्रचलित गीता में 'प्रवक्ष्ये' है। अभिनवगुप्त जी ने इस श्लोक के 'संग्रहेण' पद की व्याख्या नपे तुले शब्दों में—मार्के की की है। वे कहते हैं—**सम्यग् गृह्यते—निश्चीयतेऽनेनेति संग्रहः—उपायः। तेनोपायेन तत्पदम् अभिधास्यते—उपायमत्र सतताभ्यासाय वक्ष्ये**। एक मुमुक्षु के लिए कितने प्रोत्साहन को देने वाले ये शब्द हैं। सहृदय जन स्वयं इसका अनुमान लगा सकते हैं।

आगे जाकर बाईसवें श्लोक का दूसरा पाद एकदम भिन्न है। इस गीता के बाईसवें श्लोक का दूसरा पाद यह है—

'यं प्राप्य न पुनर्जन्म लभन्ते योगिनोऽर्जुन।'

प्रचलित गीता का पाठ यों है—

यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।

छब्बीसवें श्लोक के दूसरे पाद का पाठ इस गीता में यह है—

'अनयोर्यात्यनावृत्तिमाद्ययावर्ततेऽन्यया'

और उधर प्रचलित गीता का पाठ इस प्रकार है—

'एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।

ऊपर के पहिले पाठ की व्याख्या अभिनवगुप्त जी ने संक्षिप्त शब्दों में यों की है—

'अनयोर्गत्योर्मध्यादाद्यया— अनावृत्तिः—मोक्षः। —अन्यया—भोगः।

इस अध्याय के संग्रह श्लोक का अर्थ कितना मार्मिक है। वह कहते हैं कि परमेश्वर का दर्शन जब पूर्णरूप व्यापक दृष्टि से किया जाये तो भीतर बाहर की वह कोई भी अवस्था नहीं रह जाती है जहां प्रभु व्यापक न दिखें।

नववीं अध्याय में सातवां श्लोक प्रचलित गीताओं से अधिक है। अतः कुल संख्या श्लोकों की चौंतीस न होकर पैंतीस है। सातवां श्लोक यह है—

"एवं हि सर्वभावेषु चराम्यनभिलक्षितः।
भूतप्रकृतिमास्थाय सहैव च विनैव च।"

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए आचार्यपाद कितना महत्व पूण संकेत करते हुए कहते हैं कि ईश्वर को प्राप्त करने के अधिकारी सभी नहीं हो सकते। उनके शब्द यह हैं -

यद्वदाकाशवाय्वोरविनाभाविन्यपि संबन्धे न जातुचिन्नभाः स्पृश्यता श्रूयते, एवं सकलसंसारविसार्यपि भगवत्तत्त्वं न सर्वजनविषयाम्।

बाकी श्लोकों में कहीं-कहीं पाठ-भेद अल्प-मात्रा में है। तेतीसवें श्लोक की व्याख्या, अन्य टीकाकारों से एकदम भिन्न तथा अपनापन लिए है। इस व्याख्या को पढ़ कर मनुष्य का मस्तिष्क आश्चर्य में पड़ जाता है कि आज से हजारों वर्ष पहिले एक ऐसे दार्शनिक व्यक्ति के हृदय में स्त्री जाति के प्रति कितना आदर तथा विशाल हृदय था। श्लोक यह है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

अन्य सभी व्याख्या करने वालों ने स्त्री को भी पाप-योनि मान कर अनादर की दृष्टि से देखा है । किन्तु हमारे सहृदय आचार्यपाद ने पापयोनयः—पशुपक्षीसरीसृपादयः और स्त्रिय इत्यज्ञः । कहा है । आगे जाकर वे कहते हैं कि जिन टीकाकारों ने स्त्रियों को मोक्ष का अधिकारी नहीं माना है वे वास्तव में प्रभु की सर्व-अनुग्राहिका-शक्ति को सीमित मान कर उसका खण्डन करते हैं और इस प्रकार अपने लिए हास्य के पात्र बनते हैं ।

दसवीं अध्याय का पहिला श्लोक ही 'भूय एव' पद से प्रारम्भ होता है । अभिनव जी ने नव अध्यायों तक ही गीता जी की विशेषता मानी है । शेष अध्याय तो उन्हीं नव अध्यायों में वर्णित विषयों की व्याख्या की है । अगली अध्यायों में हम कोई भी ऐसी गुत्थी नहीं पाते जिसे पहिले न सुलझाया गया हो ।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'गीतार्थ-संग्रह' का अपना विशेष महत्व है । अगली अध्यायों में भी कहीं-कहीं श्लोकों में पाठ-भेद है उन्हें पाठक स्वयं बाँच सकते हैं ।

हमें आशा है सहृदय विद्वान् इस गीता को पढ़कर अवश्य आत्मिक लाभ प्राप्त करेंगे । सामान्य जन जो संस्कृत भाषा को नहीं जानते हैं वे भी इस हिन्दी टीका तथा श्लोकों का सरल हिन्दी से अर्थ पढ़ कर गीता जी के महत्व का एक और आयाम देख पायेंगे ।

अब रहा इस हिन्दी टीका को बनाने का कारण क्या हुआ । मेरी आयु उस समय केवल बाईस वर्ष की थी जबकि विवाह के दो वर्ष बाद ही मेरे आदरणीय पतिदेव का स्वर्गारोहण हुआ । इतनी अल्पायु में इतना भयंकर दुःख आ उपस्थित होने पर, स्वर्गीय माता-पिता ने मुझे गुरु-चरणों में रहने का सुपरामर्श दिया । भाग्य-वश मेरी बडी बहिन सुश्री शारिका देवी जी बचपन से ही प्रभु भक्ति के रंग में रंगी थीं । प्रभु की अनन्य भक्ति में तल्लीन होने के फल-स्वरूप वे ब्रह्मचारिणी आजीवन रहीं । हमारे पूज्य पिता जी स्वनामधन्य जियालाल जी सोपोरी ने उनके रहने के लिए एक मकान ईश्वर-पर्वत की पहाड़ी पर गुरु महाराज श्रीमान् ईश्वर-स्वरूप जी के मकान के करीब में ही बनवाया था । अतः स्वभावतः हम दोनों उसी मकान में रहीं । शक्तिपातवश तथा महात्मा होने के नाते गुरु महाराज का हृदय द्रवीभूत हुआ । फल यह हुआ कि उन्होंने मुझे अभिनवगुप्ती गीता का अध्ययन कशमीरो भाषा में पढ़ाने की कृपा की । मैं जितना पाठ उनसे पढ़ती थी उतना ही हिन्दी में अनुवाद करके रख देती थी । एक वर्ष में यह कार्य समाप्त हुआ । यह वर्ष १९४४ ईसवीं था जबकि इन लिखे हुए पन्नों का साकार रूप पुस्तक के रूप में बना । तब से यह पुस्तक ऐसे ही पड़ी रही । लगभग दस वर्ष के बाद हमारे गुरु भाई स्वर्गीय श्री महेन्द्रनाथ जी सपरू ने इस पुस्तक का जिल्द करवा दिया, जिससे यह पुस्तक इतने वर्षों तक सुरक्षित

रही । अतः हृदय से उनका धन्यवाद दिये बिना रहा नहीं जाता क्योंकि उनके उद्योग से ही यह पुस्तक अपनी आकृति में रह पाई है । इसके बाद कई वर्षों तक तन्त्रालोक आदि त्रिकशास्त्र के ग्रन्थों का गहन अध्ययन करने में लगे रहने से इस पुस्तक की ओर ध्यान ही नहीं गया । १९८० में हमारे अन्य गुरु भाई श्री दीनानाथ जी गंजू ने इस पुस्तक को छपवाने के लिए अनुरोध किया । मैंने उनके कहने कहने से इतनी पुरानी पुस्तिका को झाड़ करके इसको बांचना प्रारम्भ किया । कई स्थलों पर संशय होने के कारण तथा भाषा संबन्धित त्रटियों को शुद्ध करने के लिए मुझे आदरणीय प्रोफेसर पुष्प जी के पास जाना पड़ा । उन्होंने अपना अमूल्य समय देकर इस पुस्तक के हिन्दी-अनुवाद में यथा संभव शोधन कर दिया । उनके इस निष्काम प्रयास के लिए उनका हृदय से धन्यवाद देने में मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है ।

इसके अतिरिक्त हमारे गुरुदेव, जिनके चरणों में रह कर जीवन हो व्यतीत हो गया, उनके उदार तथा महान् सुपरामर्श के लिए तो वाणी में वे शब्द ही नहीं हैं जिनसे उनका आभार चुकाया जाये। उन्होंने प्रूफ-संशोधन भी स्वयं करने की कृपा की अतः उन्हीं के चरणों में यह कार्य सादर समर्पित है।

इस पुस्तक को पढ़ कर यदि जनता अपना लाभ उठायेगी तो हमारा यह प्रयास सफल होगा ।

प्रभा देवी, ईश्वर-आश्रम
वि० २०४३ गुप्त-गंगा १९८७

आदौ करन्यासः

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान्वेद व्यासऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीकृष्णः परमात्मा देवता। अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञवन्नाभिभाषसे इति बीजम्॥ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज इति शक्तिः॥ अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचिः इति कीलकम्॥ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः॥ न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः॥ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति मध्यमाभ्यां नमः॥ नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः॥ पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः॥ नाना-विधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतानि च इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः॥ इति करन्यासः॥

अथहृदयादिन्यासः

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इति हृदयाय नमः॥ न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति शिरसे स्वाहा॥ अच्छेद्यो-ऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति शिखायै वषट्॥ नित्यः सर्वगतः स्थातुरचलोऽयं सनातन इति कवचाय हुम्॥ पश्य मे पार्थं रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति नेत्रत्रयाय वौषट्॥ नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इति अस्त्राय फट्॥ श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः॥

श्री गीता माहात्म्य

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता
नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना
मध्येमहाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिनी भगवती-
मष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसंदधामि भगव-
द्गीते भवद्वेषिणीम् ।।१।।

नमोऽस्तु ते व्यास बिशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ।।२।।

प्रपन्नपारिजाताय स्तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ।।३।।

सर्वोपानिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।४।।

वसुदेवसुतं देवं कंसचानूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ।।५।।

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला
गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी
कर्णेन वेलाकुला ।

अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा
दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी
कैवर्तके केशवे ॥६॥

पाराशर्यवचः सरोजममलं
गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथा-
सम्बोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः
पेपीयमानं मुदा
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमल-
प्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥७॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥८॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः
स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदै-
र्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा
पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा
देवाय तस्मै नमः ॥९॥

ॐ

स्वच्छन्दप्रसृमरगद्यपद्यविद्या
वैशद्यप्रकटिततत्तदाशयार्थाः ।
पाशच्छित्परमशिवाद्वयोपदेशैः
पान्त्वस्मानभिनवगुप्तनाथपादाः ॥१॥

सहज तथा निरर्गल रूप से प्रवाहित होने वाले, गद्य और पद्य की विशदता से भिन्न-भिन्न प्रकार के गूढ रहस्य-पूर्ण अर्थों को प्रकाशित करने वाले एवं उत्तम अद्वैत शैव-दर्शन के उपदेशों से (मायीय) पाशों को काटने वाले श्रीमान् अभिनवगुप्त नाथ हम सब की रक्षा करें।

तर्षं यः शमयति वाङ्मयौघवर्षैर्-
भक्तानां भवमरुमार्गचंक्रमोत्थम् ।
हर्षं वः प्रदिशतु सच्चिदम्बरस्थः
स श्रीमानभिनवगुप्तकालमेघः ॥२॥

सत् और चित् के आकाश में ठहरे हुए, जो श्रीमान् अभिनवगुप्त, संसार के मरुस्थल में बार-बार भटकने वाले भक्त-जनों की पिपासा को पावस की काली घटा की भान्ति अपनी वाणी के धारासार से शान्त कर देते हैं, वे आपको (पारमार्थिक) हर्ष प्रदान करें।

संकोचं दलयति हृत्सरोरुहाणां
गोभिर्यः सकलदिगन्तसर्पिणीभिः ।
आलोकं दिशतु दृशामलौकिकं नः
स श्रीमानभिनवगुप्तनाथसूर्यः ॥३॥

श्रीमान् अभिनवगुप्त नाथ, जिनकी चारों दिशाओं में फैली हुई वाणी, हृदयों के संकोच को वैसे ही मिटाती है जैसे चारों दिशाओं में व्यापने वाली सूर्य की किरणें, कमलों

की कलियों को खिला देती हैं, (वे ही) हमारी आँखों को पारमार्थिक उजाला प्रदान करें।

यस्तापं हरति तमांसि च स्वभासा
स्वच्छात्मा सकलकलाकलापपूर्णः ।
आनन्दं दिशतु दृशाममन्दमन्तः
स श्रीमानभिनवगुप्तनाथचन्द्रः ॥४॥

निर्मल आत्म-स्वरूप तथा सर्व-कला-संपन्न श्री अभिनवगुप्तनाथ, जो चन्द्रमा की तरह अपनी चमक से संताप भी मिटाते हैं, अंधेरा भी दूर करते हैं, हमारे आन्तरिक नेत्रों को परम आनन्द की अनुभूति कराएं।

एकद्व्याद्ययुतलक्षपरप्रमाणैः
साक्षेपविस्तरकृतैर्वचसां प्रबन्धैः ।
योऽनुग्रहीत्स सुकुमारसुसूक्ष्मबुद्धीं-
स्तस्मै नमोऽभिनवगुप्तगुरूत्तमाय ॥५॥

गुरुओं में श्रेष्ठ उन श्रीमान् अभिनवगुप्त को हमारा प्रणाम है, जिन्होंने अनेक प्रमाणों से आक्षेप और विस्तार प्रस्तुत करने वाले प्रवचनों द्वारा, कोमल तथा सूक्ष्म बुद्धि वाले शिष्यों को कृतार्थ किया है।

षट्त्रिंशदाह्निकमिदं भरतोक्तनाट्य-
वेदं रसैरुपचितं नवभिर्विवृण्वन् ।
यो भारतीमभिनवां रचयाञ्चकार
तस्मै नमोऽभिनवगुप्तगुरूत्तमाय ॥६॥

जिसने, छतीस आह्निकों वाले भरत जी से कहे हुए भरत नाटक नामक शास्त्र में नव रसों पर प्रकाश डालते हुए उसकी व्याख्या की है और जिसने अभिनव भारती नाम वाला शास्त्र निर्मित किया है, उसी उत्तमोत्तम गुरुप्रवर आचार्य अभिनवगुप्त जी को मेरा णाम हो।

महामाहेश्वरश्रीमदाचार्याभिनवोक्तयः ।
हृदये प्रतितिष्ठिन्तु प्रतिष्ठन्तां पशूक्तयः ।।७।।

महान् महेश्वर शिव के भक्त, आचार्य अभिनवगुप्त जी महाराज के वाक्य-रूप-अमृत, मेरे हृदय में सर्वदा पैठ जायें और अन्य पशु समान आचार्यों की उक्तियाँ उन्हीं के पास ठहरें। उनके उन कथा-प्रलापों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है।

इति निवेदयति शिवभक्तानुचरः लक्ष्मणः ।

ये उपरोक्त उक्तियां शिवभक्तों के दास गुरु-प्रवर लक्ष्मण जी उपहार करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादप्रणीतगीतार्थसंग्रहाभिख्य-
व्याख्योपेता, प्रभादेवीरचितभाषाटीकोपेता च ।

ओम् तत् सत् ॥

य एष विततस्फुरद्विविधभावचक्रात्मकः
परस्परविभेदवान्विषयतामुपागच्छति ।
यदेकमयभावनावशत एत्यभेदान्वयं
स शंभुरशिवापहो जयति बोधभासां निधिः ॥१॥

जो यह कल्याण रूप शंभु, स्फुरणा के विस्तार से प्रकट बने हुए (घट, पट आदि) भावों का चक्र रूप बना हुआ है (अर्थात् जैसे वेग से घूमते हुए चक्र में स्थित अनेक वस्तु पूर्णरूप से एक ही दिखाई देती है; उसी प्रकार अद्वैत दृष्टि से शिव-चक्र में ठहरा हुआ सभी जगत् शिव-रूप ही दीखता है,) जो पारस्परिक विभिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न पदार्थों का रूप धारण करता है और फिर अद्वैत भावना से उन सभी भिन्न-भिन्न पदार्थों को अद्वैतरूपता के साथ लयीभूत करता है, जो अशिव (भेद-भावना) को दूर करने वाला है तथा जो ज्ञान और क्रिया-विमर्श का कोष है, उसी शंभु की जय हो।

*द्वैपायनेन मुनिना यदिदं व्यधायि
शास्त्रं सहस्रशतसंमितमत्र मोक्षः ।
प्राधान्यतः फलतया प्रथितस्तदन्य-
धर्मादि तस्य परिपोषयितुं प्रगीतम् ॥२॥

मुनीश्वर व्यास ने, एक लाख श्लोकों का जो यह महाभारत रचा है, उस में

*द्वीपं अयनं (जन्मभूमि) यस्य—द्वीपायनः, स एव (अण्) = द्वैपायनः। जिसकी जन्म-भूमि द्वीप (जजीरा) है। व्यासभगवान।

मुख्य रूप से मोक्ष का ही प्रतिपादन हुआ है। शेष धर्म, आदि—(अर्थ, और काम) इन तीन का वर्णन (मोक्ष) की पुष्टि के लिए ही किया है।

मोक्षश्च नाम सकलाप्रविभागरूपे
सर्वज्ञसर्वकरणादिशुभस्वभावे ।
आकाङ्क्षया विरहिते भगवत्यधीशे
नित्योदिते लय इयान्प्रथितः समासात् ॥३॥

जो परमेश्वर सनातन हैं, निरपेक्ष हैं, (घट, पट आदि) विभक्त पदार्थों में जो अविभक्त रूप हैं, जो सर्वज्ञता तथा सर्वकर्तृता आदि शुभ स्वभाव वाले हैं, उस में लय होना ही तत्त्वदृष्टि से मोक्ष कहलाता है।

यद्यप्यन्यप्रसङ्गेषु मोक्षो नामात्र[1] गीयते ।
तथापि भगवद्गीताः सम्यक्तत्प्राप्तिदायिकाः ॥४॥

यद्यपि इस महाभारत में (भगवद्गीता नाम वाले प्रकरण को छोड़ कर) अन्य प्रसंगों में भी मोक्ष का प्रतिपादन हुआ है तथापि भगवद्गीता ही पूर्ण रूप से उस मोक्ष को प्राप्त करा सकती है।

तास्वन्यैः प्राक्तनैर्व्याख्याः कृता यद्यपि भूयसा ।
न्याय्यस्तथाप्युद्यमो मे तद्गूढार्थप्रकाशकः[2] ॥५॥

प्राचीन काल के कई टीकाकारों ने यद्यपि इस भगवद्गीता की बहुत सी टीकाएं लिखी हैं तथापि इस शास्त्र का रहस्य— अर्थ जतलाने के उद्देश्य से मेरा यह प्रयास भी समुचित ही है।

भट्टेन्दुराजादाम्नाय विविच्य च चिरं धिया ।
कृतोऽभिनवगुप्तेन सोऽयं गीतार्थसंग्रहः ॥६॥

(अपने सद्गुरु) श्री भट्टेन्दुराज से शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात अपनी बुद्धि से इस का पूर्ण रूप से विवेचन करके ही अभिनवगुप्त ने 'गीतार्थ-संग्रह' की रचना की है।

---

१ महाभारते　　　२ प्रदर्शकः = इति पाठः

विद्याविद्यात्मनोर्द्वयोरभिभाव्याभिभावकात्मकत्वं[1] प्रदर्शयितुं प्रथमाध्यायप्रस्तावः। नह्यनुत्पन्नविद्यालेशावकाश उपदेशभाजनम्; नापि निर्मूलितसमस्ताविद्याप्रपञ्चः, एककोटिविश्रान्तस्य तु ततः कोटेश्च्यावयितुमशक्यत्वात्। अज्ञविपर्यस्तयोस्तु[2] उपदेश्यत्वं यदुच्यते तत्क्वचिदेव। तथात्वौन्मुख्योपदेष्टव्येऽर्थे सन्दिग्धतैव। अत एव संशयनिर्णोदक एवोपदेश इति विद्याविद्याङ्गसंघट्टमयः संशय उच्यते। देवासुरसृष्टिश्च विद्याविद्यामयीति तत्कथोपक्रमणमेव मोक्षमार्गोपदेशनम्। ज्ञानं च प्रधानं, कर्माणि चापहर्तव्यानीति कर्मणां ज्ञाननिष्ठतया क्रियमाणानामपि न बन्धकत्वमिति ज्ञानप्राधान्यं [3]नान्तरीयकत्वं तु कर्मणाम्, न तु ज्ञानकर्मणी [4]समशीर्षकतया [5]समुच्चीयते इत्यत्र तात्पर्यम्। एवमेव च मुनेरभिप्रायं यथास्थानं प्रतिपादयिष्याम इति किमन्यैस्तत्त्वदर्शनविघ्नमात्रफलैर्वाग्जालैः॥

विद्या तथा अविद्या, इन दो में से कौन किसे पराजित करती है, इस बात को जतलाने के लिए (गीता जी के) पहले अध्याय की प्रस्तावना लिखी जा रही है। ऐसा मूर्ख तो उपदेश का पात्र नहीं बनता, जिसके पल्ले विद्या का लेश मात्र भी नहीं पडा हो, न वह जिसकी अविद्या पूरी तरह जड़ से उखड़ चुकी हो। जो ज्ञान या अज्ञता की कोटि पर चढा हो उसे भला ऐसी कोटि से गिरा ही कौन सकता है। अज्ञानी या उल्टी बुद्धि वाले को उपदेश का पात्र बनाए जाने की बात तो कभी कभार ही होती है। अतः वह संशय-युक्त व्यक्ति ही उपदेश का पात्र है जिस में तथात्व अर्थात् वस्तुस्थिति को जानने की उन्मुखता हो। संशयों को मिटाने वाला कथन ही उपदेश कहलाता है। विद्या और अविद्या का गड़मड़ हो जाना ही संशय कहलाता है। देवों की सृष्टि, विद्यामयी है और असुरों की सृष्टि अविद्यामयी है। ऐसा प्रसंग छेड़ कर ही मोक्ष-मार्ग का उपदेश किया जाता है। ज्ञान तो प्रधान है और कर्मों को हटाना है। अतः ज्ञान में भलीभांति स्थित कर्म, बन्धक नही हो सकते हैं। अतः ज्ञान की ही प्रधानता है और कर्मो

---

१. अभिभावकत्वमिति पाठः। २. जिस व्यक्ति को अंश मात्र भी शास्त्रीय ज्ञान न हो उसे अज्ञानी कहते हैं और जो शास्त्रीय ज्ञान का अर्थ अपने मनोराज से और ही कुछ समझ कर निश्चय करे उसे विपर्यस्त बुद्धि वाला कहते हैं। ३. अविनाभावित्वम, ४. समतयेति पाठः।

को ज्ञान के साथ रहना ही है। ज्ञान और कर्म एक ही स्तर के न होने से समान महत्त्व वाले नहीं ठहरते। व्यास मुनि के ऐसे अभिप्राय का हम यथा-अवसर (आगे भी) प्रतिपादन करेंगे। ऐसे शब्द-आडम्बर से लाभ ही क्या जो जाल की तरह उलझाए तथा तत्त्व-दर्शन में बाधा डाले।

धृतराष्ट्र उवाच।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे सर्वक्षत्रसमागमे।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले

संजय = हे संजय
सर्व-क्षत्र-समागमे = सभी क्षत्रिय (एक दूसरे को मारने वाले व्यक्ति) जहाँ इकटठे हुए हैं (ऐसी)
धर्म-क्षेत्रे = धर्म-भूमि
कुरु-क्षेत्रे = कुरु-क्षेत्र में
मामकाः = मेरे अपनों (कौरवों ने)
पांडवाः च एव = और पांडवों ने
किम् = क्या कुछ
अकुर्वत् = किया।

अत्र केचिद्व्याख्याविकल्पमाहुः— कुरूणां— करणानां यत्क्षेत्रं— अनुग्राहकम्, अतएव सांसारिकधर्माणां सर्वेषां क्षेत्रं— उत्पत्तिनिमित्तत्वात्,

'अयं स परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'
(याज्ञव॰ स्मृ॰)

इत्यस्य च धर्मस्य क्षेत्रम्, समस्तधर्माणां क्षयादपवर्गप्राप्त्या त्राणभूतम् तदधिकारि शरीरम्। सर्वक्षेत्राणां क्षतेर्हिंसार्थत्वात् परस्परवध्यघातकभावेन वर्तमानानां रागवैराग्य क्रोधक्षमाप्रभृतीनां समागमो यत्र, तस्मिन् स्थिता ये

---

५. जब ज्ञान और कर्म को स्वतन्त्र मानें और इन दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा न रहे तो उसे ज्ञान-कर्म समुच्चय कहते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त जी को यह मत अभीष्ट नहीं है। वे तो ज्ञान को सदा मुख्य और कर्म को गौण मानते हैं। इसी कथन की ओर यहां संकेत किया गया है।

मामकाः—अविद्या पुरुषोचिता विद्यात्मानः। ते किमकुर्वत—कैः खलु के जिता इति यावत्। ममेति कायतीति मामकः अविद्यापुरुषः। पाण्डुः-शुद्धः ॥१॥

इस श्लोक की व्याख्या कई आचार्य यूँ करते हैं—

कुरूणां— कुरुओं का तात्पर्य करणों— इन्द्रियों से है। उन इन्द्रियों का जो क्षेत्र— अनुग्रह करने वाला है। अत. जो सभी सांसारिक धर्मों तथा अधर्मों का भी क्षेत्र— उत्पत्ति का हेतु है। याज्ञवलक्य स्मृति के अनुसार 'जिसके योग अर्थात् संबन्ध से स्वात्म दर्शन हो वही सब से श्रेष्ठ धर्म है।'

इस प्रकार धर्म का क्षेत्र (यह शरीर) है। सभी धर्मों के नष्ट होने पर मोक्ष की प्राप्ति का कारण भी यही शरीर है। अत: शरीर ही रक्षा का साधन होने से इस (मोक्ष) का अधिकारी है। ऐसे शरीर में क्षद: (हिंसा करना) से सिद्ध क्षत्र शब्द राग, वैराग्य, क्रोध, क्षमा आदि मरने मारने वाली वृत्तियों का सूचक है। ऐसे क्षत्र जहाँ पर घात-प्रतिघात करने के लिए इकट्टे हो गये हैं, वह मेरे अपनों ने अर्थात् अविद्या वाले पुरुष के अविद्यामय संकल्पों ने (तथा) पांडवों ने अर्थात् शुद्ध-विद्या वाले संकल्पों ने क्या कुछ किया अर्थात् किसने किसे जीता।

वह जो मेरे मेरे की रट लगाए ऐसा ममता-मूर्ति, अविद्यापुरुष है और पांडु:— ममता से रहित शुद्ध-विद्या-पुरुष है।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजय बोला

तदा तु = उस समय तो
राजा = राजा
दुर्योधन: = दुर्योधन ने
व्यूढं = व्यूह रचना में सजी सजाई
पांडव-अनीकम् = पांडवों की सेना को

दृष्ट्वा = देखकर (तथा)
आचार्यम् = द्रोणाचार्य के
उपसंगम्य = पास जाकर
इदम् = (यह)
वचनम् = वचन
अब्रवीत् = कहा।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

आचार्य = हे आचार्य,
तव = आप के
धीमता = बुद्धिमान्
शिष्येण = शिष्य
द्रुपद-पुत्रेण = द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न ने
व्यूढाम् = (जिसे) व्यूह-रचना में सजाया है, (ऐसी)
पांडु-पुत्राणाम् = पांडु-पुत्रों की
एताम् = इस
महतीम् = बडी भारी
चमूम् = सेना को
पश्य = देखिए।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

अत्र = इस सेना में
भीम-अर्जुन-समाः = भीम और अर्जुन के समान
युधि = युद्ध में
महा-इषु-आसाः = बडे-बड़े धनुष वाले
शूराः = बहुत से शूरवीर हैं (जैसे)
युयुधानः = सात्यकि
विराटः च } और विराट,
च } तथा
महारथः = बलवान
द्रुपदः = राजा द्रुपद

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
[१]पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

धृष्टकेतुः च = और धृष्टकेतु
चेकितानः = चेकितान
वीर्यवान् = बलवान
काशिराजः च = काशिराज और
पुरुजित् = पुरुजित्
कुन्तिभोजः = कुन्तिभोज
नर-पुंगवः } = और मनुष्यों में श्रेष्ठ
शैव्यः च } शैव्य (शिवि)

१ पुरून् बहून् जयतीति पुरुजित = जिसने बहुत से नगरों को जीता हो पुरुजित कहलाता है।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
[१]सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

विक्रान्तः युधामन्युः च = और पराक्रमी युधामन्यु,
वीर्यवान् = बलवान
उत्तमौजाः = उत्तमौज,
सौभद्रः = सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु,
द्रौपदेयाः च = और द्रौपदी के पांचों पुत्र
सर्वे एव = सभी
महारथाः = (दस हजार हाथियों का बल रखने वाले) महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

द्विज-उत्तम = हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ !
अस्माकं तु = हमारे (पक्ष के) तो
विशिष्टा = प्रमुख
ये = जो
मम = मेरी
सैन्यस्य = सेना के
नायकाः = अगुआ (हैं)
तान् = उन्हें
निबोध = जान (तो) लीजिए,
संज्ञा-अर्थम् = परिचय कराने के लिए
तान् = उन्हें
ते = आप को
ब्रवीमि = जता देता हूं।

सैन्ये महति ये सर्वे नेतारः शूरसंमताः ।
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपः शल्यो जयद्रथः ।

१. अभिमन्यु ।

अश्वत्थामा विकर्णश्च [1]सौमदत्तिश्च वीर्यवान् ॥८॥

महतो = (इस) बड़ी
सैन्ये = सेना में
ये = जो
सर्वे = सभी
शूर-संमता = शूरवीर
नेतार: = नेता
(सन्ति) = हैं, (उन में से पहले तो)
भवान् = आप हैं
भीष्म: च = फिर भीष्मपितामह

कर्ण: च = और कर्ण
कृप: = कृपाचार्य,
शल्य: = राजा शल्य (तथा)
जयद्रथ: = जयद्रथ हैं।
अश्वत्थामा = अश्वत्थामा
विकर्ण: च = और विकर्ण
वीर्यवान् = बलवान्
सौमदत्ति: च = सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रव:

अन्ये च बहव: शूरा मदर्थे त्यक्तजीविता:।
नानाशस्त्रप्रहरणा नानायुद्धविशारदा: ॥९॥

अन्ये च = और भी
बहव: = बहुत से
शूरा: = शूरवीर
मद्-अर्थे = मेरे लिए
त्यक्त-जीविता: = जीवन की आशा को त्यागने वाले

नाना = अनेक प्रकार के
शस्त्र = शस्त्रों से
प्रहरणा: = प्रहार करने वाले (तथा)
नाना = अनेक रीतियों से
युद्ध = युद्ध (लड़ने) में
विशारदा: = चतुर हैं।

किं वानेन परिगणनेन, इदं तावद्वस्तुतत्त्वमित्याह–

इस रीति से (सेना की) गणना करने से प्रयोजन ही क्या है? सेना की वास्तविक स्थिति तो यों है–

---

१ सोमदत्तस्यापत्यं भूरिश्रव:।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीमाभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥१०॥

तद् = अतः
भीम-अभिरक्षितम् = भीमसेन के द्वारा भलीभांति रक्षित सेना
अस्माकम् = हमारे (लिए)
अ-परि-आप्तम् = अजेय है (अथवा) यथेष्ट प्रबल नहीं है

भीष्म = भीष्मपितामह
अभिरक्षितम् = द्वारा रक्षित
इदम् = यह
बलम् तु = सेना तो
एतेषाम् = इनके लिए
पर्याप्तम् = यथेष्ट प्रबल है (अथवा) हमारे द्वारा जेय है।

भीमसेनाभिरक्षितं पाण्डवीयं बलम् अस्माकमपर्याप्तंजेतुमशक्यम्, अथवा-अपर्याप्तं-कियत्तदस्मद्बलस्येत्यर्थः। इदं तु भीष्माभिरक्षितं बलमस्माकं सम्बन्धि एतेषां–पाण्डवानां पर्याप्तं–जेतुं शक्यम्, यदि वा पर्याप्तं–बहु न समरे जय्यमेतैरिति ॥१॥

भीमसेन के द्वारा सुरक्षित पाण्डवों की सेना हमारे लिए अपर्याप्त है अर्थात् हम से जीती नहीं जा सकती। अथवा अपर्याप्त यानी अल्प है—हमारी सेना के सामने उनकी गणना ही क्या है? फलतः वे हमें जीतने में असमर्थ हैं और इधर भीष्म द्वारा अभिरक्षित हमारी सेना पाण्डवों के लिए अपर्याप्त है अर्थात् हमारी सेना उनसे जीती जा सकती है अथवा पर्याप्त है यानी हमारी सेना बहुत है अतः ये पांडव इस युद्ध-भूमि में हमें जीत नहीं सकते हैं।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

---

१ अयनानि – वीथयः। 'अयनानि'—सेना की कतारें।

सर्वेषु = सभी
अयनेषु = मोर्चों पर
यथा-भागम् = अपने-अपने नियत स्थान पर
अवस्थिताः = डटे हुए
भवन्तः = आप
सर्व एव हि = सभी
भीष्मम् = भीष्मपितामह की
एव = ही
अभि-रक्षन्तु = भली-भाँति रक्षा करें।

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

कुरु-वृद्धः = कौरवों में सब से बढे
पितामहः = प्रतापशाली
तस्य = उस (दुर्योधन) को
हर्षम् = हर्ष
संजनयन् = उत्पन्न करते हुए
सिंहनादम् = शेर की गरज
विनद्य = गुंजाते हुए
शङ्खम् = शंख (को)
उच्चैः = ऊँचे स्वर से
दध्मौ = बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभिहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

ततः = तब (उसके बाद)
शङ्खा = शंख
च = और
भेर्यः = नगारे
च = तथा
पणव-आनक-गोमुखाः = ढोल, मृदंग (तथा) भेरी
सहसा-एव = एक साथ ही
अभि-हन्यन्त = बजने लगे
सः = वह
शब्दः = शब्द
तुमुलः = भयंकर
अभवत् = हुआ।

अयनानि - वीथयः ॥११॥
'अयनानि'—सेना की कतार

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

ततः = इसके अनन्तर (बाद)

श्वेतैः = सफेद

हयैः = घोड़ों से

युक्ते = युक्त

महति = उत्तम

स्यन्दने = रथ में

स्थितौ = बैठे हुए

माधवः = भगवान् कृष्ण

पांडवः च एव = और अर्जुन ने

दिव्यौ = अलौकिक

शङ्खौ = शंख

प्रदध्मतुः = बजाए ।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

हृषीकेशः = श्री कृष्ण ने

पांचजन्यम् = पांचजन्य नाम वाला शंख,

धनंजयः = अर्जुन ने

देवदत्त = देवदत्त नाम वाला शंख

भीम-कर्मा = भयानक कर्म करने वाले

वृकोदरः = भीमसेन ने

पौण्ड्रम् = पौण्ड्र नाम वाला

महा-शंखम् = बडा शंख

दध्मौ = बजाया ।

अनन्त विजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्रः = कुन्ती के पुत्र

राजा = राजा

युधिष्ठिरः = युधिष्ठिर ने

अनन्तविजयम् (शंखम्) = अनन्तविजय नाम का शंख

नकुलः सहदेवः च = और नकुल सहदेव ने

सुघोष = सुघोष (और)

मणिपुष्पकौ = मणिपुष्पक नाम वाले (शंख बजाए)

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
पाञ्चालश्च महेश्वासो द्रौपदेयाश्च पञ्च ये।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मु पृथक्पृथक् ॥१८॥

परम-इष्वासः = श्रेष्ठ धनुष वाले
काश्यः = काशी के राजा
च = और
महारथः = महारथी
शिखण्डी = शिखण्डी
च = तथा
धृष्टद्युम्नः = धृष्टद्युम्न
विराटः च = और विराट
अपराजितः = अजेय
सात्यकिः = सात्यकि
च = और
महा-इष्वासः = तीर चलाने में बहुत ही कुशल
पाञ्चालः च = पांचाल देश का राजा तथा
ये पञ्च द्रौपदेयाः च = यह द्रौपदी के पांच पुत्रों और
महाबाहुः = महापराक्रमी
सौभद्रः च = सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु ने भी
पृथक् पृथक् = अलग अलग (अपने)
शङ्खान् = शङ्खों को
दध्मुः = बजाया।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथ्वीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

सः = वह
तुमुलः = भयंकर
घोषः = शब्द
नभः च = आकाश और
पृथिवीम् च एव = पृथिवी को भी
वि-अनुनादयन् = गुंजाते हुए
धार्तराष्ट्राणाम् = धृतराष्ट्र के पुत्रों कौरवों के
हृदयानि = हृदयों को
वि-अ-दारयत् = चीरने लगा।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अथ = उस के बाद
शस्त्र-संपाते प्रवृत्ते = शस्त्र चलाने की तय्यारी के समय
कपिध्वजः = कपि-ध्वज
पाण्डवः = अर्जुन,
धार्तराष्ट्रान् = धृतराष्ट्र के पुत्रों को
व्यवस्थितान् = उपस्थित हुआ
दृष्ट्वा = देख कर
धनुः = धनुष उठा कर
तदा = उस समय
हृषीकेशम् = श्रीकृष्ण से
इदम् = ये
वाक्यम् = वचन
आह = बोले

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथंस्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

अर्जुन बोले

अच्युत = हे कृष्ण !
मे = मेरे
रथम् = रथ को
उभयोः = दोनों
सेनयोः = सेनाओं के
मध्ये = बीच में
स्थापय = खड़ा कर दीजिए।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

यावद् = ज़रा
अहम् = मैं
तान् = उन
योद्धु = युद्ध करने की
कामान् = कामना से
अवस्थितान् आ डटे हुए
एतान् = इन (वीरों को)
निर्-ईक्ष्ये = देख तो लूं (कि)
अस्मिन् = इस
रण-समुद्यमे = युद्ध में
मया = मुझे
कैः = किन किन के
सह साथ
योद्धव्यम् = लड़ना होगा।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

अहं = मै
तान् = उन
योत्स्यमानान् = लड़ने के लिए उद्यत वीरों को
अव-ईक्ष्ये = देखूंगा
ये एते = जो
अत्र = इस
युद्धे = युद्ध में
दुः-बुद्धेः = बुरी बुद्धि वाले
धार्तराष्ट्रस्य = धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन का
प्रि-चिकीर्षवः = हित करने की इच्छा से
समागताः = आये हैं ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

भारत = हे धृतराष्ट्र !
गुडाका-ईशेन = नींद को जीतने वाले अर्जुन के द्वारा
एवम्-उक्तः = इस प्रकार कहे हुए
हृषीक-ईशः = भगवान् कृष्ण,
उभयोः = दोनों
सेनयोः = सेनाओं के
मध्ये = बीच में
रथ-उत्तमम् = उत्तम रथ को
स्थापयित्वा = ठहरा कर
भीष्म-द्रोण- = भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य के
प्रमुखतः = सामने
सर्वेषाम् = और सभी
महीक्षिताम् = राजाओं के सामने
पार्थ = हे अर्जुन !
एतान् = इन
समवेतान् = इकट्ठे हुए
कुरून् = कौरवों को
पश्य = देख लो
इति = इस प्रकार
उवाच = बोले ।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥२७॥

तत्र = उस युद्ध में
पार्थः = अर्जुन ने
उभयोः = दोनों ही
सेनयोः = सेनाओं में
स्थितान् = स्थित हुए (ठहरे हुए)
पितॄन् = पिता के भाइयों (चाचों) को,
श्वशुरान् = ससुरों को
अथ = और
पितामहान् = दादाओं को,
आचार्यान् = गुरुओं को,
मातुलान् = मामों को,
भ्रातॄन् = भाइयों को,
पुत्रान् = पुत्रों को,
पौत्रान् = पोतों को,
सखीन् = साथियों को,
सुहृदः = शुद्ध हृदय वाले मित्रों को
अपश्यत् = देखा ।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टः सीदमानोऽब्रवीदिदम् ॥२८॥

तान् = उन
अवस्थितान् = उपस्थित
सर्वान् = सभी
बन्धून् = बांधवों को
समीक्ष्य = देख कर
सः = वह
कुन्ती-पुत्रः = अर्जुन
परया = अत्यन्त
कृपया = करुणा से
आविष्टः = भरा हुआ
सीदमानः = लड़खड़ाते हुए
इदम् = यह
अब्रवीत् = बोला ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमान्स्वजनान्कृष्ण युयुत्सून्समवस्थितान् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥२९॥

अर्जुन बोले

कृष्ण = हे कृष्ण !	मम = मेरे
सम-अवस्थितान् = सामने खड़े हुए	गात्राणि = अंग
इमान् = इन	सीदन्ति = ढीले पड़ रहे हैं
स्वजनान् = अपने बन्धुओं को	मुखम् च = और मुंह (भी)
युयुत्सून = लड़ने पर उतारू	परिशुष्यति = सूख रहा है।
दृष्ट्वा = देखकर	

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥३०॥

मे = मेरे	हस्तात् = हाथ से
शरीरे = शरीर में	संस्रते = छूट रहा है।
वेपथुः च = कंप भी	त्वक् च एव = और त्वचा में
संजायते = हो रहा है।	परिदह्यते = जलन हो रही है।
गाण्डीवम् = गांडीव नाम वाला धनुष	

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥३१॥

अवस्थातुम च = (मैं) खड़ा भी तो	केशव = हे कृष्ण।
न शक्नोमि = नहीं रह सकता हूं।	निमित्तानि = लक्षण भी
मे = मेरा	विपरीतानि = उल्टे ही
मनः च = मन भी	पश्यामि = देखता हूं।
भ्रमति इव = चक्कर में जैसे पड़ गया है।	

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥३२॥

स्व-जनम् = अपने बन्धुओं को
आहवे = युद्ध में
हत्वा = मार कर
श्रेयः च = कल्याण भी
न-अनुपश्यामि = नहीं देख पाता हूँ।

कृष्ण! = हे कृष्ण! (मैं)
विजयम् = विजय
न = नहीं
कांक्षे = चाहता हूँ।
राज्यम् = राज्य को
सुखानि च = तथा राज्य-सुखों को भी
न कांक्षे = नहीं चाहता हूँ।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥३३॥

गोविन्द = हे कृष्ण!
नः = हमें
राज्येन् = राज्य से क्या (लाभ)?
भोगैः = भोगों
जीवितेन वा = तथा जीवित रहने से भी
किम् = क्या लाभ

येषाम् = जिन (अपनों के)
अर्थे = लिए
नः = हमें
राज्यम् = राज्य
भोगाः = सांसारिक भोग
सुखानि च = और सुख
कांक्षितम् = अभीष्ट था।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥३४॥

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः स्यालाः संबन्धिनस्तथा ।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥३५॥
अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किमु महीकृते ।

ते = वे तो
इमे = ये
प्राणान् = प्राणों
धनानि च = और धन (की आशा) को
त्यक्त्वा = छोडकर
युद्धे = युद्ध में
अवस्थिताः = आ डटे हैं ।
आचार्याः = आचार्य,
पितरः = ताऊ, चाचे,
पुत्राः = लडके,
तथा एव च = और
पितामहाः = दादे,
मातुलाः = मामे,
श्वशुराः = ससुर,
पौत्राः = पोते,
स्यालाः = साले
तथा = और
संबन्धिनः = संबन्धि (जितने भी) है
मधुसूदनः = हे कृष्ण !
त्रैलोक्य = त्रिलोकी के
राजस्य = राज्य की प्राप्ति
हेतोः अपि = के लिए भी
एतान् = इनको
हन्तुं = मारना
न = नहीं
इच्छामि = चाहता हूँ ।
महीकृते = पृथ्वी (के राज्य) की (तो)
किं = बात ही क्या ?

अमी आचार्यादयः, इति विशेषबुद्ध्या बुद्धावारोप्यमाणा वधकर्मतयावश्यं पापदायिनीः । तथा भोगसुखादिदृष्टार्थमेतद्युद्धं क्रियते, इति बुद्ध्या क्रियमाणं युद्धेष्ववध्यहननादि, तदवश्यं पातककारीति पूर्वपक्षाभिप्रायः । अतएव 'स्वधर्ममात्रतयैव कर्माण्यनुतिष्ठ न विशेषधिया'— इत्युत्तरं दास्यते ॥३५॥

'ये मेरे पूज्य आचार्य आदि हैं'— ऐसी विशेष बुद्धि से निश्चय करके, इनका वध करना तो अवश्य ही पाप को ही प्रदान करेगा। इस के अतिरिक्त भोग, सुख आदि की लालसा से इस युद्ध-भूमि में अत्यन्त पूज्य तथा सर्वथा अवध्य, पूज्य गुरुओं का वध करना अवश्य पाप-कर्मों का ही हेतु बनेगा। यह पूर्व-पक्ष (प्रश्न-कर्त्ता) अर्जुन का अभिप्राय है। इसी आशय को लेकर भगवान् आगे उत्तर देंगे कि तुम स्वधर्म अर्थात् क्षत्रिय-धर्म मात्र को दृष्टि-पथ में रख कर युद्ध-कर्म करो। 'यह मेरे अपने बांधव हैं' इस विशेष बुद्धि को एकदम त्याग दो।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥३६॥
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ॥३७॥

जनार्दन = हे कृष्ण!
धार्तराष्ट्रान् = धृतराष्ट्र के पुत्रों को
निहत्य = मार कर (भी)
नः = हमें
का = क्या
प्रीति = प्रसन्नता
स्यात् = होगी।
एतान् = इन
आततायिनः = आततायि-जनों को भी
हत्वा = मार कर (तो)
अस्मान् = हमें
पापम् = पाप
एव = ही
आश्रयेत् = लगेगा।
माधव = हे कृष्ण!
तस्मात् = अतः
स्वबान्धवान् = अपने सगे
धार्तराष्ट्रान् = धृतराष्ट्र के पुत्रों को
हन्तुं = मारने के लिए
वयम् = हम
न अर्हाः = योग्य नहीं हैं।

निहत्येति, आततायिनां हनने पापमेव कर्तृ। अतोऽयमर्थः पापेन तावदेतेऽस्मच्छत्रवो हताः परतन्त्रीकृताः, तांश्च निहत्यास्मानपि पापमाश्रयेत्। पापमत्र लोभवशात् कुलक्षयादिदोषादर्शनम् ॥३६॥

'निहत्य' इस प्रकार कहने का अभिप्राय यह है कि आततायियों का वध करने में भी पाप-कर्म ही करना होगा । अतः यह अर्थ है कि ये (कौरव) पाप के हाथों (स्वयं ही) मारे जा चुके हैं । पाप का कारण (तो) लोभ है । तभी तो इन्हें कुल आदि का नाश करने में कोई बुराई दीख नही पडती ।

अत एव कुलक्षयादिधर्माणामुपक्षेपं करोति अर्जुनः 'स्वजनं हि कथं' इत्यादिना

इसी लिए 'अपने कुल के आत्मीय जनों को मैं कैसे मार पाऊंगा' इस प्रकार अगले श्लोकों में अर्जुन कुल-क्षय आदि धर्मों की बात छेडता है —

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहत चेतसः ॥३८॥
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ॥३९॥
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।

माधव = हे कृष्ण !
स्वजनम् = अपनों को
हत्वा = मार कर (हम)
कथम् हि = भला कैसे
सुखिनः = सुखी
स्याम = होंगे
यदि-अपि = यद्यपि
लोभ-उपहत चेतसः = लोभ से भ्रान्त चित वाले
एते = ये (कौरव)
कुल-क्षय-कृतम = कुल के नष्ट होने से उत्पन्न
दोषम् = दोष को
च = और
मित्र-द्रोहे च पातकम = मित्रों के साथ विरोध रूप पाप को
न = नहीं
पश्यन्ति = देखते हैं ।
जनार्दन ! = हे कृष्ण !
कुल-क्षय-कृतं-दोषम् = कुल के नाश से होने वाले दोष को
प्रपश्यद्भिः = देखते हुए यानी समझते हुए
अस्माभिः = हम लोग
अस्मात् = इस
पापात् = पाप से
निवर्तितुम् = हटने की बात
कथम् = क्यों
न = न
ज्ञेयम् = सोचें ।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ॥४०॥
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ॥४१॥

कुल-क्षये = कुल के नष्ट होने से
सनातनाः = सदा से चले आये हुए
कुलधर्माः = कुल परंपरा के धर्म
प्रणश्यन्ति = नष्ट हो जाते हैं।
धर्मे = धर्म के
नष्टे = समाप्त होने से
अधर्मः उत = पाप ही

कृत्स्नम् = पूरे
कुलम् = कुल को
अभिभवति = दबोच लेता है।
कृष्ण = हे कृष्ण !
अधर्म-अभिभवात् = अधर्म का बोल-बाला होने से
कुल-स्त्रियः = कुल की स्त्रियाँ
प्रदुष्यन्ति = दूषित हो जाती हैं।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥४२॥
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ॥४३॥
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।

वार्ष्णेय = हे कृष्ण !
स्त्रीषु = स्त्रियों के
दुष्टासु = दूषित होने पर
वर्णसंकरः वर्ण-(धर्म) गड़मड
जायते = हो जाता है।
संकरः = (धर्म का) गड़मड़
कुलघ्नानाम् = कुल-घात करने वालों को
कुलस्य च और कुल को
नरकाय एव = नरक में लेजाने के लिए ही

(भवन्ति) = होता है।
(क्योंकि)
लुप्त-पिंड-उदक-क्रियाः = पिंड और जल की क्रिया न पाने के कारण
एषाम् = इनके
पितरः = पितरों का
पतन्ति हि = पतन ही होता है।
वर्ण-संकर-कारकैः = वर्णों का संकर होने से उत्पन्न
एतैः = इन

दोषैः = दोषों से
कुलघ्नानाम् = कुल-घातियों के
शाश्वताः = सनातन
कुलधर्माः = कुल के धर्म
जाति-धर्माः च = और जाति के धर्म
उत्साद्यन्ते = नष्ट-भ्रष्ट कर दिये जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ॥४४॥
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।

जनार्दन = हे कृष्ण!
उत्सन्न-कुल-धर्माणाम् = नष्ट हुए कुल-धर्म वाले
मनुष्याणाम् = मनुष्यों को,
नियतम् = निश्चित रूप से
नरके = नरक में
वासः = रहना
भवति = होता है,
इति = ऐसा (हम ने)
अनुशुश्रुम = सुना है।

विशेषफलबुद्ध्या हन्तव्याविशेषबुद्ध्या च हननं महापातकमिति ॥

(हम सार्वभौम राज्य प्राप्त करेंगे) ऐसे विशेष फल की अपेक्षा से तथा अपनों को हम नहीं मारेंगे अन्यों को मारेंगे, ऐसी बुद्धि से मारना बहुत बड़ा पाप है।

एतदेव संक्षिप्याभिधातुं परितापातिशयसूचनायात्मगतमेवार्जुनो वचनमाह—

इसी बात को थोड़े शब्दों में बताने के लिए दुःख की अधिकता को प्रकट करता हुआ अर्जुन मन ही मन कहता है—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो = हाय रे !

बत = शोक है कि

वयम = हम (कितना)

महत्-पापम् = बडा पाप

कर्तुम् = करने पर

व्यवसिता = तुले हैं;

यत् = जो

राज्य-सुख-लोभेन = राज्य-सुख-के लोभ से

स्व-जनम् = अपने बन्धुजनों को

हन्तुम् = मारने पर

उद्यता = उतारू हो गये।

वयमिति— कौरवपाण्डवभेदभिन्नाः सर्व एवेत्यर्थः ॥४५॥

क्या कौरव क्या पांडव हम सभी तो (युद्ध करने पर तुले हैं।)

एवं सर्वेष्वविवेकिषु मम विवेकिनः किमुचितम्, उचितं तावद्युद्धान्निवर्तनम्, एतत्तूचिततरमित्याह—

इन सभी विचार-हीन लोगों के बीच मुझ विवेकी को क्या करना चाहिए। युद्ध से पीछे हटना ही तो उचित है। यही सुझाव ठीक है। ऐसा कहते हैं—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि = यदि

अप्रतीकारम् = किसी प्रकार की प्रति-क्रिया (मुकाबला) न करने वाले

माम् = मुझ

अ-शस्त्रम् = निहत्थे को

शस्त्र-पाणयः = शस्त्र-धारी

धार्तराष्ट्रः = कौरव,

रणे = युद्ध में

हन्यु = मारेंगे

तत = तो वही

मे = मेरे लिए

क्षेमतरम् = अधिक कल्याण (की बात)

भवेत् = होगी।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय बोला

संख्ये युद्ध-भूमि में

शोक-संविग्न-मानसः — शोक से व्याकुल मन वाला

अर्जुनः — अर्जुन,

एवम — इस प्रकार

उक्त्वा — कह कर

सशरम् — बाण-सहित

चापम् — धनुष को

विसृज्य — पटक कर

रथ-उपस्थे — रथ के पिछले भाग में

उप-आविशत — आ बैठा।

अत्र संग्रहश्लोकः

विद्याविद्योभयाघातसंघट्टविवशीकृतः ।
युक्त्या द्वयमपि त्यक्त्वा निर्विवेको भवेन्मुनिः ॥१॥

इस श्लोक में अभिनवगुप्त जी, पहिली अध्याय का वास्तविक अर्थ संक्षेप में कहते हैं—

विद्या और अविद्या दोनों के चक्कर में उलझा हुआ साधक विवश बनकर, युक्ति-पूर्वक दोनों से न्यारा होकर विवेक अर्थात् विकल्पों तथा संकल्पों से मुक्त होकर निर्विकल्प धाम में प्रविष्ट होता है।

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (विषाद-योगो नाम) प्रथमोऽध्यायः ॥१॥ इति शिवम्

श्री महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद द्वारा रचित श्रीमद्भगवद्गीतार्थ संग्रह नामक ग्रंथ का विषादयोग नाम वाला अध्याय समाप्त हुआ।

'धर्मक्षेत्रे' इत्यतः प्रभृति अध्यायान्ता व्याख्या युगपदेव संक्षिप्यते— तत्र 'धर्मक्षेत्रे' इत्यादि 'किमकुर्वत सञ्जय'-इत्यन्तं धृतराष्ट्रप्रश्नचोदितसंजयवाक्यानि 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं' इत्यादीनि, 'तुमुलो व्यनुनादयन्' इत्यन्तानि परस्परवधाध्यवसायसंरब्धसकल-

कुरुपाण्डवसैन्यसमागतघोरसमरसंरम्भोद्योगसूचकत्वात्कर्मघोरत्वप्रतिपादनतात्पर्याणि । तथा— 'अथव्यवस्थितान्' इत्युपक्रम्य संजयोक्तान्येवार्जुनवाक्यानि सैन्यनिरूपणोपक्रमानि 'सेनयोरुभयोर्मध्ये'— इत्यादीनि सुबोधानि । ततः संजयोक्तान्येव हृषीकेशवाक्यान्यपि स्फुटान्येव । ततः 'तत्रापश्यत्' इत्यादि 'सीदमानोऽब्रवीत्' इत्यन्तमर्जुनस्य मातामहादिबन्धुवर्गदर्शनक्रियात्मकं संजयवाक्यमपि व्यक्तार्थम । ततः प्रस्तुतोपदेशप्रतिषेधतत्त्वाज्ञानसमुद्भूतमातामहादिबन्धुवधपर्यवसायिसंग्रामकर्म विचिकित्सस्य करुणावेशविशस्यार्जुनस्याधर्ममेवं धर्मत्वेन व्यपदिशतो 'दृष्ट्वेमान्स्वजनान्' इत्यादिनि, 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' इत्यन्तानि मनुष्यस्वभावसुलभमिथ्याज्ञान प्रतिपादकवाक्यानि स्फुटान्येव । ततश्च, 'एवमुक्त्वा' इत्यादिसंजयवाक्यमपि गतार्थमेवेति तात्पर्यतः प्रथमोऽध्यायो व्याख्यातो न तु प्रातिपद्येनेति शिवम् ।

ॐ

द्वितीयोऽध्यायः।

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
सीदमानमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय बोला।

तथा = इस प्रकार
कृपया-आविष्टम् = दया से भर आए हुए
अश्रु- पुर्ण-आकुल-ईक्षणम् = आंसुओं से छलछलाते व्याकुल नेत्रों वाले
सीदमानम् = उदास
तम = उस (अर्जुन) से

मधुसूदनः = भगवान् कृष्ण
ईदम् = ये
वाक्यम् = वचन
उवाच = बोले।

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

भगवान् बोले

अर्जुन = हे अर्जुन !
त्वा = तुम्हें
विषमे = युद्ध (के इस संकट) में
अन् आर्य-जुष्टम् = आर्यों के बदले अनार्यों से सेवित
अ-स्वर्ग्यम् = (स्वर्ग के बदले) नरक में ले जाने वाली
अकीर्ति-करम् = (यश के बदले) अपयश को देने वाली
कश्मलम् = कायरता,
कुतः = क्यों कर (कहां से)
सम्-उपस्थितम् = प्राप्त हुई है ?

आदौ लोक व्यवहाराश्रयेणैव श्रीभगवानर्जुनं प्रतिबोधयति, क्रमात्तु ज्ञानं करिष्यतीति, अतः 'अनार्यजुष्टम्' इत्याह ॥२॥

भगवान्, पहिले लोक-व्यवहार को सामने रख कर अर्जुन को समझाते हैं ताकि उस के बाद, ज्ञान का उपदेश करें। इसी लिए 'अनार्य जुष्टम' (आर्यों के बदले अनार्यों द्वारा सेवित) ऐसा कहा।

क्लैव्यादिभिर्निर्भर्त्सनमभिदधदधर्मं तव [1]धर्माभिमानोऽयमित्यादि दर्शयति।

(नपुंसकों की सी) कायरता पर (अर्जुन को) झिड़कते हुए भगवान् कृष्ण यह जतलाते हैं कि जिस पर तुझे धर्म का अभिमान है वह तो (वास्तव में) अधर्म ही है।

मा क्लैव्यं गच्छ कौन्तेय नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

कौन्तेय = हे अर्जुन !
क्लैव्यं मा गच्छ = कायर न बन,
एतत् = यह तो
त्वयि = तुझे
न उपपद्यते = शोभा नहीं देता।
परंतप = हे शत्रु को तपाने वाले !
क्षुद्रम् = नीचों की सी
हृदय-दौर्बल्यम् = हृदय की दुर्बलता को
त्यक्त्वा = त्याग कर
उत्तिष्ठ = (युद्ध के लिए) उठ खड़ा हो।

१. धर्माभिमानो मिथ्यते क० पाठः

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोला

मधुसूदन = हे कृष्ण !
अहम् = मैं
संख्ये = युद्ध-भूमि में
कथम् = कैसे
भीष्मम् = भीष्मपितामह
द्रोणम् च = और द्रोणाचार्य के प्रति
इषुभिः = तीरों से
प्रति-योत्स्यामि = लड़ूंगा ।
अरि-सूदन = हे शत्रुओं को मारने वाले कृष्ण !
(तौ हि) = वे दोनों ही तो
पूजा अर्हौ = पूजा के योग्य हैं ।

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयश्चर्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
न त्वर्थकामस्तु गुरूनिहत्य
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

महा-अनुभावान् = श्रेष्ठ
गुरून् = गुरुजनों को
अ-हत्वा = न मार कर
इह-लोके = इस संसार में
भैक्ष्यम् = भिक्षा से अर्जन किया हुआ अन्न ही
चर्तुम् हि = खाना
श्रेयः = ठीक है ।
अर्थ-कामः = धन आदि के लाभ के इच्छुक
गुरून् = (अपने) बड़ों को
निहत्य = मार कर (मैं)
रुधिर-प्रदिग्धान् = खून से लथपथ
भोगान् = भोगों का
न तु भुञ्जीय = सेवन कभी नहीं करूंगा ।

'भीष्मं द्रोणं च' इत्यादिना, 'भुञ्जीय भोगान्' इत्यनेन च कर्मविशेषानुसन्धानं फलविशेषानुसंधानं च हेयतया पूर्वपक्षे सूचयति ॥५॥

"मैं भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्य आदि से कैसे युद्ध करूंगा" इस श्लोक से तथा "मैं लहू से भरे हुए भोगों को नहीं भोगूंगा" इस पांचवे श्लोक से अर्जुन पूर्वपक्ष में, कर्म-विशेष और फल-विशेष को हेय ही बतलाता है। तात्पर्य यह है— कर्म=आचार्यों का वध करना भी त्याज्य है और फल = खून से अवसिक्त भोगों को भोगना भी त्याज्य ही है। इस कथन को जतलाता है।

[1]नैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्ते नः स्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

एतत् = यह भी तो (हम)
विद्मः न = नहीं जानते हैं (कि)
नः = हम (दो) में से
कतरत् = किसका पलड़ा
गरीयः = भारी है।
यद् वा (वयम्) = आया क्या हम
जयेम = (उन्हें) जीतेंगे
यदि वा = अथवा
नः = हम को ही (वे)
जयेयुः = जीत लेंगे।

यान् एव = जिन को
हत्वा (वयं) = मार कर हम
न जिजीविषामः = जीना भी नहीं चाहेंगे
ते एव = वे ही
धार्तराष्ट्राः = कौरव
नः = हमारे
प्रमुखे = सामने
स्थिताः = खड़े हैं।

नैतद्विद्म:— इत्यनेन च कर्मविशेषानुसंधानमाह। [2]निरभिसंधानं तावत्कर्म नोपपद्यते। न च पराजयमभिसंधाय युद्धे प्रवर्तते जयोऽपि चायमनर्थ एव। तदाह 'अहत्वा गुरून् भैक्ष्यमपि चर्तुं श्रेयः'। एतच्च निश्चेतुमशक्यम्, किं जयं काङ्क्षामः किं वा पराजयम्, जयोऽपि बन्धूनां विनाशात्।६॥

इस श्लोक में यह कहा है कि कर्म-विशेष पर ध्यान देना चाहिए। बिना सोचे समझे तो कोई भी कर्म करना उचित नहीं। न हार का विचार करके कोई (व्यक्ति) युद्ध

---

१. न चैतद्विद्म इति ग० पाठ:। २. निरनुसंधानमिति ख० पाठ:

करने के लिए उतारू होता है। यहां तो विजय-प्राप्त करना भी अनर्थ का ही कारण है। तभी तो अर्जुन कहता है कि गुरुओं को न मार कर भिक्षा का अन्न खाना ही ठीक है। हम इतना भी निश्चय नहीं कर पाते कि हमें युद्ध जीतने की इच्छा करनी चाहिए या हारने की। जीत से भी बन्धुओं का मारना ही होगा।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

कार्पण्य-दोष-उपहत-स्वभावः = कायरता के दोष से दबे हुए स्वभाव वाला,
धर्म-संमूढ-चेताः = धर्म से मोहित अन्तःकरण वाला (मैं)
त्वाम् = आप से
पृच्छामि = पूछता हूँ (कि)
यत् = जो (कुछ)
निश्चितम् = सचमुच
श्रेयः = अधिक हितकर
स्यात् = हो
तत् = वह
मे = मुझे
ब्रूहि = कहिए
अहम् = मैं
ते = आपका
शिष्यः = शिष्य (जो) ठहरा।
त्वाम् = आप की
प्रपन्नम् = शरण आये हुए
माम् = मुझ को
शाधि = शिक्षा दीजिए।

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यः शोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

(अहम्) = मैं
(तम्) = उसे
हि = तो
न = नहीं
प्रपश्यामि = देख पा रहा हूँ
यः (मया) = जो (मेरे द्वारा)

भूमौ = धरती पर
सुराणाम् = देवताओं का
अ-सपत्नम् = निष्कंटक
ऋद्धम् = वैभव-पूर्ण
राज्यम् = साम्राज्य
अवाप्य अपि = पाकर भी
इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों को
उद्-शोषणम् = सुखाने वाले
मम = मेरे
शोकम् = शोक को
अपनुद्यात् = दूर कर सके।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्यामीति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूवह ॥९॥

संजय बोला

परंतप = हे शत्रुओं को तपाने वाले धृतराष्ट्र!
गुडाका-ईशः = नींद को जीतने वाला अर्जुन,
हृषीक्-ईशम् = इन्द्रियों के स्वामी भगवान् कृष्ण से
एवम् = इस प्रकार
उक्त्वा = कह कर
गोविन्दम् = भगवान् कृष्ण से
न योत्स्यामि = 'मैं युद्ध नहीं करूंगा'
इति ह = ऐसे स्पष्ट
उक्त्वा = कह कर
तूष्णीम् = चुप
बभूव = हो गया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये सीदमानमिदं वचः ॥१०॥

भारत = हे धृतराष्ट्र!
हृषीक्-ईशः = श्री कृष्ण ने
उभयोः सेनयोः मध्ये = दोनों सेनाओं के बीच में
सीदमानम् = ठिठके हुए
तम् = उस (अर्जुन से)
प्रहसन् इव = हंसते हुए
इदम् = यह
वचः = वचन
उवाच = कहा।

सेनयोरुभयोर्मध्ये— इत्यनेनेदं[१] सूचयति— संशयाविष्टोऽर्जुनो नैकपक्षेण युद्धान्निवृत्तो यत एवमाह स्म,— 'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' इति ॥१०॥

यह वाक्य इस अभिप्राय का सूचक है कि असमञ्जस में पड़ा हुआ अर्जुन युद्ध से बिल्कुल ही किनारा नहीं करता है जभी तो कहता है— 'आप मुझे शिक्षा दीजिए' मैं आप की शरण आया हूं।

अत उभयोरपि ज्ञानाज्ञानयोर्मध्यगः श्रीभगवतानुशिष्यते

ज्ञान और अज्ञान दोनों के बीचों बीच ठिठके हुए अर्जुन को भगवान् कृष्ण, उपदेश करते हैं —

श्री भगवानुवाच

त्वं मानुष्येणोपहतान्तरात्मा
विषादमोहाभिभवाद्विसंज्ञः[२] ।
कृपागृहीतः समवेक्ष्य बन्धू-
नभिप्रपन्नान्मुखमन्तकस्य ॥११॥

श्रीभगवान् बोले

मानुष्येण = मनुष्य होने के नाते
उपहत-अन्तरात्मा = दबोचे गये मनुष्य भाव से

विषाद-मोह-अभिभवात् = दुःख तथा मोह के वश में आकर तुम्हारी अन्तरात्मा पर) चोट की है। (जभी तो)

त्वम् = तुम

विसंज्ञः = निष्क्रिय हो गए हो।

अन्तकस्य = मृत्यु के

मुखम् = मुख में

अभिप्रपन्नान् = प्रविष्ट हुए

बन्धून् बान्धवों को

सम-अवेक्ष्य = देख कर

(त्वम्) = तुम

कृपा-गृहीतः = कृपा से भर आए हो।

---

१. इत्यादिनेति क० पाठः २. विगतसम्यग्ज्ञानोऽसि, कुतो हेतोः— मानुष्येण संशयविपर्ययबहुलेन 'उपहतान्तरात्मा'—प्रत्यभिज्ञाभावात्तिरस्कृतसत्यात्मस्वरूपः; वर्तसे इति शेषः।

मानुष्यं— मनुष्यभावः। अन्तकमुखं स्वयमेते प्रविष्टा इति तव को बाधः ॥११॥

मनुष्यता— जीवभाव कहलाता है। ये कौरव तो अपनी करनी से स्वयं ही मृत्यु के मुंह में जा चुके हैं। अतः तुझे युद्ध करने में अड़चन ही क्या है?

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति [1]पण्डिताः ॥१२॥

अशोच्यान् = न शोक करने योग्य व्यक्तियों के लिए

अनु-शोचन् = बार बार शोक करते हुए

त्वम् = तुम

प्राज्ञवत् = ज्ञानवानों की जैसी

न अभिभाषसे = बात नहीं करते हो।

पंडिताः (तु) = पंडित तो

गत-असून् = जिनके प्राण चले गए हैं (मरे हुओं)

अगत-असून् = और जिनके प्राण अभी हैं (जीवित व्यक्तियों के लिऐ)

न अनुशोचन्ति = शोक नहीं करते हैं।

[2]शोचितुमशक्यं कलेवरं— सदा नश्वरत्वात्, अशोचनार्हमात्मानं च शोचसि। न कश्चित् गतासुः— मृतः, अगतासुः— जीवन्वा शोच्योऽस्ति। तथाहि—आत्मा तावदविनाशी नानाशरीरेषु संचरतः कास्य शोच्यता। न च देहान्तरसंचारे एव शोच्यता। एवं हि यौवनादावपि शोच्यता भवेत् ॥१२॥

शरीर तो सदा नश्वर है, अतः इस पर शोक करना बेकार है। आत्मा तो शोक करने योग्य है ही नहीं, उस पर तुम शोक करते हो। कोई भी मरा हुआ या जीवित व्यक्ति शोक का आस्पद नहीं है। इस कथन को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं — आत्मा तो अविनाशी है। अनेक शरीरों मे घूमने वाले इस आत्मा के लिए शोक ही क्या? और न ही भिन्न भिन्न शरीरों में प्रविष्ट होना शोक की बात है। यदि यह शोक की बात होती तो फिर यौवन आदि के ढलकने पर भी शोक किया जाता।

एवमर्थद्वयमाह

इन्हीं दो प्रकार के अर्थों को लेकर अगले श्लोक कहते हैं —

---

१. विज्ञातारपार्थाः इत्यर्थः।

२. 'शकि लिङ् च' 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इत्यनुशासनात् तन्त्रेणार्थद्वयमाह।

न ह्येवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमितः परम् ॥१३॥

न हि एव = (ऐसी बात) नहीं कि
अहम् = मैं
जातु न आसम् = कभी था ही नहीं (या)
न त्वम् = तुम भी
(न आसीः) = नहीं थे
न च (इमे) = और ये
जन-अधिपाः = राजे
(न आसन्) = नहीं थे।
न च एव = न तो (ऐसी बात है कि)
वयम = हम
सर्वे = सभी
इतः = इस से
परम् = आगे
भविष्यामः न = होंगे ही नहीं।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१४॥

यथा = जैसे
देहिनः = जीवात्मा की
अस्मिन् = इस
देहे = शरीर में
कौमारम् = कुमार अवस्था
यौवनम = युवा अवस्था (और)
जरा = वृद्धा अवस्था (देखी जाती है)
तथा = वैसे (ही)
देहान्तर-प्राप्तिः = अन्य शरीर की प्राप्ति भी (मरने के बाद) होती है।
धीरः = धीरज वाला व्यक्ति
तत्र = इस (परिवर्तन) पर
न मुह्यति = मोह में नहीं पडता।

अहं हि नैव नासम् अपितु आसम्। एवं त्वं अमी च राजानः ॥१३॥

क्या मैं (पूर्व-जन्म में) नहीं था? था तो। इसी तरह तुम तथा ये सभी राजे भी थे ही।

आकारान्तरे च सति यदि शोच्यता, तर्हि कौमारात् यौवनावाप्तौ किमिति न शोच्यता । यो धीरः, स न शोचति । धैर्यं च एतच्छरीरेऽपि यस्यास्था नास्ति, तेन सुकरम । अतस्त्वं धैर्यमन्विच्छ ॥१४॥

यदि शरीर के बदलने पर ही शोक करना उचित होता तो बालकपने के बाद यौवन की प्राप्ति पर शोक क्यों नही करते ? जो धीर है वह शोक नही करता है ; धीरज होना भी उसी के लिए सुलभ है जिसे इस (अपने) शरीर का भी भरोसा न हो । अतः तुम भी धीरज धरो ।

अधीरास्तु मात्राशब्दवाच्यैरर्थैर्ये कृताः स्पर्शा इन्द्रियद्वारेणात्मना संबन्धाः तत्कृता याः शीतोष्णसुखदुःखाद्यावस्था अनित्याः, तास्वपि शोचन्ति । न त्वेवं धीरा इत्याह—

अधीर व्यक्ति तो 'मात्रा' शब्द से कहे गये अर्थों — नील, पीत आदि पदार्थों के द्वारा उत्पन्न जो स्पर्श हैं (या यूं कहें कि) इन्द्रियों के द्वारा जीवात्मा से संबन्ध जोड़ कर जो स्पर्श सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख आदि अनित्य अवस्थाओं को उत्पन्न करता है उन पर भी शोक करते हैं । धैर्यवान् तो ऐसा नही करता । यही कहते हैं —

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१५॥

शीत-उष्ण-सुख-दुःख-दा = सर्दी, गर्मी और सुख दुःख को देने वाले

मात्रा-स्पर्शाः = इन्द्रिय से विषयों के संयोग

तु = तो

आगम-अपायिनः = आने जाने वाले (तथा)

अनित्याः = नश्वर हैं ।

(अतः) = इस लिए

भारत = हे अर्जुन !

तान् = उनको तू

तितीक्षस्व = सहन कर ।

अथवा— मात्राभिः— इन्द्रियैर्येषां न तु साक्षात्परमात्मना । आगमः— उत्पत्तिः अपायो— विनाशः । एतद्युक्तांस्तितिक्षस्व - सहस्व ॥१५॥

इस श्लोक का दूसरा अर्थ यह भी है कि केवल इन्द्रियों के साथ ही जिन (शीत, उष्ण आदि अवस्थाओं) का संबन्ध है, पर साक्षात् परमात्मा के साथ नहीं उन्हें स्पर्श-मात्र कहते हैं। 'आगम' उत्पत्ति को कहते हैं और 'अपाय' विनाश को। इन्हीं से युक्त अवस्थाओं को सहन कर ले।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१६॥

पुरुष-ऋषभ = हे पुरुष-श्रेष्ठ!
सम-दुःख-सुखम् = दुःख-सुख को समान समझने वाले
यम् = जिस
धीरम् = धीर
पुरुषम् = पुरुष
हि = को
एते = यह (इन्द्रियों के विषय)
व्यथयन्ति = अस्त-व्यस्त
न = नहीं कर पाते
सः = वह
अमृतत्वाय = मोक्ष प्राप्ति के
कल्पते = योग्य है।

ननु यत एवागमापायिन एते सर्वे दशाविशेषास्तत एव शोच्यन्ते ? नैवम्। यदि हि, कोऽयमागमो नाम ? उत्पत्तिरिति चेत्। सापि का ? असत आत्मलाभः सा, इति त्वसत्। असत्स्वभावता हि निःस्वभावता निरात्मता। निरात्मा च निःस्वभावः कथं स स्वभावीकर्तुं शक्यः; अनीलं न हि नीलीकर्तुं शक्यम्—स्वभावान्तरापत्तेर्दृष्टत्वात्। तथा च शास्त्रम्

'नहि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः'।

इति। अथ सत एवात्मलाभ उत्पत्तिः सदा लब्धात्मनोऽस्य जात्वपि अनभावात् नित्यत्वे-त्यागमे का शोच्यता। एवमपायोऽपि सतोऽसतो वा। असतस्तावदसत्त्वेव। सत्यस्वभाव-स्यापि कथमसत्तास्वभावः। द्वितीये क्षणेऽसावसत्स्वभाव— इति चेत्, आद्येऽपि तथा स्यादिति न कश्चिद्भावः स्यात्; स्वभावस्यात्यागात्। अथ मुद्गरादिनास्य नाशः क्रियते।

स यदि व्यतिरिक्त, भावस्य किं वृत्तम्? न दृश्यते— इति चेत्, मा नाम् दर्शि भाव:। न त्वन्यथाभूतः पटावृत इव। अव्यतिरिक्तस्तु नासावित्युक्तम्। तदेतत्संक्षिप्याह—

जो यह कहा कि ये सभी (सर्दी, गर्मी, सुख, दु:ख) आदि दशायें आने जाने वाली हैं, इसी लिए शोक होता है। ऐसी बात नही है। ऐसा होने पर प्रश्न उठता है कि उत्पत्ति को आगम कहते है। वह उत्पत्ति क्या है? जो वस्तु पहले नही थी, उस का प्रकट होना ही उत्पत्ति है। यह बात तो निर्मूल है। असत का लक्षण है स्वभाव से रहित, अस्तित्व के बिना होना। अब जो स्वभाव तथा स्वरूप के बिना रूप हो उसे स्वभाव कैसे बताया जा सके? भला जो नीला नही है वह नीला कैसे बनाया जा सकता है। यदि अब किसी उपाधि से उसे नीला बनायें वह अन्य के संमिश्रण से 'दुष्ट' अर्थात् संमिश्रित ही कहलायेगा। शास्त्र भी तो कहता है —

जैसे सूर्य की गरमी उस से भिन्न नही हो सकती है वैसे ही पदार्थों का अपना स्वभाव नही बदलता है।

अब यदि यह कहें कि सत का उत्पन्न होना ही उत्पत्ति है। तब तो इस आत्मा ने अपनी सत्यरूपता को सदा के लिए प्राप्त किया है तथा इस का अभाव होना अर्थात् मरना कभी भी संभव नही है। अत: इस की नित्यता सिद्ध ही तो है। तब फिर इस के उत्पन्न होने पर शोक ही क्या है। इसी भांति इस आत्मा का अपाय — मरना सत्य है या असत्य है। इस कथन की छान-बीन यूं करते हैं— असत् (न होने वाला) तो असत् है ही। जो (आत्मा) सत् स्वरूप है वह असत् कैसे हो सकता है। अब यदि यह कहें कि दूसरे क्षण अर्थात् मरने पर इस का स्वरूप असत् बनता है — तब फिर वह असत् रूपता, प्रथम क्षण यानी जन्म के समय भी वैसा असत् रूप क्यों नही होगा क्योंकि स्वभाव तो किसी का बदलता नही है। यदि यह कहें कि मुद्गर आदि नष्टकारी पदार्थों के आ पड़ने पर इस सद्वस्तु का आकार नष्ट होता है। यदि वह नष्ट हुआ, शरीर आदि पदार्थ इस आत्मा से भिन्न है तो भाव अर्थात् आत्मा का क्या बिगड़ा। नष्ट होने पर यह आत्मा नही दिखाई देता है ऐसा कहो तो न सही इस से आत्मा का अभाव तो नही माना जायेगा, क्योंकि वस्त्र से घड़े के ढक जाने की भांति यह आत्मा कभी भी शरीर से आवृत्त तथा आच्छादित नहीं हो सकता। इस नष्ट होने वाले शरीर के साथ इस आत्मा का तादात्म्य हो ही नहीं सकता। अत: शरीर को छोडने के समय इस आत्मा का नष्ट होना सिद्ध नही होता। अगला श्लोक इसी भाव को नपे-तुले शब्दों में कहता है —

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१७॥

असतः = असत् (वस्तु) का तो
भावः = अस्तित्व
विद्यते = है ही
न = नहीं
सतः च = और सत-वस्तु का (तो)
अभावः = अभाव
न विद्यते = होता नहीं

अनयोः = (वास्तव में) इन
उभयोः = दोनों का
अपि = तो
अन्तः = तत्त्व
तत्त्वदर्शिभिः = ज्ञानी पुरुषों ने ही
दृष्टः = अनुभव किया है।

अथ च लोकवृत्तेनेदमाह— असतो—नित्यविनाशिनः शरीरस्य न भावः—— अनवरतमवस्थाभिः परिणामित्वात्। नित्यसतश्च—परमात्मनो नास्ति कदाचिद्विनाशोऽपरिणामधर्मत्वात्। तथा च वेदः

'अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा इति।
(बृ० आ० ४।५।१४।)

अनयोः सदसतोरन्तः— प्रतिष्ठापदं यत्रानयोर्विश्रान्तिः ॥१७॥

दूसरी बात यह है कि लोक—परम्परा की दृष्टि से इस श्लोक का अर्थ यह है—असत् सदा विनाशी शरीर की तो कोई सत्ता है ही नहीं क्योंकि प्रतिक्षण अन्यान्य अवस्थाओं में परिवर्तित होने के कारण यह शरीर परिणाम धर्म वाला है और इधर नित्य सद्रूप आत्मा का कभी भी विनाश नहीं होता। कारण यह कि वह (आत्मा) अवस्थाओं के द्वारा रूपांतरित न होने के कारण सदा अपरिणाम धर्म वाला है। यही बात वेद में भी कही है—

हे प्रिय शिष्य! आत्मा तो सत्यतः सदा अविनाशी है और अपरिछिन्न है—इस का विच्छेद नहीं होता।

इन दोनों का अन्त—मूलभूत आश्रय—जहां इन दोनों की विश्रांति होती है या जहां ये दोनों सत् और असत् लय हो जाते हैं। (इसी मूल-भूत आश्रय

का साक्षात्कार तत्त्वदर्शियों ने किया है ।)

यस्तत्त्वदर्शिभिर्दृष्टः स खलु नित्योऽनित्यो वा— इत्याशङ्क्याह—

जिस आत्मा का अनुभव तत्त्वदर्शियों ने किया है वह नित्य है या अनित्य इस शंका को (अगले श्लोक मे) मिटाते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१८॥

तत् तु = उसे तो
अविनाशी = नाश-रहित
विद्धि = जानो
येन = जिस ने
इदम् = यह
सर्वम् = अखिल (ब्रह्मांड)
ततम = व्याप्त किया है ।

(यतः) = क्योंकि
अस्य = इस
अव्ययस्य = न मिटने वाले का
विनाशम् = नाश तो,
कश्चित् = कोई भी
कर्तुम् = कर
न अर्हति = नही सकता ।

तुश्चार्थे । आत्मा च अविनाशी ॥१८॥

(ऊपर के श्लोक में) 'तु' शब्द 'और' के अर्थ में लागू हुआ है । (अतः शरीर सदा नष्ट होने वाला है) और आत्मा अमर है ।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
विनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१६॥

नित्यस्य = नित्य-स्वरूप
शरीरिणः = जीवात्मा के
इमे = ये
देहा = शरीर तो
अन्तवन्तः = अन्त वाले

विनाशिनः = प्रतिक्षण नष्ट होने वाले
उक्ताः = कहे हैं ।
तस्मात् = इस लिए
भारत = हे भारतवंशी अर्जुन !
(तुम)
युध्यस्व = युद्ध करो ।

निरुपाख्यताकाले स्थूलविनाशयोगिनः तदन्यथानुपपत्तेरेव च विनाशिनः— प्रतिक्षणमवस्थान्तरभागिनः।

यदुक्तं— 'अन्ते पुराणतां दृष्ट्वा प्रतिक्षणं नवत्वहानिरनुमीयते।'

इति। मुनिनापि

[1]कलानां पृथगर्थानां प्रतिभेदः क्षणे क्षणे।
वर्तते सर्वभावेषु सौक्ष्मात्तु न विभाव्यते॥

इति। पृथगर्थानामिति— पृथगर्थक्रियाकारित्वादिति यावद्। देहः अन्तवन्तो विनाशिनश्च। आत्मा तु नित्यः, यतोऽप्रमेयः। प्रमेयस्य तु जडस्य परिणामित्वं न त्वजडस्य चिदेकरूपस्य,[2] स्वभावान्तरायोगात्। एवं देहा नित्यमन्तवन्तः, इति शोचितुमशक्याः। आत्मा नित्यमविनाशी, तेन न शोचनार्हः। तन्त्रेणायमेकः कृत्यप्रत्ययो द्वयोरर्थयोर्मुनिना दर्शितः 'अशोच्यान्', इति॥१६॥

इन शरीरों का, मृत्यु के समय तो स्थूल विनाश— समूल विनाश होता है और इनका प्रतिक्षण अनेक अवस्थाओं से रूपान्तरित होने के कारण सूक्ष्म-विनाश होता है। भाव यह है— इस श्लोक में अन्तवन्त और विनाश ये दो शब्द दीखने में तो एक जैसे प्रतीत होते हैं किन्तु स्थूल— विनाश मृत्यु के अर्थ में लागू होता है और विनाश, प्रतिक्षण सूक्ष्म विनाश के अर्थ में प्रयुक्त होता है— कहा भी है—

(बुढ़ापे में) शरीर को पुराना (जर्जरित) देख कर अनुमान करना पड़ता है कि यह क्षण-क्षण अपने नयेपन को खो बैठता है।

मुनिवर (व्यास जी) भी कहते हैं—

भिन्न-भिन्न क्रियाओं की उद्भावना करने वाली कलाएँ अर्थात् अवस्थाएँ तो सब दशाओं में रूप बदलती रहती हैं; पर ऐसा सूक्ष्म रूप से होने के कारण जान नहीं पड़ता।

'पृथगर्थानाम्' शब्द का तात्पर्य भिन्न क्रिया से ही है— भिन्न पदार्थ से नहीं।

---

१. महाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मेषु जनकसुलभासंवादे
३२० अध्याये १२
श्लोकोऽयम्। कलानां— परिणामवतीनां रूपादिप्रकाशार्थानां। प्रतिभेदः— रूपभेदः। सौक्ष्म्यमेव विवृतं द्वितीयस्मिन् श्लोके :

'न चैषामत्ययो राजंल्लक्ष्यते प्रभवो न च।
अवस्थायामवस्थायां दीपस्येवार्चिषो गतिः॥' इति।

२. 'परिणामोऽचेतनस्य चेतनस्य न युज्यते' इति श्रीकिरणे उक्तत्वात्।

शरीर सदा अन्त वाले और विनाशी हैं पर आत्मा नित्य है और अपरिमित है। प्रमेय जो जड पदार्थ है उसी का परिणाम— परिवर्तन होता है किन्तु स्वरूप के परिवर्तित न होने के कारण अजडचिद् रूप आत्मा का परिणाम नहीं होता।

इसी भांति शरीर सदा विनाशी है, अत: शोक करने के लिए अशक्य है। (इसके उलट) आत्मा नित्य अविनाशी है अत: वह भी शोक करने के योग्य नहीं है। भगवान् व्यास ने इस श्लोक में व्याकरण के आधार पर 'अशोच्यान्' शब्द लिखकर कृत्य-प्रत्यय से सूचित करने वाले ये दो अर्थ (सदा विनाशी होने से अधिक समय तक इस शरीर के लिए शोक नहीं किया जा सकता और आत्मा सदा अविनाशी होने के कारण शोक करने के योग्य नहीं है) एक ही आवृत्ति से प्रकट किये हैं।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥२०॥

य: = जो
एनम् = इस आत्मा को
हन्तारम् = मारने वाला
वेत्ति = जानता है
च = और
य: = जो
एनम् = इसको
हतम् = मरा हुआ
मन्यते = मानता है
तौ = वे
उभौ = दोनों ही
न = नहीं
विजानीत: = जानते हैं (कि)
अयम् = यह (आत्मा)
न = न (तो)
हन्ति = मारता है
न (वा) = न (ही)
हन्यते = मारा जाता है।

य एनमात्मानं देहं च हन्तारं हतं च वेत्ति, तस्य अज्ञानम्, अत एव स बद्ध: ॥२०॥

जो इस आत्मा और देह को मारने वाला और मरा हुआ जानता है, वह अज्ञानी है। इसी लिए वह जीने और मरने वाला बद्ध जीव कहलाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।२१॥

अयम् = यह आत्मा
न = न (तो)
कदाचित् = किसी काल में ही
जायते = जन्मता है
न वा = न ही
म्रियते = मरता है ।
न वा = न ही यह
भूत्वा = हो कर

भूयः = फिर
न भविता = न होने वाला है (क्योंकि)
अजः = अजन्मा
नित्यः = नित्य,
शाश्वतः = सनातन (और)
पुराणः = पुरातन है,

एतदेव स्फुटयति— नायं भूत्वा— इति । अयमात्मा न न भूत्वा भविता, अपितु भूत्वैव । अतो न जायते । न च म्रियते— यतो भूत्वा न न भविता, अपितु भवितैव ।।२१।।

इसी बात को यूँ स्पष्ट करते हैं—

यह आत्मा (कभी) न होकर होने वाला नहीं— ऐसी बात नहीं है; — हो कर ही तो होने वाला है । अतः जन्म नहीं लेता है । मरता भी नहीं, क्योंकि (एक बार) होकर (फिर) होगा ही नहीं, ऐसी बात भी नहीं, अवश्य (पुनः) होगा ।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ हन्यते हन्ति वा कथम् ॥२२॥

पार्थ = हे अर्जुन !
यः = जो
एनम् = इस आत्मा को
अविनाशिनम् = नाशहीन
नित्यम् = सदा रहने वाला
अजम् = अजन्मा (और)
अव्ययम् = निर्विकार
वेद = जानता है
सः = वह
पुरुषः = व्यक्ति
कथम् = कैसे
हन्यते = (किसी के द्वारा) मारा जायेगा
वा = या
कथं = कैसे (किसी को)
हन्ति = मारेगा।

य एनमात्मानं प्रबुद्धत्वाज्जानाति, न स हन्ति न स हन्यते, इति तस्य कथं बन्धः ॥२२॥

जिस व्यक्ति को आत्मा का बोध हो चुका हो, वह न तो किसी का वध ही करता है और न किसी से मारा ही जाता है। वह कैसे जन्म-मरण के चक्कर में आ सकता है। (वही तो मुक्त कहलाता है।)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२३॥

यथा = जैसे
नरः = मनुष्य
जीर्णानि = पुराने
वासांसि = कपड़ों को
विहाय = फेंक कर
अपराणि = नये कपड़ों को
गृह्णाति = धारण करता है
तथा = वैसे ही
देही = देह-धारी जीवात्मा
जीर्णानि = रोग-ग्रस्त पुराने
शरीराणि = शरीरों को
विहाय = त्याग कर
अन्यानि = दूसरे
नवानि = नये शरीरों को
संयाति = प्राप्त करता है।

यथा वस्त्राच्छादितस्तद्वस्त्रनाशे समुचितवस्त्रान्तरावृतो न विनश्यति, एवमात्मा देहान्तरावृतः ॥२३॥

जैसे वस्त्र से ढांपा गया व्यक्ति, उस वस्त्र के फटने पर अन्य नये वस्त्र से अपने शरीर को ढांपता है तथा उस पुराने वस्त्र के साथ ही स्वयं भी नष्ट नहीं होता वैसे ही यह आत्मा (एक शरीर छोड़ कर) नया शरीर धारण करने से नष्ट नहीं होता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२४॥

एनम् = इस आत्मा को
शस्त्राणि = शस्त्र
न = नहीं
छिन्दन्ति = काट सकते हैं
(और)
एनम् = इसको
पावकः = आग
न = नहीं
दहति = जला सकती है।

(तथा)
एनम् = इसको
आपः = जल
न = नहीं
क्लेदयन्ति = गीला कर सकता है
च = और
मारुतः = वायु (भी)
न = नहीं
शोषयति = सुखा सकता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२५॥

अयम् = यह आत्मा
अच्छेद्यः = (किसी के द्वारा) काटा नहीं जा सकता।
अयम् = इसे (कोई)
अदाह्य = जला नहीं सकता,
अयम् = यह

अक्लेद्यः = गीला नहीं किया जा सकता।
अशोष्य = इसे कोई सुखा नहीं सकता।
एवं च = अतः
अयम = यह (आत्मा) तो

नित्य: = नित्य,

सर्वगत: = सर्वव्यापक,

अचल: = अटल,

स्थाणु: = स्थिर रहने वाला

सनातन: = सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२६॥

अयम् = यह आत्मा

अव्यक्त: = अप्रकट है अर्थात् इन्द्रियों का विषय नहीं है।

अयम् = यह

अचिन्त्य: = मन का विषय नहीं है।

अयम् = यह आत्मा

अविकार्य: = विकार-रहित

उच्यते = कहा जाता है,

तस्मात = इसलिए (हे अर्जुन !)

एनम् = इस आत्मा को

एवम् = ऐसा

विदित्वा = जानकर (तू)

अनु-शोचितुम = बार-बार शोक

न अर्हसि = मत कर

नास्य नाशकरणं शस्त्रादि किंचित्करम्, चिदेकस्वभावस्यानाश्रितस्य निरपेक्षस्य निरंशस्य स्वतंत्रस्य स्वभावान्तरापत्त्याश्रयविनाशावयवविभागविरोधिप्रादुर्भावादिक्रमेण नाशयितुमशक्यत्वात् । न च देहान्तरगमनमस्यापूर्वम् । देहान्वितोऽपि सततं देहान्तरम् गच्छति तेन संबध्यत इत्यर्थः, देहस्य क्षणमात्रमप्यनवस्थायित्वात् । एवंभूतं विदित्वैनमात्मानं शोचितुं नार्हसि ॥२६॥

मारने वाले शस्त्र आदि इस आत्मा का कुछ नहीं बिगाड सकते हैं। जो केवल चिद् रूप है, किसी के आश्रय में नही है, जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, जो अखण्ड है, स्वतन्त्र है, वह (आत्मा) अन्य स्वभाव के प्राप्त होने पर (पूर्व) आश्रय (अर्थात् देह) के विघटन से अछूता रहता है। क्योंकि विघटन अर्थात् देह को त्यागने की प्रक्रिया इस का नाश नहीं कर सकती। भिन्न-भिन्न शरीरों में प्रविष्ट होना इस आत्मा के लिए कोई नई बात नहीं। क्योंकि देह में रह कर

भी यह देहधारी जीवात्मा, प्रतिक्षण अन्य देहों अर्थात् अवस्थाओं में संचरण करता है तथा उनसे संबन्ध जुटा लेता है। शरीर तो क्षण भर के लिए भी किसी एक अवस्था में स्थिर नहीं रहता। अतः इस प्रकार जान कर तुम्हारा इस आत्मा के लिए शोक करना युक्त नहीं है।

अथचैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

महाबाहो = हे अर्जुन!
अथवा = यदि अब
एनम् = (इस आत्मा को)
नित्य जातम् = सदा जन्मने वाला,
नित्यम् = सदा
मृतम् = मरने वाला
वा = ही
मन्यसे = मानोगे
तथापि = फिर भी
त्वम् = तुम्हें
एनम् = इस पर
शोचितुम् = शोक करना
न = नहीं
अर्हसि = चाहिए।

अथाप्येनं देहं मन्यसे नित्यजातं प्रवाहस्याविनाशात्, तथापि न शोच्यता। क्षणिकप्रक्रियया वा नित्यविनाशिनम्, तथापि का शोच्यता। एव यदि आत्मनस्तद्देह संयोगवियोगाभ्यां नित्यजतत्वं नित्यमृतत्वं वा मन्यसे, तथापि सर्वथा शोचनं प्रमाणिकानामयुक्तम् ॥२७॥

अब यदि तुम इस देह को सदा उत्पन्न हुआ ही मानोगे, तो भी शोक करने का कोई अवकाश नहीं। या यदि प्रति-क्षण नष्ट होता हुआ देख कर इसे सदा विनाशी ही मानोगे तो भी शोक करने का कोई अवसर नहीं है। यदि अब इस आत्मा को उन देहों से संयुक्त तथा वियुक्त होने से, नित्य उत्पन्न हुआ और सदा मरा हुआ मानोगे, फिर भी बुद्धिमान् व्यक्तियों के लिए किसी भी रूप में शोक करना उचित नहीं है।

न चैतदन्यथा नित्यत्वानित्यत्वमुपपत्तिमत्— यतः

(इस पीछे कहे हुए सिद्धान्त के अनुसार) आत्मा की नित्यता और शरीर को अनित्यता होने का जो नियम सिद्ध हुआ— यह नियम कभी टल नही सकता है। क्योंकि—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२८॥

जातस्य = उत्पन्न हुए का
मृत्यु: हि = मृत्यु तो
ध्रुव: = निश्चित (है)।
मृतस्य = मरे हुए का
जन्म = जन्म (भी)
ध्रुवम् = निश्चित है।
तस्मात् = अत:

अपरिहार्ये अर्थे = जो अटल बात है उसके लिए
त्वम् = तुम्हें
शोचितुम् = शोक
न = नहीं
अर्हसि = करना चाहिए।

जन्मन एवानन्तरं नाशो नाशादनन्तरं जन्म इति चक्रवदयं जन्ममरणसन्तान इति किं परिमाणं शोच्यतामिति ॥२८॥

जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म इस प्रकार जीने-मरने का चक्र चलता रहता है। फिर शोक किया भी जाये तो कब तक।

अपि च——

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है——

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२९॥

भारत = हे अर्जुन!
भूतानि = सभी प्राणी (तो)
अव्यक्त-आदीनि = आरम्भ में (जन्म से पहिले) अदृश्य होते हैं।
व्यक्त-मध्यानि = बीच में प्रकट हो जाते हैं।

अव्यक्त-निधनानि = मरने के बाद फिर अदृश्य हो जाते हैं।
तत्र = इस में
परिदेवना = पछतावे की
का = बात ही क्या।

नित्य: सन्तु अनित्या वा, यस्तावदस्य शोचकस्तं प्रत्येष आदावव्यक्त: अन्त

चाव्यक्तः, मध्ये तस्य व्यक्तता विकार इति प्रत्युत विकारे शोचनीयं न स्वभावे। किंच यत्तन्मूलकारणं किंचिदभिमतं तदेव यथाक्रमं विचित्र स्वभावतया स्वात्ममध्ये दर्शित-तत्तदनन्तसृष्टिस्थितिसंहृतिवैचित्र्यं नित्यमेव। तथास्वभावेऽपि कास्य शोच्यता ॥२९॥

यह शरीर नित्य हों या अनित्य, जो व्यक्ति (इस मरे हुए प्राणी पर) शोक करता है उसके लिए तो वह देह-धारी आत्मा जन्म से पहले भी अव्यक्त ही था और मृत्यु के बाद भी अप्रकट ही है। केवल मध्य में ही (जीवित दशा में) वह (आत्मा) व्यक्त होकर बिकार को प्राप्त होता है। अतः इसके जीवन रूप विकार पर ही शोक करना उचित है न कि उसके अव्यक्त रूप स्वभाव पर (अर्थात्) मरने पर)

इस 'अव्यक्त' शब्द का दूसरा अर्थ ईश्वर के प्रति भी लागू होगा। वह ऐसे है— जिस आत्मा को इस सारे जगत का मूल कारण माना गया है, वही अपने विचित्र स्वभाव के कारण क्रमशः अपने स्वरूप में ही सृष्टि, स्थिति; तथा संहार रूपी जगत की विचित्रता को दिखाता रहता है (क्योंकि सभी प्राणी-मात्र का उत्पन्न होना, जीवित रहना और मरना ही तत्त्व-दृष्टि से परमेश्वर के स्वरूप की स्वाभाविक स्थिति है।) इसलिए उस अविनाशी आत्मा के ऐसे स्वभाव पर शोक ही क्या है।

एवं विधं च —

ऐसे आत्मा को ——

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैनमन्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥३०॥

कश्चित् = कोई (विरल) ही
एनम् = इस आत्मा को
आश्चर्यवत् = आश्चर्य सा
पश्यति = देखता है।

तथा च = और वैसे ही
अन्यः = दूसरा
एनम् = इसे
आश्चर्यवत् = आश्चर्य सा
वदति = जतलाता है

अन्यः च = तथा और कोई
एनम् = इसे
आश्चर्यवत् = आश्चर्य सा
शृणोति = सुन लेता है ।
श्रुत्वा = सुन कर
अपि = भी
एनम् = इस (आत्मा) को
कश्चित् = कोई भी
न एव = नहीं
वेद = जान पाता ।

ननु यद्येवमयमात्मा अविनाशी किमिति सर्वेण तथैव नोपलभ्यते? यतोऽद्भुतवत्कश्चिदेव पश्यति। श्रुत्वापि न कश्चिदेनं जानाति— वेत्ति ॥३०॥

सोचने की बात यह है कि यदि यह आत्मा अविनाशी हैं तो सभी इसको अविनाशी रूप से ही क्यों नहीं जानते? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि कोई ही विरला व्यक्ति इसे देखता अर्थात अनुभव करता है। अन्य तो इस आत्मा की महानता को सुन कर भी नहीं जान पाता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३१॥

भारत = हे अर्जुन !
अयम् = यह
देही = शरीर धारी आत्मा,
सर्वस्य = सब के
देहे = शरीर में
नित्यम् = सदा ही
अवध्यः = अवध्य है अर्थात् मारा नहीं जा सकता
तस्मात् = इस लिए
सर्वाणि = प्राणियो के लिए
शोचितुम् = शोक करना
त्वम् = तुझे
न अर्हसि } = उचित नहीं ।

अतो नित्यमात्मनोऽविनाशित्वम्

अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा नित्य है कदापि नष्ट नहीं होता।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३२॥

च = और

स्वधर्मम् = अपने धर्म को

आवेक्ष्य = देख कर

अपि = भी (तुम)

विकम्पितुम् भय करने के

न } = योग्य
अर्हसि } नहीं हो

हि = क्योंकि

धर्म्यात् = धर्म-युक्त

युद्धात् = युद्ध से बढ कर

अन्यत् = दूसरा (कोई)

श्रेयः = कल्याण-करने वाला
कर्तव्य

क्षत्रियस्य = क्षत्रिय के लिए

न } = नहीं है।
विद्यते }

स्वधर्मस्य चानपहार्यत्वात् युद्धविषयः कम्पो न युक्तः ।३२॥

स्व-धर्म का कभी त्याग नहीं होना चाहिए। क्षत्रिय होने के नाते युद्ध तुम्हारा स्व-धर्म है। अतः युद्ध के नाम से कांप उठना तुम्हारे लिए उचित नहीं।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुकृतात्क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३३॥

पार्थ = हे अर्जुन!

यदृच्छया = अपने आप

उपपन्नम् = प्राप्त हुए
(और)

अपावृतम् = खुले हुए

स्वर्गद्वारम् = स्वर्ग को देने वाले

ईदृशम् = ऐसे

युद्धम = युद्ध-कर्म रूपी
सुअवसर को

च = तो

क्षत्रियाः = क्षत्रिय

सुकृतात् = पुण्यों से ही

लभन्ते = प्राप्त करते हैं।

अन्येऽपि ये काममयाः क्षत्रियास्तैरपि ईदृशं युद्धं स्वर्गहेतुत्वान्न त्याज्यम्, किं पुनर्यस्य ईदृशं ज्ञानमुपदिष्टमिति तात्पर्यम्। न पुनः स्वर्गपर्यवसायी श्लोकः ।।३३।।

अन्य, स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले सकामी क्षत्रिय भी ऐसे धर्म-युद्ध से पीछे नहीं हटते। फिर भला तुम जैसे ज्ञान से शिक्षित किये गए व्यक्ति को युद्ध से पीठ दिखाना कैसे युक्त है। इस श्लोक का तात्पर्य स्वर्ग की प्राप्ति मात्र से नहीं है अपितु योग की सार्थकता से है।

यद्भयाच्च भवान् युद्धान्निवर्तेत, तदेव शतशाखमुपनिपतिष्यति भवत इत्याह—

तुम जिस भय के कारण युद्ध से पीछे हटते हो वही (भय) सैंकड़ों रूप धारण करके फिर तुम्हें आ घेरेगा। यही कहते हैं—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३४॥

अथ = और
चेत् = यदि
त्वम् = तुम
इमम् = इस
धर्म्यम् = धर्म-युक्त
संग्रामम् = युद्ध को
न = नहीं
करिष्यसि = करोगे
ततः = तो
स्वधर्मम् = अपने (कर्तव्य रूप) धर्म को
कीर्तिम् च = और यश को
हित्वा = खो कर
पापम् = पाप को
अवाप्स्यसि = प्राप्त होओगे।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते[1] ॥३५॥

भूतानि च = और सब लोग
ते = तुम्हारे
अव्ययाम् = अमिट
अकीर्तिम् = यश को
अपि = ही
कथयिष्यन्ति = कहते रहेंगे।
संभावितस्य — माननीय के लिए
च = तो
अकीर्तिः = (वह) अपयश
मरणात् = मरने से भी
अतिरिच्यते = बढ कर बुरा है।

१. अधिका भवतीत्यर्थः

'भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३६॥

त्वाम् = तुम्हें
महारथाः = बलवान शूरवीर
भयात् = भय के कारण
रणात् = युद्ध से
उप-रतम् = पीठ दिखाने वाला
मंस्यन्ते = मानेंगे (तुम्हें कृपा के कारण युद्ध से पीछे हटने वाला नहीं कहेंगे)

(अतः) = इसलिए
येषाम् = जिनके लिए
त्वम् = तुम
बहु-मतः = आदरणीय
भूत्वा = थे (उनकी दृष्टि में तुम)
लाघवम् = छोटे (कायर)
यास्यसि = बनोगे।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३७॥

तव = तुम्हारे
सामर्थ्यम = बल की
निन्दन्तः = निन्दा करते हुए
तव = तुम्हारे
अहिताः च = शत्रु तो (तुम्हें)
बहून् = बहुत

अवाच्य = बुरा-भला (अनाप-शनाप)
वादान् = कहेंगे
किम् नु = भला
ततो = उस से
दुःखतरम् = बढ कर दुःख की बात ही क्या ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३८॥

कौन्तेय = हे अर्जुन !
हतः वा = या तो मर कर

स्वर्गम् = स्वर्ग
प्राप्स्यसि = प्राप्त करोगे

१ भयेन सङ्ग्रामात्त्वां निवृत्तं मन्येरन् न कृपयेति भावः।

जित्वा वा	= या जीत कर	युद्धाय	= युद्ध करने के लिए
महीम्	= पृथ्वी के राज्य को	कृत-निश्चयः	= कमर कस कर
भोक्ष्यसे	= भोगोगे	उत्तिष्ठ	= खड़े हो जाओ।
तस्मात्	= अतः		

श्लोकपञ्चकमिदमभ्युपगम्य वादरूपमुच्यते यदि लौकिकेन व्यवहारेणास्ते भवांस्तथाप्यवश्यानुष्ठेयमेतत् ॥३८॥

इन पाँच श्लोकों का तात्पर्य समझ कर यह वाद प्रस्तुत किया जाता है कि लोक-व्यवहार की दृष्टि से भी आप के लिए लडना आवश्यक है।

[1]सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३९॥

सुख-दुःखे	= सुख-दुःख	युज्यस्व	= तय्यार हो जाओ
लाभ-अलाभौ	= लाभ-हानि	एवम्	= इस (ज्ञान की दृष्टि) से
जय-अजयौ	= हार और जीत को	ततः	= तो (तुम)
समे	= एक जैसा	पापम्	= पाप को
कृत्वा	= समझ कर	न	= नहीं
युद्धाय	= युद्ध करने के लिए	अवाप्स्यसि	= प्राप्त होओगे।

तव तु स्वधर्मतयैव कर्माणि कुर्वतो न कदाचित्-पापसम्बन्धः ॥३९॥

यदि तुम अपना क्षत्रिय-धर्म समझकर ही युद्ध करोगे तो तुम्हें किसी प्रकार भी पाप नहीं लगेगा।

---

१ सुखदुःखे— हर्षविशादौ समे-निर्विशेषे कृत्वा सम्यक्प्रतिपत्त्या संपाद्य, एवमेव तद्धेतुभूतौ लाभालाभौ तथैव समौ— निर्विशेषौ संपाद्य, युद्धशब्दोपलक्षिताय स्वकर्मणे युज्यस्व—संबध्यस्व; यथोक्तज्ञाननिष्ठतया स्वकर्मानुतिष्ठेत्यर्थः।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥४०॥

पार्थ = हे अर्जुन!
= तुम्हें
षा = यह
ुद्धिः = ज्ञान,
(हमने)
सांख्ये = सांख्य मत के आधार पर
अभिहिता = कहा है
इमाम् तु = इसी को अब (तुम)
योगे = निष्काम कर्म-योग के आधार पर
शृणु = सुन लो,
यया = जिस
बुद्धया = बुद्धि से
युक्तः = युक्त होकर (तुम)
कर्मबन्धम् = कर्मों के बन्धन को
प्रहास्यसि = पूर्ण रीति से काट सकोगे।

एषा च तव सांख्ये-सम्यग्ज्ञाने बुद्धिः— निश्चयात्मिका उक्ता। एषैव च यथा योगे— कर्मकौशले योज्यते तथैव शृणु। यया बुद्धया कर्मणां बन्धत्वं त्यक्ष्यसि। नहि कर्माणि स्वयं बध्नन्ति-जडत्वात्; अतः स्वयमात्मा कर्मभिर्वासनात्मकैरात्मानं बध्नाति ॥४०॥

यह निश्चयात्मक तथ्य, मैं ने तुम्हें सांख्य—सम्यक् ज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहा है। इसी योग के आधार पर अर्थात् कर्मों की कुशलता से जो बुद्धि लागू होती है उसे सुन लो। इस यौगिक बुद्धि से तुम कर्मों के बन्धनों को छोड़ पाओगे। कर्म स्वयं ही जड़ होने के कारण मनुष्य को नहीं बान्धते, अपितु आत्मा, वासना से प्रेरित होकर कर्मों द्वारा स्वयं अपने आप को बांध लेता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४१॥

इह = इस बुद्धि-योग में (प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति का)
अति-क्रम-नाशः = प्रमाद से भी (कभी) नाश
न = नहीं
अस्ति = होता,
प्रत्यवायः (किसी प्रकार के) विघ्न (भी)
न = नहीं
विद्यते = रहते,
स्वल्पम् = थोडा सा (अंश)
अपि = भी
महतो = बड़े भारी
भयात् = भय से
त्रायते = बचा लेता है।

अस्यां बुद्धौ अतिक्रमेण-अपराधेन प्रमादेन नाशो न भवति— प्रमादस्याभावात्। यथा च परिमितेन श्रीखण्डकणेन ज्वालायमानोऽपि तैलकटाह: सद्य: शीतीभवति; एवमनया स्वल्पयापि योगबुद्धया महाभयं संसाररूप विनश्यति ।।४१।।

इस बुद्धि में अतिक्रम से अर्थात अनवधानात्मक प्रमाद से होने वाला अपराध नहीं होता, क्योंकि इस योग-बुद्धि में प्रमाद होने का अवकाश हीं नहीं। (भाव यह कि इस योग-बुद्धि से युक्त ज्ञानी एक क्षण के लिए भी ईश्वर से विमुख बनने का प्रमाद नहीं करता। वह तो सदा सजग होता है।) जैसे चन्दन का छोटा सा कण, उबलती हुई तेल की कढाई को क्षण भर में शीतल बना देता है, वैसे ही यह थोडी सी भी योग-बुद्धि, अति भयानक संसार को नष्ट करती है।

न चैषा बुद्धिरपूर्वानीयते, किं तर्हि।

जिस योग–बुद्धि का यहाँ वर्णन हो रहा है, वह कोई नई बात नहीं है। फिर बात क्या है?

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकैव कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनान्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४२॥

कुरुनन्दन = हे अर्जुन!
इह = इस मार्ग में
व्यवसायात्मिका = निश्चयात्मिका (अभेद)
बुद्धि: = बुद्धि (तो)
एका–एव = एक ही है।
अव्यवसायिनाम् = निश्चय-हीन (अज्ञानी जनों) की
बुद्धय. = बुद्धि,
वहु-शाखा = अनेकों भेदों वाली और कहीं पर न पहुंचाने वाली है।

व्यवसायात्मिका सर्वस्यैकैव सहजा धी:। निश्चेतव्यवशात्तु बहुत्वं गच्छति ।।४२।।

निश्चयात्मक बुद्धि तो सबों में एक सी ही है, पर भिन्न-भिन्न द्वैत रूपी निश्चयों के द्वारा बहुत रूपों को धारण करती है।

तथा च

यही बात कहते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः
वेदवादपराः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥४३॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलेप्सवः।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतीः प्रति ॥४४॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४५॥

पार्थ = हे अर्जुन ! (जो)
काम-आत्मानः = कामना से युक्त,
वेद-वाद-पराः = वेद-वाद में लगे हुए,
स्वर्ग-पराः = स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानने वाले,
अन्यत् = (इस वेद में कही हुई सकाम-भावना से बढ़ कर) और कुछ
न अस्ति = नहीं है
इति = ऐसे
वादिनः = कहने वाले हैं (वे)
अविपश्चितः = अज्ञानी (हैं)
जन्म-कर्म फल-ईप्सवः = जन्म लेकर कर्म-फलों को ही चाहते हैं।
भोग-ऐश्वर्य-गतीः प्रति = भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए
क्रिया-विशेष-बहुलाः = विविध प्रकार की विशेष क्रियाएँ करने वाले हैं।
इमाम = इस प्रकार की

याम = जिस
पुष्पिताम् = फल से युक्त (मन को लुभाने वाली)
वाचम = वाणी का
प्रवदन्ति = बखान करते हैं,
तया = उस वाणी-द्वारा
अप-हृत-चेतसाम = बहकाये हुए चित्त वाले (तथा)
भोग-ऐश्वर्य-प्रसक्तानाम् = भोग और ऐश्वर्य में लगे हुए
व्यवसायात्मिका सकामी जनों की
बुद्धिः = निश्चयात्मिका बुद्धि-
समाधौ = समाधिमें
न = नहीं
विधीयत = टिक पाती।

ये कामाभिलाषिणस्ते स्वयमेतां वाचं वेदात्मिकां पुष्पितां— भविष्यत्स्वर्गफलेन व्याप्तां वदन्ति। अत एव जन्मनः कर्मैव फलमिच्छन्ति, तेऽविपश्चितः। ते च तथैव— स्वयंकल्पितया वेदवाचा अपहृतचित्ता व्यवसायबुद्धियुक्ता अपि न समाधियोग्याः तत्र फलनिश्चयत्वादिति श्लोकत्रयस्य तात्पर्यम् ॥४५॥

जो कामनाओं की इच्छा रखने वाले सकामी व्यक्ति हैं वे वेद की वाणी को पुष्पित— अर्थात् भविष्य में केवल स्वर्ग रूप फल को देने वाला ही कहते हैं। इसीलिए वे जन्म का तात्विक उद्देश्य सांसारिक कर्म ही मानते हैं। वे मूर्ख हैं और वे मनगढंत इस वेद-वाणी से अपने मनको खो बैठे हैं। अतएव सांसारिक बुद्धिपत्ता को प्राप्त करके भी समाधि के योग्य नहीं हैं। क्योंकि समाधि में भी उन्हें फल वासना बनी रहती है। यह तीन श्लोकों का तात्पर्य है।

अतएव च —

अतः बात यूँ सिद्ध हुई

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४६॥

अर्जुन = हे अर्जुन !

वेदाः — वेद (तो)

त्रैगुण्य-विषयाः = (सत्व, रज और तम) नाम के तीन गुणों से ही मनुष्य को बांधते हैं।

त्वम — तुम

निः-त्रैगुण्य = तीन गुणों के बन्धन से रहित।

निः द्वन्द्वः = सुख-दुःख के द्वन्द्वों से मुक्त,

नित्य-सत्त्वस्था — नित्य-स्वरूप में स्थित,

निःयोग-क्षेम — योग तथा क्षेम से न्यारे

आत्मवान् — आत्मा में स्थित

भव — हो जाओ।

वेदास्त्रैगुण्येन करणेन विशेषेण १ सिन्वन्ति-बध्नन्ति, न तु बन्धकाः। यस्मात् सुखदुःखमोहबुद्ध्या कर्माणि वैदिकानि क्रियमाणानि बन्धकानि, अतस्त्रैगुण्यं-कामरूपंत्याजम्।

---

१. 'षिञ् बन्धने' इति

यदि तु वेददूषणपरमेतदभविष्यत्, प्रकृतं युद्धकरणं व्यघटिष्यत्— वेदादन्यस्य स्वधर्मनिश्चायकत्वाभावात्। येषां तु फलाभिलाषो विगलितस्तेषां न वेदा बन्धकाः ॥४६॥

वेद (सत्व रज और तम) तीन गुणों का अवलम्बन करने से मनुष्य को बांधते हैं। वास्तव में वेद, बन्धक नहीं हैं, क्योंकि सुख, दुःख और मोह बुद्धि के द्वारा किये गए वैदिक कर्म ही बन्धक हैं। अतः तीन गुण— सकाम कर्म ही छोडने चाहिएँ। यदि यह ऊपर-वर्णित श्लोक वेद का खंडन करने के अभिप्राय से कहा होता तो फिर प्रस्तुत युद्ध करने का उपदेश कैसे सिद्ध होता। इधर वेद से अन्य कोई शास्त्र ऐसा नहीं है जो अपने अपने धर्म का तथ्य रूप से विभाग कर पाता हो। जिन्हें फल की अभिलाषा मिट चुकी है उनके लिए वेद बन्धक नहीं हैं।

यतो वेदाः परं तेषां सम्यग्ज्ञानोपयोगिनः, अत आह

इसी लिए तो वेद, उन निष्काम ज्ञानवानों के लिए सच्चे ज्ञान को प्राप्त कराने में सहायक बनते हैं— यही कहते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४७॥

यथा = जैसे
सर्वतः = सब ओर से
संप्लुत-उदके = लबालब भरे हुए जलाशय के
(प्राप्त सति) = मिलने पर
उदपाने = छोटी बावली से
यावान् = (जितना कम)
अर्थः = प्रयोजन
(भवति) = होता है
(तथा) = वैसे ही
विजानतः = अच्छी तरह ब्रह्म को जानने वाले (अनुभवी)
ब्राह्मणस्य = ब्राह्मण का (भी)
सर्वेषु = सब
वेदेषु = वेदों में
तावान् = उतना ही (कम) प्रयोजन रहता है।

कर्मण्यस्त्वधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४८॥

कर्मणि तु = कर्म (करने) में ही
ते = तुम
अधिकारः = लगे
अस्तु = रहो
फलेषु = फलों (के फेर) में
कदाचन = कभी
मा = न पड़ो।
कर्म-फल-हेतुः = कर्म के फल को ही मूल-उद्देश्य समझ कर काम करने वाले
मा = न
भूः = बनो (और)
अकर्मणि = काम से जी चुराने की
ते = तुम्हें
सङ्गः = लत (कभी)
मा = न
अस्तु = पड़े।

कर्ममात्रे त्वं व्यापृतो भव, न तु कर्मफलेषु। ननु कर्माणि कृते नान्तरीयकतयैव फलमापतति इति? मैवम् तत्र हि यदि त्वं फलकामनाकालुष्यव्याप्तो भवसि, तदा कर्मणां फलं प्रति हेतुत्वम्। यदप्रार्थ्यमानं फलं तत् ज्ञानम्। नानिच्छोस्तदिति कर्माभावेन यः सङ्गः, स एव गाढग्रहरूपो मिथ्याज्ञानस्वरूपः, इति त्याज्य एव ।४८।।

तुम केवल कर्म करने में ही लगे रहो। कर्म से उत्पन्न हुई फल की अभिलाषा न करो। इस पर पूछा जा सकता है कि कर्मों के करने पर तो उसके साथ ही फल भी अवश्य आ उपस्थित होगा। ऐसा न कहो। जब तुम फल की कामना से कलुषित (मलीन) बनोगे तब तो कर्म-फलों को देने में तुम्हारे अपने कर्म (ही) कारण बनेंगे। न मांगा हुआ फल ही तो ज्ञान है। (ऐसा कहने पर यदि तुम कहोगे कि फल की इच्छा न होने पर फिर ज्ञान से युक्त फल भी नहीं प्राप्त होगा) इस तुम्हारी शंका से मालूम पडता है कि तुम्हें कर्म न करने की ही इच्छा है। यही तो तुम्हें भयंकर दुराग्रह से मिथ्या ज्ञान हो रहा है। ऐसा अज्ञान तो त्यागने योग्य है।

किं तर्हि—

फिर क्या करना चाहिए? इस पर कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४९॥

धनंजय = हे अर्जुन !
संगम् = लगाव
त्यक्त्वा = छोड कर
सिद्धि:- असिद्धिः } = सफलता और असफलता में
समः = एक समान (धीर)
भूत्वा = रह कर

योगस्थः = योग में दृढ बन कर
कर्माणि = कर्मों को
कुरु = करो (यह)
समत्वम् = सम-भाव
हि = ही
योगः = योग
उच्यते = कहलाता है।

योगे स्थित्वा कर्माणि कुरु। साम्यं च योगः।

योग में टिक कर कर्मों को करते जाओ। शीत-उष्ण आदि द्वन्दों मे सम-भाव का होना ही योग है।

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धनास्त्विह ॥
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान ॥५०॥

इह = इस मार्ग में
यस्य = जिस (साधक) के
सर्वे = सभी
सम-आरम्भा = कार्य-कलाप
निः-आशीः = आशीर्वाद के
बंधनाः = बन्धन से रहित हैं
(यस्य च) = और जिसने

सर्वम् = सभी कुछ
त्यागे = त्याग की अग्नि में
हुतम् = होम दिया है
सः = वह
त्यागी = त्यागी है,
स) = वह
बुद्धिमान् = बुद्धिमान्
च = भी है।

यस्य सर्वे व्यापारा आशीरूपेण बन्धनेन न युक्ताः। अभिलाषो हि बन्धकः ॥५०॥

जिस के सभी कार्य 'मुझे सदा लाभ ही बनता जाये' इस प्रकार के आशीर्वाद रूपी बन्धन से युक्त न हों (या यूँ कहें कि अपने सभी कार्यों में आशीर्वाद के

रूप में मांगते रहने के बन्धन से जो छुटा हो। (वह प्रशंसनीय है) क्योंकि अभिलाषा ही मनुष्य को बांधती है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥५१॥

धनञ्जय = हे अर्जुन!
अवरम् = घटिया (सकाम)
कर्म = (खोखला) कर्म (तो)
बुद्धि-योगात् = बुद्धि-योग से
दूरेण = (बहुत) दूर
(भवति) = ठहरता है।
त्वम् = तुम
बुद्धौ = समत्व बुद्धि-योग का
शरणम् = पल्ला
अन्विच्छ = पकड लो
फल-हेत्वः (हि) = फल की इच्छा रखने वाले तो
कृपणाः = (बेचारे) कृपा-पात्र हैं।

बुद्धियोगात्किल हेतोरवरं-दुष्टफलं रिक्तं कर्म दूरीभवति। अतस्तादृश्यां बुद्धौ शरणमन्विच्छ—प्रार्थयस्व, येन सा बुद्धिर्लभ्यते ॥५१॥

बुद्धि-योग से तो खोखले, दुष्ट, सकाम कर्म बहुत दूर रह जाते हैं। अतः तुम सम-भाव में ठहराने वाली वैसी बुद्धि को प्राप्त करने का प्रयत्न करो जिस से वह ऋतम्बरा नाम की बुद्धि तुम्हें प्राप्त हो जाय।

बुद्धियुक्तो जहातीमे उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५२॥

बुद्धि-युक्तः = सम-भाव की बुद्धि से युक्त व्यक्ति
सुकृत-दुष्कृते = पुण्य-पाप
उभे इमे = इन दोनों को
जहाति = छोड देता है।
तस्मात् = अतः
योगाय = योग की साधना में
युज्यस्व = जुट जाओ।
(यतः) = क्योंकि
कर्मसु = कर्मों को निभाने में
कौशलम् = अवधानात्मक चातुर्य ही
योगः = योग है।

उभे इति परस्परव्यभिचारं दर्शयति। तस्मात्— यथाहि सुकृतदुष्कृते नश्यतस्तथाकरणमेव परमं कौशलमिति भावः ॥५२॥

यहाँ पुण्य और पाप को जतजाने के लिए 'उभे' पद का प्रयोग किय गया है। परस्पर असंगति के प्रदर्शक होने पर भी ये दोनों पुण्य और पाप जिस किसी रीति से नष्ट हो जाएँ वैसा करना ही परम कौशल है। इसी भाव की ओर संकेत है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५३॥

बुद्धि-युक्ताः = बुद्धि-योग की साधना करने वाले

मनीषिणः = मननशील, ज्ञानी जन

हि = तो

कर्म जम् = कर्मों से उत्पन्न होने वाले

फलम् = फल को

त्यक्त्वा = त्याग कर

जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः = जन्म के बंधन से छूट कर

अनामयम् = शुद्ध (स्वस्थ)

पदम् = स्थिति को

गच्छन्ति = प्राप्त होते हैं।

योगबुद्धियुक्ताः कर्मणां फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धं त्यजन्ति ब्रह्मसत्तामवाप्नुवन्ति ॥५३॥

योग-बुद्धि वाले (ज्ञानीजन), कर्मों के फल की ओर ध्यान न देकर आवागमन के बन्धन से छूट जाते हैं। अतः ब्रह्म-सत्ता— मोक्ष-धाम को प्राप्त करते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५४॥

यदा = जब

ते = तुम्हारी

बुद्धिः = बुद्धि

मोह-कलिलम् = मोह के दल-दल से

विति-तरिष्यति = (छूट कर) पार हो जाएगी

तदा = तब (तुम)

श्रोतवस्य = सुनने योग्य

च = और

श्रुतस्य = सुने हुए (शास्त्रों के प्रति)

निर्वेदम् = उदासीनता को

गन्तासि = प्राप्त होओगे।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चिता ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५५॥

श्रुति—विप्रतिपन्ना = अनेकों शास्त्रों के सुनने से डांवाडोल
ते = तुम्हारी
बुद्धिः = बुद्धि
यदा = जब
समाधौ = समाधि में
अचला = निश्चित रूप से
निश्चिता = टिक
स्थास्यति = जाएगी
तदा = तभी
योगम् = समत्व रूप योग को
अवाप्स्यसि = सिद्ध कर पाओगे ।

तत्र च योगबुद्धिप्राप्त्यवसरे तव स्फुटमेवेदमभिज्ञानम्; श्रोतव्यस्य श्रुतस्याभिलष्यमानस्य च आगमस्य उभयस्यापि निर्वेदभाक्त्वम् । अनेन चेदमुक्तम्— अविद्यापदनिपतितप्रमात्रनुग्राहकशास्त्रश्रवण-संस्कारविप्रलम्भमहिमा अयं— यत्रवास्थाने कुलक्षयादिदोषदर्शनम् ; तत्तु तथा शासनबहुमानविगलने विगलिष्यतीति ॥५५॥

अतः योग-बुद्धि के प्राप्त होने पर तुम्हें प्रत्यक्ष रूप से यह चिह्न दीखने में आयेगा कि सुनने योग्य शास्त्रों तथा सुने हुए दोनों प्रकार के शास्त्रों के प्रति वैराग्य की भावना उत्पन्न होगी। इस कथन से यह बात कही गई कि तुम्हें अज्ञान में पड़े हुए जीवों पर अनुग्रह करने के लिए, शास्त्रों को सुनने से उत्पन्न हुए संस्कारों के महिमा रूप धोखे में आकर ही इस युद्ध-स्थल में 'कुल-क्षय' आदि दोषों का आभास हो रहा है। अतः शास्त्रों की बहुमान्यता तथा अन्ध-विश्वास रूप श्रद्धा को हटाने से ही 'कुल-क्षय' आदि दोष, दोष रूप नहीं दीखेंगे।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थिरधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेच्च किम् ॥५६॥

अर्जुन कहता है

केशव = हे कृष्ण !	स्थिर-धीः = स्थिर-बुद्धि वाला
समाधिस्थस्य = समाधि में स्थित होने के कारण	किम् = क्या (कुछ)
	प्रभाषेत् = जतलाता है ?
स्थित-प्रज्ञस्य = जिसकी प्रज्ञा दृढ हो चुकी है (उसका)	किम् = क्या
	आसीत् = अभ्यास करता है (और)
का = क्या	किम् = किस
भाषा = लक्षण है ? (ऐसी)	व्रजेत् = लक्ष्य को जा पहुंचता है ?

यदा स्थास्यति बुद्धिः— इत्यनेन वचसा समाधिस्थस्य योगिनो यः स्थितप्रज्ञ-शब्दस्तत्र वाचक उक्तस्तस्य का भाषा— किं प्रवृत्तिनिमित्तं भाष्यते येन निमित्तेन शब्दैरर्थं इति कृत्वा योगिनः स्थितप्रज्ञशब्दः किं रूढ्या वाचकोऽन्वर्थतया वा, इति एकः प्रश्नः। यद्यपि रूढौ शङ्कैव नास्ति तथाप्यन्वर्थतां लब्धामपि स्वरूपलक्षणनिमित्त-निरूपणेन स्फुटीकर्तुमेष प्रश्नः। स्थिरधीरिति शब्दपदार्थकोऽर्थपदार्थकश्च, तत्र स्थिरधी-शब्दः किं प्रयोगलक्षणमेवार्थमाह आहो तपस्विनमपि इति द्वितीयः प्रश्नः। स च स्थिरधीर्योगी किमासीत्— किमभ्यस्येत्— क्वास्य स्थैर्यं स्यात् इति तृतीयः। अभ्यस्यंश्च किमाप्नुयात्, इति चतुर्थः ॥५६॥

'जब बुद्धि स्थिर होगी' इस वाक्य से समाधि में स्थित, योगी का सूचक जो 'स्थित प्रज्ञ' शब्द कहा गया है उसका अर्थ क्या है ? किस निमित्त से इसका प्रयोग हुआ है। जिस किसी निमित से शब्दों के द्वारा अर्थ कहा जाता है, उस को अन्वर्थ कहते हैं। अतः जो यह स्थित-प्रज्ञ शब्द योगी के लिए लागू हुआ है, क्या यह 'देवदत्त' नाम की भाँति रूढि मात्र है या अर्थ-परक होने से किसी विशेषता का सूचक है। ऐसा यह पहला प्रश्न है। यद्यपि रूढि को जतलाने वाले शब्द पर कोई शंका ही नहीं है तथापि अर्थ-परक शब्द होने से इस स्थित-प्रज्ञ शब्द को स्फुट रूप से सुलझाने के लिए ही यह प्रश्न किया गया है।

'स्थिर-धीः' — स्थिर बुद्धि वाला यह पद तो शब्द तथा अर्थ दोनों को जतलाता है। यह 'स्थिरधीः' शब्द क्या योगी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है कि तपस्वी का भी वाचक है। यह दूसरा प्रश्न है।

स्थिर बुद्धि वाला योगी किस प्रकार उठता बैठता है— क्या अभ्यास करता है ? किस अवस्था में इसकी विश्रान्ति होती है। यह तीसरा प्रश्न है।

अभ्यास करने के बाद वह क्या कुछ प्राप्त करता है – उसकी कैसी गति होती है। यह चौथा प्रश्न है ।

इन्हीं चार प्रश्नों का उत्तर श्रीभगवान् क्रमपूर्वक देते हैं –

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५७॥

भगवान् बोले

पार्थ = हे अर्जुन !
यदा = जिस अवस्था के प्राप्त होने पर
(**साधक:**) = साधक,
मनोगतान् = मन में ठहरे हुए
सर्वान् = सभी
कामान् = कामनाओं को
प्रजाहाति = त्याग देता है अर्थात् उन से न्यारा हो जाता है
तदा = तब
आत्मना एव = स्वयं ही
आत्मनि = अपने आप मे
तुष्टा = होकर
स्थित-प्रज्ञ: = दृढ प्रज्ञा वाला
उच्यते = कहलाता है।

स्थिता रूढा प्रज्ञा यस्य। रूढिश्च नित्यमात्मरूढित्वे सति विषयविक्षेपकृतस्य कामरूपस्य भ्रमस्य निवृत्तत्वात योगिनो यः स्थितप्रज्ञशब्दोऽन्वर्थः स चेत्थंयुक्त इत्येकः प्रश्नो निर्णीतः ॥५७॥

स्थित— जिसकी प्रज्ञा दृढ़ हो चुकी है। सदा आत्म-साधना में डट जाने के कारण विषयों को प्राप्त करने की आकुलता से उदित हुए काम रूप भ्रम से छुटकारा हो जाता है। योगी के लिए जो यह स्थित-प्रज्ञ शब्द कहा है वह सार्थक होने से युक्तियुक्त ही है। इस प्रकार एक प्रश्न का उत्तर तो दिया गया।

[१]दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थिरधीर्मुनिरुच्यते ॥५८॥

दुःखेषु = दुःख में

अनुद्-विग्न-मनाः = जिसका मन व्याकुल नहीं होता है,

सुखेषु = सुख की प्राप्ति की

विगत-स्पृहा = जिसे कोई अभिलाषा नहीं होती,

वीत-राग-भय-क्रोधः = राग, भय, और क्रोध की भावना जिस में नहीं रह पाई है।

मुनिः = (ऐसा) मुनि

स्थिर-धीः = स्थिर बुद्धि वाला

उच्यते = कहलाता है।

सुखदुःखयोर्यस्य रागद्वेषरहिता वृत्तिः स मुनिरेव स्थिरप्रज्ञो नान्यः ॥५८॥

जो मुनि सुख और दुःख में राग तथा द्वेष की वृत्तियों से छुटकारा पा चुका है, वही स्थिर-प्रज्ञ योगी है। दूसरा नहीं।

युक्तं चेतत् यतः

ठीक ही तो है, क्योंकि—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५६॥

यः = जो (साधक)

सर्वत्र = हर प्रकार से

अन-अभि-स्नेहः = स्नेह रहित होकर बेलाग रहता है

शुभ-अशुभम = भले-बुरे की

न = न तो

अभिनन्दति = आवभगत करता है, (और)

न = नहीं

द्वेष्टि = (बुरे की) अवहेलना करता है,

तस्य = उसकी

प्रज्ञा = बुद्धि

प्रतिष्ठिता = दृढ है।

१. तत्तत्स्वहेतूपस्थापितानां हि सुखदुःखादीनामवश्यंभाविनी उत्पत्तिः । उत्पन्नं च सुख-दुःखादि जीवन्मुक्तेनाप्यन्यग्राहकवत्साक्षात्क्रियते । साक्षात्कारेऽपि तु 'अहं सुखी'— इति प्रमातरि सुखानुवेधमयं नाभिमन्यते । तत एवानुग्रहमुपघातं च न सुखदुःखकृतमभिमन्यते— इत्यभिप्रायेण भगवतानुशिष्यते— 'दुखेष्वनुद्विग्नमनाः' इति । उद्वेगस्पृहाकृताश्च हर्षादय इति तदभावे तदभावः, इति दर्शितम 'वीतरागभयक्रोधः— इति ।

शुभाशुभप्राप्तौ तस्याह्लादतापौ न भवतः ॥५६॥

उस योगी को शुभ-प्राप्ति पर प्रसन्नता और अशुभ प्राप्ति पर दुःख नहीं होता।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः स्थिरप्रज्ञस्तदोच्यते ॥६०॥

कूर्मः = कछुआ

अंगानि इव = जैसे अंगों को अपने में समेट लेता है, वैसे ही

यदा च = जब

अयम् = यह साधक

इन्द्रिय-अर्थेभ्यः = इन्द्रियों के विषयों से

इन्द्रियाणि = इन्द्रियों को

सर्वशः = पूरी तरह से

संहरते = समेट लेता है

तदा = तब

स्थिर-प्रज्ञः = (वह) स्थिर-प्रज्ञ

उच्यते = कहलाता है।

न चास्य पाचकवद्योगरूढित्वम्; यदा यदा किलायमिन्द्रियाणि संहरते—आत्मन्येव कूर्म इवाङ्गानि क्रोडी-करोति विषयिभ्यो विषयान्निवार्य, तदा तदा स्थिर-प्रज्ञः। यद्वा—इन्द्रियार्थेभ्यः प्रभृति इन्द्रियाणि आत्मनि संहरते— विषयेन्द्रियादिकं सर्वमात्मसात् करोति ॥६०॥

इस योगी के लिए यह 'स्थर प्रज्ञ' शब्द रसोइये के नाम की भांति लागू नहीं हुआ है। (जैसे भोजन बनाने वाले रसोइये को सभी समय इसी नाम से पुकारते हैं वैसे ही योगी स्थिरप्रज्ञ सदा नहीं कहलाया जा सकता) जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने में ही छिपाता है वैसे ही योगी अपनी इन्द्रियों का दमन करके जिस समय अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटा कर अपनी आत्मा में ही समेट लेता है उसी समय वह स्थिर-प्रज्ञ योगी कहलाने का अधिकारी है। अन्य समय में वह संसारी जीवों के समान ही माना जायेगा।

रहस्य-प्रक्रिया को लेकर इस श्लोक का दूसरा अर्थ यह है— जो योगी शब्द आदि विषयों सहित सभी इन्द्रियों का संहार अपने स्वरूप में करता है या यूं कहें कि विषयों और इन्द्रियों को संपूर्ण रूप से आत्ममय ही बनाता है — उन्हें आत्मा के साथ अभिन्न बनाता है वही वास्तव में स्थिर प्रज्ञ कहलाता है।

ननु तपस्विनोऽपि कथं स्थिरप्रज्ञशब्दो न प्रवर्तते ? उच्यते—

प्रश्न उठता है कि 'स्थिर प्रज्ञ' शब्द तपस्वी के लिए भी क्यों न प्रयुक्त किया जाए ? इस पर कहते हैं —

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥६१॥

निर्-आहारस्य = विषयों को न भोगने वाले

देहिनः = (तपस्वी) व्यक्ति से

विषया = विषय,

रस-वर्जम् = रस की वासना मिटे बिना ही

विनिवर्तन्ते = मुंह मोड लेते हैं।

क्योंकि

रसः = (वासनात्मक) रस

अपि = तो

अस्य = इस का

परं = परमेश्वर को

दृष्ट्वा = देख कर ही

निवर्तते = छूट जाता है।

यद्यपि आहार्यैं— रूपादिभिर्विषयैः संबन्धोऽस्य नास्ति, तथापि तस्य विषया अन्तःकरणगतमुपराग-लक्षणं रसं वर्जयित्वा निवर्तते । अतो नासौ [1]स्थिरप्रज्ञः । योगिनस्तु परमेश्वरदर्शनादुपरागो न भवति, अन्यस्य तु तपस्विनो नासौ निवर्तते ॥६१॥

यद्यपि इस तपस्वी को भोग से सम्बद्ध, रूप आदि विषयों के साथ कोई लगाव नही होता तथापि उस के अन्तः करणों में ठहरे हुए वासनात्मक रस को हटाए बिना ही ऊपरी रूप से वे विषय, निवृत्त हुए होते हैं। अतः वह स्थिर—प्रज्ञ नही है। इसके उलट योगी को तो परमेश्वर का दर्शन करने से (विषयों के प्रति) वह वासनात्मक लगाव नहीं होता। इधर तपस्वी का यह (सूक्ष्म वासनामय राग) छूटा नहीं होता। (तपस्वी केवल अपनी तपस्या के बल से ही इन विषयों का त्याग करता है किन्तु इन का समूल नाश तो ईश्वर-दर्शन करने पर ही होता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६२॥

१. रसं केचिदास्वाद्यं मधुरादिकमाहुः इति क० ख० ग० पुस्तकेष्वधिकः पाठः।

२. प्रमथितुं विषयदर्शनमात्रेण व्याकुलीकर्तुं शीलं येषां, तानि प्रमाथीनीन्द्रियाणि रागादिदोषग्रस्तानि ।

कौन्तेय = हे अर्जुन !
यत् = जो कि
तस्य = उस
यततस्य = यत्नशील (तपस्वी)
विपश्चित: = बुद्धिमान्
पुरुषस्य = व्यक्ति के

अपि हि मन: = मन को भी
प्रमाथीनि = अत्यन्त प्रबल
इन्द्रियाणि = इन्द्रियां
प्रसभम् = बलजोरी
हरन्ति = घसीट लेती हैं।

यत् यस्मात् तस्यापि— तपस्विनो मन इन्द्रियैर्हियते; अथवा [1]यततस्य-सयत्नस्यापि योगिना च मन एव जेतव्यम्, इति द्वितीयो निर्णीत: ॥६२॥

जब कि उस तपस्वी का मन इन्द्रियों द्वारा हरा जाता है या उस यत्नशील साधक का भी मन हरा जा सकता है, (तो फिर) योगी को भी मन ही जीतना चाहिए। इस प्रकार दूसरे प्रश्न का भी समाधान हुआ।

तानि संयम्य मनसा युक्त आसीत मत्पर:।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६३॥

तानि = उन (इन्द्रियों) को
मनसा = मन (की एकाग्रता) से
संयम्य = वश में करके
युक्त: = योगस्थ होकर
मत्पर: = मुझ में
आसीत = टिक जाय
हि = क्योंकि

इन्द्रियाणि = इन्द्रियां
यस्य = जिस के (भी)
वशे = वश में होती हैं
तस्य = उस की (ही)
प्रज्ञा = प्रज्ञा
प्रतिष्ठिता = स्थिर होती है।

य एवं मनसा इन्द्रियाणि नियमयति, ननु अप्रवृत्या, स एव स्थिरप्रज्ञ:। स च मत्पर एवासीत— मामेव चिदात्मानं परमेश्वरं अभ्यस्येत् ॥६३॥

---

१. 'यती प्रयत्ने' इत्यस्मात् 'गत्यर्थाकर्मक' इति कर्तरि क्त:

जो योगी इस प्रकार (विवेकशील) मन से ही इन्द्रियों को सिधाता है, न कि बेबसी के कारण। वही तो स्थिरप्रज्ञ है। उसे चाहिए कि मुझ चिदात्मा परमेश्वर का ही अभ्यास करता रहे।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६४॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६५॥

विषयान् = विषयों का
ध्यायतः = ध्यान करने वाले
पुंसः = व्यक्ति का
तेषु = उन विषयों से (पहिले तो)
सङ्गः = लगाव
उपजायते = उत्पन्न होता है
संगात् = लगाव से
कामः = इच्छा (विषय-भोगने की)
संजायते = उत्पन्न होती है
कामात् = इच्छा (में बाधा पडने पर)
क्रोधः = क्रोध
उत्पन्न = उत्पन्न होता है।
क्रोधात् = क्रोध से
संमोहः = संमोह (नास्तिकता का भाव)
भवति = उपजता है।
संमोहात् = संमोह से
स्मृति-विभ्रमः = स्मरण ढीला पडता है।
स्मृति-भ्रंशाद् = स्मरण के ठिकाने न रहने से
बुद्धिनाशः = मत मारी जाती है।
बुद्धि-नाशात् = बुद्धि के नष्ट होने से
प्रणश्यति = वह कहीं का नहीं रहता।

तपस्विनो विषयत्याग एव विषयग्रहणे पर्यवस्यति। ध्यात्वा हि तं त्यज्यन्ते। ध्यानकाल एव च सङ्गादय उपजायन्ते, इत्यनुपायो विषयत्यागः स्थिरप्रज्ञस्य ॥६५॥

तपस्वी (साधक) का विषय-त्याग ही विषय-सेवन में परिणत हो जाता है। (विषयों का) ध्यान करते करते ही वह तपस्वी अपनी समझ में इन (विषयों का) त्याग करता है। किन्तु ध्यान के समय ही उन्हें इन विषयों में आसक्ति उत्पन्न होती है। इस के विपरीत, स्थिर-प्रज्ञ योगी उपाय का आश्रय लिए बिना अनायास ही सभी विषयों को (मन से) त्यागता है।

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६६॥

विधेयात्मा तु = आत्मवशी साधक तो
राग-द्वेष-विमुक्तैः = राग और द्वेष से छूटी हुई,
आत्म-वशैः = बस में की गई
इन्द्रियैः = इन्द्रियों से
विषयान् = विषयों को
चरन् = सेवन करता हुआ
प्रसादम् = अन्तः करण की निर्मलता को
अधिगच्छति = प्राप्त करता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६७॥

प्रसादे = (मन के) निर्मल होने से
अस्य = इस (योगी) के
सर्व = सभी
दुःखानाम् = दुःखों का
हानिः = अन्त
उपजायते = हो जाता है।
हि = क्योंकि
प्रसन्न-चेतसः = प्रसन्न-चित्त पुरुष की
बुद्धिः = बुद्धि,
आशुः = शीघ्र ही
परि-अवतिष्ठते = (समाधि में) पूरी तरह टिक जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६८॥

अयुक्तस्य = योग-हीन (डांवाडोल) व्यक्ति को
बुद्धिः = (विचार-परक) बुद्धि
न = नहीं
अस्ति = होती।
अयुक्तस्य = योग-हीन व्यक्ति की
भावना च = (प्रभु पर) श्रद्धा भी

न (अस्ति) = नहीं होती।
अभावयतः च = श्रद्धा-हीन को तो
न शान्तिः = शान्ति भी नही होती।
अशान्तस्य = अशान्त व्यक्ति को भला
सुखम् = सुख ही
कुतः = कहां हो सकता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।६९॥

हि = क्योंकि
यत् = जो
मनः = मन,
चरताम् = व्यापारशील
इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों के
अनुविधीयते = पीछे, मारा मारा फिरता है
तत् = वह
अम्भसि = पानी के अन्दर
वायुः = हवा
नावम् इव = जैसे नाव को (बहा ले जाती है वैसे ही)
अस्य = इस (जीव) की
प्रज्ञाम् = बुद्धि को
हरति — हर लेता है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वतः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥७०॥

महाबाहो = हे अर्जुन!
तस्मात् = इस लिए
यस्य = जिसकी
इन्द्रियाणि = इन्द्रियां
इन्द्रिय-अर्थेभ्यः = इन्द्रियों के विषयों से
सर्वतः = हर प्रकार
निगृहीतानि = समेट ली गई हैं,
तस्य = उस की
प्रज्ञा = बुद्धि
प्रतिष्ठिता = स्थिर (मानी जाती) है।

यस्तु मनसो नियामकः स विषयानसेवमानोऽपि न क्रोधादिकल्लोलैरभिभूयते इति स एव स्थिरप्रज्ञो योगी— इति तात्पर्यम् ॥७०॥

अब जिसने मन से ही इन्द्रियों को वश में किया हो, वह विषयों का सेवन करता हुआ भी क्रोध आदि आवेगों की लपेट में नहीं आता। वही तो स्थिर-प्रज्ञ योगी है।

'योगी च सर्वव्यवहारान् कुर्वाणोऽपि लोकोत्तरः'— इति निरूपयता परमेश्वरेण संक्षिप्यास्य स्वरूपं कथ्यते —

योगी तो सभी व्यवहार निभाता हुआ भी लोक साधारण से निराला है। इस का निर्णय करते हुए भगवान् स्थिर-प्रज्ञ योगी का लक्षण कहते हैं —

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा रात्रिः पश्यति मुनेः ॥७१॥

सर्व-भूतानाम् — सभी जीवों के लिए
या — जो
निशा — (माया रूपी) रात है
तस्याम् — उस में
संयमी — (स्थित-प्रज्ञ) योगी
जागर्ति — सजग रहता है। (और)

यस्याम् — जिस (लोक-व्यवहार रूपी दिन) में
भूतानि — सभी लोग
जाग्रति — जागते रहते हैं,
सा — वही
पश्यतः — तत्त्वदर्शी
मुनेः — मुनि की
रात्रिः — रात है।

या सर्वेषां भूतानां निशा— मोहनी माया तस्यां मुनिर्जागर्ति— कथमियं हेयेति। यस्यां च दशायां लोको जागर्ति— नानाविधां चेष्टां कुरुते, सा मुनेः रात्रिः यतोऽसौ व्यवहारं प्रत्यबुद्धः। एतदुक्तं भवति,— येयं माया खलु, तस्या मोहकत्वं नामरूपे सुखतन्त्रताभासनं च। तत्र— लोकः प्राच्यं स्वरूपमस्या अपरामृश्यैव द्वितीयस्मिन्रूपे निबद्धस्मृतिरास्ते। योगी तु तद्विपरीतस्तदीयं मोहकत्वं तदुन्मूलनाय पश्यति, सुखतन्त्रतां तु नाद्रियते। पश्यन् सम्यग्ज्ञानी, मिथ्याज्ञानोपघाताच्च सुखतन्त्रतानादरः। पश्यत एव सा रात्रिरीति चित्रम्। विद्यायां चावधत्ते योगी यत्र सर्वो विमूढः। अविद्यायां त्वबुद्धः; यत्र जनः प्रबुद्धः— इत्यपि चित्रम् ॥७१॥

जो, सभी प्राणियों की निशा— रात है, मोहित करने वाली माया है, उस में योगी सजग रहता है। विचारता रहता है कि कैसे इस माया से पल्ला छुडाऊँ। लोग जिस दशा में जागते हैं, भिन्न-भिन्न व्यवहार करते हैं वह, योगी के लिए रात है। क्योंकि संसारिक व्यवहार में वह जागृत नहीं रहता। बात तो यह है— जो यह माया है इस के तो दो रूप हैं। एक तो मोह में डालने वाला मोहित करने वाला, दूसरा सुख-तन्त्रता का आभास दिखाने वाला। संसारी तो इसके पहिले रूप की अवहेलना करके इसके दूसरे रूप सुख-तन्त्र के आभास में ही अपनी बुद्धि तथा मन को लगाते हैं। परन्तु योगी इस के विपरीत इस माया के मोहित करने वाले रूप को ही समूल नष्ट करने की ताक मे लगा रहता है। सुख तन्त्रता का आदर नहीं करता। अतः सम्यक् ज्ञानी तो मिथ्या ज्ञान का विनाश करता हुआ सुख के प्रपंच का तिरस्कार करता है। अतः वह सम्यक् ज्ञानी मोहित करने वाली (माया रूपी) रात्रि में चौकन्ना रहता है। इसकी ओर देखने पर भी यह उसके लिए रात है, यह आश्चर्य की बात है। योगी तो आत्म-विद्या में अवधान रखता है, जहां सभी सांसारिक जन मोहित बने रहते हैं। जिस अविद्या में सभी जन प्रबुद्ध होकर रहते हैं उस अविद्या को यह योगी अबुद्ध बन कर जानता ही नहीं है। यही उस के लिए रात्रि है। यह भी तो विस्मय की बात है।

अतएव—

इसलिए—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७२॥

आपूर्यमाणम् = लबालब भरे जाने पर भी

अचल-प्रतिष्ठम् = स्थिर रहने वाले

समुद्रम् — समुद्र के भीतर

यद्वत् — जैसे

आपः — जल के प्रवाह

प्रविशन्ति — घुसते घुसते ही शान्त हो जाते हैं

तद्वत् — वैसे ही

यम् — जिस (धैर्यवाम पुरुष) के भीतर

सर्वे = सभी
कामाः = कामनायें उपजते उपजते ही एकदम शांत हो जाती हैं
सः = वही (व्यक्ति)
शान्तिम् = (परम) शान्ति को
आप्नोति = प्राप्त करता है,
न = न कि
कामकामी = भोगों को चाहने वाला।

योगी न कामार्थं बहिर्धावति, अपित्विन्द्रियधर्मतया। तं विषया अनुप्रविशन्तो न तरङ्गयन्ति नदीवेगा इवोदधिम्। एवं तृतीयो निर्णीतः ॥७२॥

योगी, काम की पूर्ति के लिए नहीं दौड-धूप करता प्रत्युत इन्द्रियों का स्वभाव जान कर ही ऐसा करता है। विषय उसके मन में घुस कर भी उसे आपे से बाहर नहीं कर पाते, जैसे कि नदी का बहाव सागर में उफान नहीं लाता। इस प्रकार तीसरे प्रश्न का भी समाधान हुआ।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७३॥

यः = जो
पुमान् = पुरुष
सर्वान् = सभी
कामान् = अभिलाषाओं को
विहाय = तज कर (छोड कर)
निःस्पृहः = इच्छा से छूट जाता है,
निर्ममः = ममता से छूट जाता है,
निः-अहंकारः = (तथा) अहंकार से छूट जाता है,
सः = वह
शान्तिम = (तात्विक) शान्ति को
अधिगच्छति = प्राप्त करता है।

स योगी सर्वकामसंन्यासित्वात् शान्तिरूपं मोक्षमेति ॥७३॥

वह (स्थित प्रज्ञ) योगी, सभी कामनाओं का मन से परित्याग करके शान्ति रूप मोक्ष को प्राप्त होता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥७४॥

पार्थ = हे अर्जुन!
एषा = यह
ब्राह्मी = ब्रह्म (के साक्षात्कार) की
स्थितिः = अवस्था है।
एनाम् = इसे
प्राप्य = प्राप्त करके (साधक)
न विमुह्यति = मोह में नहीं पड़ता।
अन्तकाले = मरने के समय
अपि = भी
अस्याम = इस दशा में
स्थित्वा = ठहर कर
ब्रह्म-निर्वाणम् = ब्रह्मानन्द को
ऋच्छति = प्राप्त करता है।

एषासौ ब्रह्मसत्ता यस्यां क्षणमात्रं स्थित्वा— अवस्थितिं प्राप्य शरीरभेदात परमं ब्रह्माप्नोति, इति प्रश्नचतुष्टयं निर्णीतमिति शिवम् ॥७४॥

यही वह ब्रह्म-सत्ता है जिस में योगी एक क्षण भी ठहर कर या यूँ कहें कि इस परम पदवी को प्राप्त करके शरीर के छूटने पर परमब्रह्म को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह चौथा प्रश्न भी निर्णय किया गया।

अत्र संग्रहश्लोकः।

अहो नु चेतसश्चित्रा गतिस्त्यागेन यत्किल।
आरोहत्येव विषयान्भुञ्जंस्तांस्तु परित्यजेत् ॥२॥

सार-श्लोक

इस मन की गति भी विचित्र है। विषयों का त्याग करने से यह विषयों का (मन ही मन) भोग कराता है। (और इधर) विषयों का सेवन करते हुए (उनका) त्याग कर देता है।

इति श्री महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद विरचिते
श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (सांख्य योग नाम)
द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

श्रीमहामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद द्वारा रचित
श्रीमद्भगवद्गीतार्थ संग्रह नामक ग्रंथ का सांख्ययोग नाम वाला
दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ

अथ

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन बोले

जनार्दन = हे कृष्ण !
चेत् = यदि
बुद्धिः = बुद्धि-योग को
कर्मणः = कर्म से
ज्यायसि = श्रेष्ठ
ते = आप
मता = मानते हैं (तो फिर)
केशव = हे केशव !
माम् = मुझे
घोरे = भयानक
कर्मणि = कर्म करने में
किं = क्यों
नियोजयसि = झोंक रहे हैं ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

वि-आ-मिश्रेण = गिचमिच
इव = जैसे
वाक्येन = वचनों से
मे = मेरी
बुद्धिम् = बुद्धि को
मोहयसि इव = मोह में डाल से रहे हैं ।
तत् = अत:
निश्चित एकम् = एक ही ऐसे सिद्धान्त की बात
वद = कहिए
येन = जिस से
अहम् = मैं
श्रेयः = सच्चे कल्याण को
आप्नुयाम = प्राप्त करूंगा ।

कर्म उक्तं ज्ञानं च। तत्र न द्वयो: प्राधान्यं युक्तम अपितु ज्ञानस्य। तद्बलेन क्षपणीयत्वं यदि कर्मणां 'बुद्धियुक्तो जहातिमे' इत्यादिनयेन, मूलत एव तत्[1] कर्मणां किं प्रयोजनमिति प्रश्नाभिप्राय: ।। ।।

कर्म-योग तथा ज्ञान-योग दोनों ही आपने कहे। किन्तु ये दोनों ही तो प्रधान हो नही सकते। हाँ ज्ञान (अवश्य) प्रधान माना जा सकता है। "साधक बुद्धि-योग के आधार पर पुण्य और पाप इन दोनों कर्मों को त्यागता है" इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कर्मों को ज्ञान के बल-भूते पर त्यागने का उपदेश है फिर भला कर्म करने का प्रयोजन ही क्या है? यह प्रश्न का तात्पर्य है।

श्रीभगवांस्तूत्तरं ददाति—

मोक्ष-लक्ष्मी संपन्न भगवान् (कृष्ण) प्रश्न का उत्तर देते हैं—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

अनघ = हे निर्दोष अर्जुन !
अस्मिन् = इस संसार में
मया = मैं ने,
पुरा = पहले
द्विविधा = दो प्रकार का
निष्ठा = साध्य (साधन की परिपक्व अवस्था)
प्रोक्ता = कहा है
सांख्यानाम् = ज्ञानियों का
ज्ञान-योगेन = ज्ञान द्वारा
च = और
योगिनाम् = योगियों का
कर्मयोगेन = (निष्काम) कर्म-योग (द्वारा)

लोके एषा द्वयी गतिः प्रसिद्धा। सांख्यानां ज्ञानं प्रधानं योगिनां च कर्मेति। मया तु सैकैव निष्ठोक्ता ज्ञानक्रियामयत्वात्संवित्तत्त्वस्येति भावः ।।३।।

---

१. तर्हि इति क० पाठ: 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम' इति न्यायात्।

संसार में ये दो मार्ग प्रसिद्ध हैं। सांख्यवादियों में ज्ञान की प्रधानता है और योग-मार्ग में कर्म ही प्रधान है। पर मैंने वह उपर्युक्त निष्ठा— साधना एक ही मान कर कही है क्योंकि ज्ञान और क्रिया इन दोनों का स्वरूप संवित्तत्त्व है। या यूँ कहें कि संवित्तत्त्व में ज्ञान भी है, क्रिया भी। यह भाव है, इस श्लोक का।

तथाहि
इस भाव को स्पष्ट करते हैं—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

पुरुषः = मनुष्य,
कर्मणाम् = कर्मों का
अनु-आरम्भात् = आरम्भ ही न करने से
नैष्कर्म्यम् = निष्कर्मता (नाम वाली अवस्था) को
न = नहीं
अश्नुते = प्राप्त करता है।
च = और
न = नहीं
संन्यसनात् = कर्मों को त्यागने से
एव = ही
सिद्धिम् = मोक्ष रूप सिद्धि को
सम्-अधिगच्छति = प्राप्त करता है।

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

हि = क्योंकि
कश्चित् = कोई भी (व्यक्ति)
जातु = कभी
क्षणम् = क्षण-भर
अपि = भी
अकर्म-कृत् = बिना काम किए
न = नहीं
तिष्ठति = रहता
सर्वः हि = सभी व्यक्तियों को तो
प्रकृति-जैः गुणैः = प्रकृति से उत्पन्न हुए (सत्त्व, रज और तम नाम वाले) गुणों से
अवशः = बरबस होकर
कर्म = काम
कार्यते = कराया (ही) जाता है।

ज्ञानं कर्मणा रहितं न भवति, कर्म च कौशलोपेतं ज्ञानरहितं न भवति। इत्येकमेव वस्तु ज्ञानकर्मणी। तथा चोक्तं

'न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।
ज्ञानक्रियाविनिष्पन्न आचार्यः पशुपाशहा' ॥

इति। तस्माज्ज्ञानान्तर्वति कर्मापरिहार्यम्; यतः यत्नतः परवश एव कायवाङ्-मनसां परिस्पन्दात्मकत्वात् अवश्यं किंचित्करोति ॥५॥

ज्ञान, कर्म के बिना कोई माने नहीं रखता और कौशल-पूर्वक किया गया कर्म भी, ज्ञान के बिना किया नही जाता। इस प्रकार ज्ञान और कर्म एक ही वस्तु है। यही तो कहा है—

"ज्ञान, क्रिया के बिना हो नहीं सकता, क्रिया का ज्ञान के बिना होना असंभव है। ज्ञान और क्रिया के मर्मों (रहस्यों को जानने वाला आचार्य जीव के बन्धन को काट सकता है।"

इस लिए ज्ञान में अवस्थित कर्म, या यूँ कहें कि ज्ञान से प्रेरित कर्म, त्यागे नहीं जा सकते। क्योंकि मनुष्य विवश हो कर शरीर, वाणी और मन की चेष्टाओं के कारण कुछ न कुछ (कर्म) करता ही रहता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा [1]मूढाचारः स उच्यते ॥६॥

विमूढ-आत्मा = मोह में पड़ा हुआ
यः = जो (व्यक्ति)
कर्म-इन्द्रियाणि = कर्म-इन्द्रियों को
संयम्य = (बल-पूर्वक) बस में करके
इन्द्रिय-अर्थान् = इन्द्रियों के (शब्द आदि) भोगों को
मनसा = मन से
स्मरन् = सोचता
आस्त = रहता है,
सः = वह
मूढ-आचारः मूर्खों के से व्यवहार वाला
उच्यते = कहलाता है।

[1] मिथ्याचार इति ग० पाठ०

कर्मेन्द्रियश्चेन्न करोति, अवश्यं तर्हि मनसा करोति । प्रत्युत मूढाचारः— मानसानां कर्मणामत्यन्तमपरिहार्यत्वात् ॥६॥

(कोई भी व्यक्ति) यदि हाथ पैर नेत्र आदि कर्म-इन्द्रियों के द्वारा कोई कार्य न भी करे, फिर भी अवश्य मन से संकल्प-विकल्प करता ही रहता है। (ऐसा व्यक्ति साधक न कहलाकर) मूढ-आचार वाला— मोह के वश में आकर ही आचरण करता है। क्योंकि मन के संकल्प-विकल्प रूप कर्म तो, बिल्कुल ही त्यागे नहीं जा सकते।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

अर्जुन = हे अर्जुन !
यः तु = जो (व्यक्ति)
मनसा = मन से
इन्द्रियाणि = इन्द्रियों को
नियम्य = सिधा कर
कर्मेन्द्रियैः = कर्म-इन्द्रियों से
कर्म-योगम् = कर्म-योग की
आरभ्यते = साधना करता है
सः = वह
असक्तः = (विषयों को भोगते हुए भी विषयों से) न्यारा (होने के कारण)
विशिष्यते = विशेष (कोटि का) ठहरता है।

कर्मसु क्रियमाणेषु न ज्ञानहानिः— मनसोऽव्यापारे यन्त्रपुरुषवत्कर्मणः क्रियमाणत्वात् ॥७॥

कर्म, ढब से किए जाएँ तो ज्ञान का कुछ भी नहीं बिगडता। (किसी भी कार्य में उस कार्य के प्रति) मानसिक संलग्नता को छोड कर यन्त्र-पुरुष की भाँति (राग, द्वेष से रहित होकर केवल कर्तव्य जान कर) कर्म किये जाएँ तो (वह साधक श्रेष्ठ माना जाता है।)

अतः—

इस लिए—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
**शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८

त्वम् — तुम
नियतम = शास्त्रों के आदेश के अनुसार,
कर्म = कर्म
कुरु = करो
हि = क्योंकि
अकर्मणः = कर्म न करने की अपेक्षा
कर्म = कर्म करना ही
ज्यायः = श्रेष्ठ है
च = और
अकर्मणः = कर्म न करने से
ते = तुम्हारी
शरीर-यात्रा = शरीर की दौड़-धूप
अपि = भी तो
न = नहीं
प्रसिद्ध्येत् = हो पाएगी ।

नियतं — शास्त्रीयं कर्म कुरु शरीरयात्रामात्रस्यापि कर्माधीनत्वात् ॥८॥

शास्त्र में कहे गये कर्मों को करता जा क्योंकि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए कर्मों का ही आश्रय लेना पडता है। यतः सभी व्यवहार कर्मों के ही अधीन हैं।

यतः—
क्योंकि—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञ-अर्थात् = यज्ञ की भावना से (किए जाने वाले)
कर्मणः = कर्म के सिवाय
अन्यत्र = अन्य सांसारिक कर्मों में (लगा हुआ ही)
अयम = यह
लोकः = मनुष्य
कर्मबन्धनः = कर्मों द्वारा बंधा जाता है।
कौन्तेय = हे अर्जुन !
मुक्तसङ्गः = लगाव से छूट कर
तदर्थम् = केवल परमात्मा के निमित्त
कर्म = कर्म
सम्-आचार = करते रहो।

यज्ञार्थात्— अवश्यकरणीयात् अन्यानि कर्माणि बन्धकानि। अवश्यकर्तव्यं मुक्तफलसङ्गतया क्रियमाणं न फलदम् । ९॥

यज्ञ के लिए — अवश्य करने योग्य कर्मों को छोड़ कर दूसरे कर्म बन्धक हैं। आवश्यक कर्म (भी) यदि कामनाओं की लालसा छोड़ कर किए जाएँ तो (बांधने वाला) फल नहीं देते।

सहयज्ञाः प्रजासृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

प्रजापति: = ब्रह्मा ने,
पुरा = (कल्प के) आरम्भ में
सह-यज्ञा: = यज्ञ-सहित
प्रजा: = प्रजा को
सृष्ट्वा = सृष्टि करके
उवाच = (उन से) कहा कि
अनेन = इस यज्ञ से (तुम सभी)
प्र-सविष्यध्वम् = फूलो फलो,
एष: = यह यज्ञ
व: = तुम्हें
इष्ट-काम-धुक् = मन चाहे कामनाओं को देने वाला
अस्तु = होगा।

प्रजापति:— परमात्मा प्रजा: **सहैव कर्मभि: ससर्ज। उक्तं च तेन प्रजानां कर्मभ्य एव प्रसव:** सन्तान:, **एतान्येव चेष्टं संसारं मोक्षं वा दास्यन्ति। सङ्गात् संसारं मुक्तसङ्गत्वान्मोक्षम्** ॥१०॥

परमात्मा जब सृष्टि के प्रारम्भ में जीवों को कर्मों सहित उत्पन्न करने लगा तो उसने अपनी प्रजा से कहा कि कर्म करने से तुम्हारी उत्पत्ति तथा संतति स्थिर और चिरजीवी होगी। इसके अतिरिक्त ये कर्म, तुम्हें सांसारिक अभीष्ट पदार्थों को और मोक्ष को भी देंगे। कर्मों की आसक्ति से पुनर्जन्म मिलेगा और अनासक्त— निष्काम कर्म से मोक्ष मिलेगा।

यत्र येषां मोक्षप्राधन्यं तैरेव विषया: सेव्या इत्युच्यते

इन यज्ञ आदि कर्मों में जो व्यक्ति मोक्ष को ही प्रधान लक्ष्य मानते हैं उन्हीं के लिए विषयों का उपभोग करना उचित है। यही कहते हैं—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

अनेन = इस यज्ञ द्वारा
देवान् = इन्द्रियों की
भावयत: = भावना करने से (उन्हें भोगों का सेवन करवाने से)
ते = वे
देवा: = इन्द्रियां
वः = तुम्हें (भावना करेंगी) अर्थात् अभीष्ट फल प्रदान करेंगी ।
परस्परम् = (इस तरह) एक दूसरे का
भावयन्त: = भावना करते हुए
(त्वम्) = तुम
परम् = सर्वोत्तम (पारमार्थिक)
श्रेय: = कल्याण को
अवाप्स्यथ = प्राप्त करोगे ।

देवाः— क्रीडनशीला इन्द्रिवृत्तयः करणेश्वर्यो देवता रहस्यशास्त्रप्रसिद्धाः, ता अनेन कर्मणा तर्पयत— यथासंभवं विषयान्भक्षयतेत्यर्थः। तृप्ताश्च सत्यस्ता वो—युष्मान् आत्मन एव स्वरूपमात्रोचितापवर्गान् भावयन्तु— स्वात्मस्थितियोग्यत्वत्। एवमनवरत व्युथानसमाधिसमयपरम्परायामिन्द्रियतर्पणतदात्मसाद्भावलक्षणे परस्परभावने सति शीघ्रमेव परमं श्रेयः— परापरभेदविगलनलक्षणं ब्रह्म प्राप्स्यथ ॥११॥

क्रीडा करना ही जिनका स्वभाव है उन इन्द्रियों की वृत्ति को 'देव' कहते हैं। जो करणेश्वरी देवियां (शैव आदि रहस्य शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं) उन्हें इन (विषयों से संबद्ध) कर्मों से तृप्त करो (और) यथा संभव (संभवानुसार) विषयों का सेवन करते रहो। यह अर्थ है। तृप्त होने पर वे इन्द्रिय देवियां तुम्हें अवश्य आत्म-स्वरूप-प्रथनात्मक मोक्ष-फल को देंगी। (उनकी) भावना करने से— उन्हें खिलाने पिलाने से (वे तुम्हें) स्वात्म-स्थिति के योग्य बनायेंगी। इस प्रकार निरन्तर व्युत्थान और समाधि के क्रम में जब तुम स्वयं इन्द्रियों को तृप्त करोगे तो इस भांति आत्मसात् कराने वाले आदान प्रदान से, भेद-वाद को नष्ट करने वाले अति उच्च कल्याण-प्रद ब्रह्म को शीघ्र ही प्राप्त करोगे।

न केवलमित्थमपवर्गो यावत्सिद्धिलाभेऽप्ययं मार्ग इत्याह

यह मार्ग न केवल मोक्ष-प्राप्ति के लिए ही कहा गया है अपितु लौकिक सिद्धि को प्राप्त करने के लिए भी यही मार्ग है। यही कहते हैं—

इष्टान्कामान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञ-भाविताः = यज्ञ से तृप्त की गई
देवाः = इन्द्रियां,
वः = तुम्हें
इष्टान् = मन चाहे।
कामान् = भोगों को
दास्यन्ते = देंगी। (अतः)
तैः = उन के द्वारा
दत्तान् = दिये हुए (सुखों को)

एभ्यः = इन इन्द्रियों को
अप्रदाय = दिये बिना
हि = ही
यः = जो
भुङ्क्ते = (भोग) भोगता है
सः = वह (तो)
स्तेनः एव = निरा चोर है।

यज्ञतर्पितानि ही इन्द्रियाणि स्थितिं बध्नन्ति यत्र क्वापि ध्येयावित्ति। अत एव तद्व्यापारे सति तेषां विषयाणां स्मृतिसंकल्पध्यानादिना भावाः विषया इन्द्रियैरेव दत्ता यदि तेषामेव उपभोगाय न दीयन्ते तर्हि स्तेनत्वं— चौर्यं स्यात् छद्मचारित्वात्। उक्तं हि पूर्वमेव भगवता 'मूढाचारः स उच्यते' इति। अतोऽयं वाक्यार्थः— यः सुखोपायं सिद्धिमपवर्गं वा प्रेप्सति, तेन इन्द्रियकौतुकनिवृत्तिमात्रफलतयैव भोगा यथोपनतमासेव्या इति ।१२॥

यज्ञ— अर्थात् शब्द, स्पर्श आदि विषयों से तृप्त की गई इन्द्रियां ही किसी भी उद्देश्य की सिद्धि में टिक जाती हैं। ऐसी स्थिति में विषय तो, स्मृति, संकल्प, ध्यान आदि द्वारा ही संभव हैं अतः विषय तो इन्द्रियों ही की देन हैं या यूं कहें कि ये विषय इन्द्रियों की प्रणालियों से ही प्रकट होते हैं यदि उन्हीं इन्द्रियों को भोग चखायें न जाएं, यही तो चोरी ठहरी, छल-कपट की बात ठहरी। पहिले भी तो भगवान् ने कहा है कि "वह तो मूढ आचरण वाला कहलाता है।" सार यह है कि जो (साधक) सहज रूप से संसार या मोक्ष की सिद्धि को चाहता हो उसे चाहिए कि वह इन्द्रियों की कुतूहलता को शान्त करने के लिए हीउपस्थित भोगों का सहज रूप में यानी यथोचित रूप में सेवन करे।

यज्ञशिष्टाशिनाः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञ-शिष्ट-अशिनः = इन्द्रियों को विषयों का भोग कराने के बाद जिस आत्म-यज्ञ की प्राप्ति होती है उसी का अनुभव करने वाले

सन्तः = जो श्रेष्ट पुरुष हैं (वे)

सर्व-किल्विषैः = सभी पापों से

मुच्यन्ते = छूट जाते हैं

ये = जो

पापाः = दुष्ट (जीव)

आत्म-कारणात् = अपने (व्यक्ति-गत भोग के) लिए ही

पचन्ति = सचेष्ट रहते हैं

ते तु = वे तो

अघम् = पाप ही को

भुञ्जते = भोगते हैं।

अवश्यकर्तव्यतारूपशासनमहिमायातान्भोगान् येऽश्नन्ति अवान्तरव्यापारमात्रतया, अतएव च पृथक्फलत्वाभावाङ्गतया। अथ च— इन्द्रियात्मकदेवगण तर्पणलक्षणयज्ञात् अवशिष्टम्— अन्तः सारस्वात्मस्थित्यानन्दलक्षणविघसं येऽश्नन्ति— तत्रारूढा भवन्ति तदुपादेयोपायतया तु विषयभोगं वाञ्छन्ति, ते सर्वकिल्विषैः— शुभाशुभैर्मुच्यन्ते। ये तु आत्मकारणादिति —अविद्यावशात् स्थूलमेव विषयभोगं परत्वेन मन्वानाः 'आत्मार्थमिदं वयं कुर्मः'— इति कुर्वते। त एव अघं— शुभाशुभात्मकं लभन्ते ॥१३॥

जिन कर्मों का करना आवश्यक है, ऐसे कर्मों का विभाग करने वाले शास्त्र में कहे गये भोगों को जो गौण रूप से ही भोगते हैं और इसी कारण से पृथक् फलों के विशेष अंगों का परित्याग करते हैं।

अथवा— इन्द्रिय देवताओं को (विषयों का भोग कराना ही) जो तर्पण रूप यज्ञ हैं उसे कराके शेष बचे हुए आनन्द रूप चरू (हुतशेष) का जिस अवस्था में भक्षण होता है, उस अवस्था में स्थित रहते हैं और उसी को प्राप्त करने के लिए विषय-भोगों का सेवन करते हैं वे सब पापों से शुभ तथा अशुभ (कहलाने वाले) दोनों प्रकार के फलों से मुक्त होते हैं।

अब जो केवल अपने लिए ही अविद्या के वश में पड कर, स्थूल-विषय-भोगों को ही सर्वोच्च मानते हैं तथा इस भावना से कम करते हैं कि "हम आत्मा

के लिए ही सभी कार्य कर रहे हैं" ऐसे जीव ही शुभ तथा अशुभ कर्म के बन्धन में पड़ कर पाप भोगते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्नात् = (षट्-कंचुक नामक) अन्न से
भूतानि = (भिन्न-भिन्न) प्राणी
भवन्ति = बनते हैं।
अन्न-संभवः = उस षट्-कंचुक की उत्पत्ति
पर्जन्यात् = (भोक्ता रूपी) बादल से होती है।
पर्जन्यः = भोक्ता,
यज्ञात् = (आत्मा को तृप्त करने वाले) यज्ञ से
भवति = उत्पन्न होता है
यज्ञः = वह (स्वात्म) यज्ञ
कर्म-सम्-उद्भवः = कर्मों से ही संभव है।

कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

कर्म = कर्मों को (तुम)
ब्रह्म-उद्भवम् = ब्रह्म से उत्पन्न हुआ (ही)
विद्धि = जान लो।
ब्रह्म = ब्रह्म,
अक्षर = सदा रहने वाले संवित् से
सम्-उद्भवम् = उत्पन्न हुआ है।
तस्मात् = इस प्रकार
सर्व-गतम् = सर्वव्यापक
ब्रह्म = परमात्मा
नित्यम् = सदा ही
यज्ञे = (विद्या और अविद्या के उछाल से सुन्दर बने हुए) यज्ञ में
प्रतिष्ठितम् = ठहरा है।

अन्नात्—अविभागभोग्यस्वभावात् कथञ्चिन्मायाविद्याकालाद्यनेकापरपर्यायात् भूतानि विचित्राणि भवन्ति। तच्चान्नं पर्जन्यात—अविच्छिन्नसंवित्स्वभावादात्मनः भोक्तृतन्त्रात्मलाभत्वाद्भोग्यतायाः। स च पर्जन्यो— भोक्ता यज्ञात भोगक्रियायत्तत्वाद्भोक्तृत्वस्य। भोगक्रिया च कर्मणः— क्रियाशक्तिस्वातन्त्र्यबलात्। तच्च स्वातन्त्र्यम्— अविच्छिन्नमपि अनवच्छिन्नानन्तस्वातन्त्र्यपूर्णसमुच्छलन्महेश्वरभावपरमात्मब्रह्मसंस्पर्शवशात। तच्च उच्छलदच्छ।

नाच्छादितैश्वर्यं ब्रह्म अक्षरात्— प्रशान्ताशेषैश्वर्यतरङ्गात्संविन्मात्रात्। इत्येवं सुव्यवस्थितोऽयं यज्ञः षडरं चक्रं वाहयन् अरात्रयसन्धानादपवर्गम् अरात्रयतन्त्रणाद्व्यवहारमासूत्रयति। इति विद्याविद्योल्लासतरङ्गसुभगं ब्रह्म यज्ञे एव प्रतिष्ठितम्। अन्ये तु— अन्नं तावद्वीर्यलोहितक्रमेण भूतकारणम्, अन्नं च वृष्टिद्वारेण पर्जन्यात्, सोऽपि[1] यज्ञात्, यज्ञः क्रियातः, सा च ज्ञानपूर्वका, ज्ञानमक्षरात्, इति। अपरे[2] तु— अन्नम्— अद्यमानं विषयपञ्चकमाश्रित्य भूतानि— इन्द्रियाणि, विषयाश्चात्मस्फुरितरूपाः। अत आत्मैव विषयोपभोगेन पोष्यते। अतश्च सर्वगतं ब्रह्म कर्मणि प्रतिष्ठितम्— तन्मयत्वात्तस्य ॥१५॥

माया, विद्या, काल आदि अनेक तत्त्व जो अविभक्त रूप में ही भोगे जा सकते हैं अन्न कहलाते हैं। इसी माया, कला आदि अनेक भिन्न नामों वाले भोग्य रूप अन्न से अनेक प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं। वह (माया आदि), अन्न मेघ से— सदा रहने वाले संविद्रूप भोक्ता से उत्पन्न होता है। यतः सभी भोग्य-पदार्थ भोक्ता (प्रमाता) के अधीन ही रहते हैं। वह भोक्ता रूप पर्जन्य (बादल) यज्ञ से उत्पन्न होता है। वह भोग-क्रिया भी, कर्मों से क्रिया-शक्ति रूप स्वातन्त्र्य से उत्पन्न होती है। वह विभाग में बटा हुआ स्वातन्त्र्य भी (वास्तव में) उस अनवच्छिन्न, स्वातन्त्र्य-पूर्ण ब्रह्म से उत्पन्न होता है जो सर्वतः विकसित परमात्मा ही माना गया है। वह सब ओर से ही विकास-पूर्ण, निर्मल, अनाच्छादित, ऐश्वर्य से युक्त ब्रह्म से अक्षर से अर्थात् उस संवित स्वरूप से उत्पन्न होता है, जिस अक्षर में सभी ऐश्वर्य की तरंगें एकदम शान्त बनी होती हैं। इसी प्रकार भली-भाँति सुव्यवस्थित यह यज्ञ छः अराओं वाले चक्र को घुमाता है। जिन में पहिले तीन अराओं से संसार के व्यवहार को चलाता है और अन्य तीन अराओं से मोक्ष को देता है। इस प्रकार विद्या तथा अविद्या की उल्लसित तरंगों से सुशोभित बना हुआ ब्रह्म, यज्ञ में ही ठहरा है।

कई इसका अर्थ यूँ करते हैं— अन्न, प्राणियों के वीर्य और रक्त को बढ़ाता है। अन्न, वर्षा के द्वारा बादल से उत्पन्न होता है। यज्ञ करने से वह बादल पृथ्वी पर बरसता है। वह बादल भी यज्ञ से उत्पन्न होता है। यज्ञ, क्रिया से किया जाता है। क्रिया भी ज्ञान के द्वारा की जाती है और ज्ञान अक्षर— ईश्वर से उत्पन्न होता है।

---

१ सोऽपीत्यनन्तरम् ''अग्नौ प्रास्ताहुतिरादित्यमेति, ततो वृष्टिः इत्यधिकः पाठः क० ख० घ० पुस्तकेषु।

२ ल्यब्लोपे पञ्चमीति पक्षमाश्रित्य व्याचक्षते।

अन्य टीकाकार यूँ कहते है— अन्न— भोगने में आये हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयों के आधार पर प्राणी— इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। सभी विषय, आत्मा को स्फूर्ति देने वाले हैं। अतः विषयों के भोगने से आत्मा ही की पुष्टि होती है। इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म, कर्मों (के करने) में ही ठहरा है क्योंकि ब्रह्म कर्म-मय, (स्पन्दमय) है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

पार्थ = हे अर्जुन !
यः = जो
एवम् = इसी रीति से
प्रवर्तितम् = चलाए हुए
चक्रम् = (यज्ञरूप) चक्र के
न अनुवर्तयति = अनुसार नहीं चलता है।
सः = वह
इह = इस संसार में
अघ-आयुः = पाप का जीवन जीने वाला,
इन्द्रिय-आरामः = इन्द्रियों के सुख में लगा हुआ,
मोघम = व्यर्थ बेकार ही
जीवित = जीता है।

यस्त्वेवं नाङ्गीकरोति स पापमयः। यतः स इन्द्रियेष्वेव रमते नात्मनि ॥१६।

जो, इस प्रकार (यज्ञ-भावना से कर्म) नहीं करता है, वह पापी है। क्योंकि वह इन्द्रियों और उनके विषयों में ही लगा रहता है, आत्मा में नहीं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

यः च = अब जो
मानवः = मनुष्य,
आत्म-रतिः एव = आत्मा में ही रमण करता हो।
आत्म-तृप्तः च = आत्मा में ही रहता हो
आत्मनि एव सन्तुष्टः च = और आत्मा में ही सन्तुष्ट
स्याद् = हो
तस्य = उसे
कार्यं = (कोई) काम करना
न विद्यते = शेष नहीं रहता (वह तो आप्त-काम है।)

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

तस्य = ऐसे (**आप्त-काम**) पुरुष का,
इह = **इस** संसार में
कृतेन = काम करने से
एव = भी
अर्थ: न = कोई प्रयोजन नहीं है।
न = नहीं
अकृतेन = न करने से
कश्चन (**अर्थ:**) = कोई अपना प्रयोजन होता है
न च = **और** न
अस्य = ऐसे सिद्ध व्यक्ति के लिए
सर्व-भूतेषु = प्राणि-वर्ग से
कश्चित् = कोई
अर्थ-वि-अप आश्रय = स्वार्थ का संबन्ध
न (भवति) = नहीं होता।

आत्मरतेस्तु—कर्मेन्द्रियव्यापारतयैव कुर्वत: **करणाकरणेषु समता। अत एव नासौ** भूतेषु **किंचिदात्मप्रयोजनमपेक्ष्य** निग्रहानुग्रहौ करोति, अपितु **करणीयमिदम्—इत्येतावता** ॥१८॥

आत्मा में लगाव रखने वाले पुरुष को यूँ कहें कि **इंद्रियों** से काम लेने **वाले** व्यक्ति को **कर्मों** का करना या न करना एक समान ही प्रतीत होता है। **इसी लिये** यह आत्म-प्रयोजन से **किसी को** शाप रूप निग्रह **और** दयामय अनुग्रह नहीं **करता**, **अपितु** कर्तव्य जान कर ही वह सभी शास्त्रीय कर्मों को करते हुए सक्रिय रहता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥१९॥

जनकादय: = जनक आदि
हि = भी
कर्मणा एव = कर्म करने से ही
संसिद्धिम् = उच्च सिद्धि को
आस्थिता: = प्राप्त हुए हैं (अत:)
लोक-संग्रहम् = लोक-व्यवहार को
संपश्यन् अपि = देखते हुए भी
(त्वम्) = तुम्हें
कर्तुम एव = कर्म करना ही
अर्हसि = चाहिए।

तदत्र कुर्वतामपि सिद्धौ जनकादयो दृष्टान्तः ॥१९॥

इसी कारण यहाँ कर्म करने वाले पुरुषों की सिद्धि के आधार पर जनक आदि (कर्म योगियों) का दृष्टान्त दिया गया।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२०॥

श्रेष्ठः = मान्य-व्यक्ति,

यत् यत् = जो (भी) कुछ

आचरति = आचरण करता है

इतरः = अन्य

जनः = व्यक्ति

तत् तत् = उसका

एव = ही

(आचरति) = अनुकरण करते हैं।

सः = वह श्रेष्ठ पुरुष

यत् = जिस (आचरण) को

प्रमाणम् = प्रमाणित

कुरुते = करता है

लोकः = अन्य लोग

तत्-अनुवर्तते = उसी के पीछे पीछे चलते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तव्यमवाप्तव्यं प्रवर्तेऽथ च कर्मणि ॥२१॥

पार्थ = हे अर्जुन !

मे = मुझे

त्रिषु = तीनों

लोकेषु = लोकों में

किंचन = कोई भी

कर्तव्यम् = कर्तव्य (कर्म) करने वाला

न = नहीं

अस्ति = है

अन-अव-आप्तम् = यतः मुझे प्राप्त न की हुई कोई वस्तु

न वा आप्तव्यम् = पाने को नहीं है

अथ च = फिर भी

कर्माणि = कर्म करने में

प्रवर्ते = लगा ही रहता हूं।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२२॥

पार्थ = हे अर्जुन !
अहम् = मैं
यदि = यदि
जातु = कभी
अतन्द्रितः = सावधान होकर
कर्मणि = कर्म
न हि = न
वर्तेयम् = करूँ (तो)

मनुष्याः = मनुष्य
सर्वशः = प्रायः
मम = मेरे ही
वर्त्म = (रास्ते पर अनुसार)
अनुवर्तेरन् = चलेंगे। (वे भी कर्म करना छोड देंगे।)

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२३॥

(इत्येवम्) — अतः इस प्रकार
चेत् = यदि
अहम् = मैं
कर्म = कर्म
न = नहीं
कुर्याम् = करूँगा (तो)
इमे = ये
लोका = (सभी) लोग

उत्सीदेयुः = कहीं के नहीं रहेंगे
च = और (मैं)
संकरस्य = वर्ण-संकर का
कर्ता = हेतु
स्याम् = बनूँगा (तथा)
इमाः = इन सभी
प्रजाः = मनुष्यों को
उपहन्याम् = नष्ट-भ्रष्ट करने का कारण बनूँगा।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥२४॥

तस्मात् = इस लिए
सततम् = सदा
असक्तः = असंग (बेलाग होकर)
कार्यम् = शास्त्रीय

कर्म = कर्मों को
समाचर = करो
हि = क्योंकि
पूरुषः = पुरुष तो

असक्तः = आसक्ति के बिना
कर्म = कर्म
आचरन् = करते हुए (ही)
परम् = परम-धाम (मोक्ष) को
आप्नोति = प्राप्त करता है।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

भारत = हे अर्जुन !
यथा = जैसे
कर्मणि = कर्म में
सक्ताः = (हृदय से) लगे हुए
अविद्वांसः = अज्ञानी (जन)
कुर्वन्ति = (कर्म) करते हैं
तथा = वैसे (ही)
लोक-संग्रहम् = लोगों का कल्याण
चिकीर्षुः = चाहता हुआ
विद्वान् = ज्ञानी,
असक्तः = बेलाग होकर (कर्तव्य मात्र समझ कर)
कर्म = कर्म
कुर्यात् = करे।

प्राप्तप्रापणीयस्य परिपूर्णमनसोऽपि कर्मप्रवृत्तौ लोकानुग्रहः प्रयोजनम् — इत्यत्र श्रीभगवानात्मानमेव दृष्टान्तीकरोति। तस्मादसक्त एव करणीयं कर्म कुर्यात्। किंच विदितवेद्यः कर्म चेत् त्यजेत् तल्लोकानां दुर्भेद[1] एवैकप्रसिद्धपक्षशिथिलितास्थाबन्धत्वेनाप्ररूढिलक्षणो जायते। यतः कर्मवासनां च न मोक्तुं शक्नुवन्ति ज्ञानधारां च नाश्रयतुम्। अथ च शिथिलीभवन्ति ॥२५॥

पाने योग्य लक्ष्य को पाकर जो कृतकृत्य हो चुका हो, वह भी कर्म, इसीलिए करता है कि लोगों का भला हो। इसीलिए यहाँ भगवान् स्वयं अपना ही दृष्टान्त देते हैं। अतः बेलाग होकर ही कर्मों को करना ठीक है।

दूसरी बात यह है--- जो अपने लक्ष्य पर पहुंच गए हैं वे यदि कर्म करना छोड दें तो शास्त्र में कहे गए प्रसिद्ध यज्ञ आदि कर्मों के करने की परिपाटी ढीली पड जाएगी और दुराग्रह रूपी पापमय कर्म ही का बोलबाला होगा। क्योंकि ऐसे

---

१. दुराग्रहः इत्यर्थः।

(अविवेकी) न तो कर्म की वासना ही से छुटकारा पा सकते हैं, नहीं ज्ञान का आसरा ले सकते हैं। प्रत्युत वे ढीले पड जाते हैं।

यतस्ते न सम्यग्ज्ञानेन पूताः; अतो बुद्धभेदनविचालनं तेषां परमोऽनर्थं इत्यनुग्रहाय भेदयेन्न-धियमेषाम्; तदाह

यतः वे (अज्ञानी) सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति से पवित्र नहीं हुए हैं अतः उनकी बुद्धि को डांवा-डोल करने से उनका बहुत ही अहित होगा। उनके भले को दृष्टि में रख कर उनकी बुद्धि को विचलित नहीं करना चाहिए। यही कहते हैं—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

युक्तः = योग में स्थित
विद्वान् = विद्वान्
कर्म-संगिनाम = कर्मों में लगाव रखने वाले
अज्ञानाम् = अज्ञानियों की
बुद्धि-भेदम = बुद्धि में गड़-बड़
जनयेत् न = पैदा न करे।
(अपितु) = (प्रत्युत)
सर्व-कर्माणि = सभी कर्मों को
समाचरन् = करता हुआ (उन्हें) भी यथा-उचित कर्म करने के लिए
जोषयेत् = प्रेरित करे।

स्वयं चैवं बुद्धयमानः कर्माणि कुर्यात् । न च लोकानां बुद्धिं भिन्द्यात ॥२६॥

इस प्रकार अनासक्त बनकर कर्मों को (विवेकी जन) स्वयं करता जाए, पर अज्ञानी जनों को अद्वैत-कथा कह कर उन की बुद्धि को विचलित न करे। (अथवा) लोगों की बुद्धि को शास्त्रीय कर्मों के करने से विचलित न करे।

अज्ञानमित्युक्तं; तदज्ञत्वं दर्शयति

अज्ञान का वर्णन तो उपर्युक्त श्लोक में किया गया। (अब वह अज्ञता क्या है) उस अज्ञता का वर्णन करते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि भागशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

कर्माणि = कर्म तो
प्रकृतेः = प्रकृति के
गुणैः = सत्त्व, रज तथा तम नाम वाले गुणों से ही
भागशः = यथा-समय
क्रियमाणानि = किये जाते हैं
अहंकार = (किन्तु) अहंकार से
विमूढ-आत्मा = जिसकी आत्मा अपने स्वरूप को खो चुकी है, ऐसा व्यक्ति
अहम् = "मैं ही
कर्ता = काम करने वाला हूँ"
इति = ऐसा
मन्यते = मानता है।

प्रकृतिसंबन्धिभिर्गुणैः—सत्त्वाद्यैः किल कर्माणि क्रियन्ते। मूढश्चाहं कर्तेत्यध्यवस्य[1] मिथ्यैवात्मानं बध्नाति ॥२७॥

सत्य तो यह है कि प्रकृति के सत्त्वगुण आदि (रजोगुण तथा तमोगुण) से सभी कर्म किए जाते हैं। मूर्ख तो 'मैं ही सभी कर्म करने वाला हूँ' ऐसे निश्चय से अपने को बेकार में बाँधता है। (अतः शुभ और अशुभ कर्म की जंजीरों में जकड़ा जाता है)।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणार्थे वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

महाबाहो = हे अर्जुन!
गुण-कर्म-विभागयोः = गुण और कर्मों के विभाग का
तत्त्व-वित् = मर्मज्ञ,
तु = तो (यह समझता है कि)
गुणाः = (ये) गुण
गुण-अर्थे = (अपने अपने) सत्त्व, रज और तम रूप प्रकृति में
वर्तन्ते = रहते है
इति = ऐसा
मत्वा = मान कर
(सः) = वह
सज्जते न = कर्मों में बंधा नहीं जाता।

१. अध्यस्य, इति घ० पाठः।

गुणकर्मविभागतत्त्ववित्तु, प्रकृतिः करोति, मम किमायातम्—– इत्यात्मानं मोचयति ॥२८।

गुणों और कर्मों के विभाग-तत्त्व को जानने वाला (व्यक्ति) तो यह मानता है कि प्रकृति ही सभी कार्य करती है, फिर इस में मेरा क्या ? इस विचार से (वह) अपने को मुक्त करता है।

कर्मसङ्गिनामित्युक्तम्, तत् कर्मसङ्गित्वं दर्शयति।

कर्मों में आसक्त पुरुषों की बात हो चुकी, अब कर्म में आसक्ति की बात छेड़ते हैं।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

गुण-संमूढाः = गुणों से मोहित बने हुए पुरुष,
प्रकृतेः = प्रकृति के
गुण-कर्मसु = गुणों और कर्मों में
सज्जन्ते = लिप्त होते हैं,
तान् = उन
अकृत्स्नविदः = अच्छी प्रकार न समझने वाले
मन्दान् = मूर्खों को
कृत्स्नवित् = अच्छी प्रकार जानने वाला (ज्ञानी पुरुष)
न विचालयेत् = कहीं भटका न दे।

प्रकृतिसंबन्धिभिर्गुणैः सत्त्वाद्यैः कृतेषु कर्मसु मूढाः सज्जन्ति सत्त्वादिगुणमाहात्म्यात्। तस्माद्युक्तः सन् जुषेत कर्माणि इत्युक्तम् ॥२९॥

प्रकृति से संबन्धित सत्त्व आदि गुणों के द्वारा किए गए कर्मों में (ही) अज्ञानी जन लगे रहते हैं। यह इन सत्त्वादि गुणों का प्रभाव है। इसलिए ज्ञानी को चाहिए कि वह स्वयं कर्म करता हुआ, अज्ञानियों को भी कर्म करने की प्रेरणा करे।

तत्र कथम्, इति स्फुटयति।

तब वह (ज्ञानी कर्मों को) किस भावना से करे— इस को स्पष्ट करते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अर्जुन! = (हे अर्जुन)
अध्यात्म-चेतसा = मुझ में लगे हुए मन वाले होकर
सर्वाणि-कर्माणि = सभी कर्म
मयि = मुझे
संन्यस्य = अर्पण करके
निर्-आशीः = आशा से रहित (और)
निर्-ममः = ममता से रहित
भूत्वा = बन कर
विगत्-ज्वरः = (मोह के) ज्वर से छुटकारा पाकर (तुम)
युध्यस्व = युद्ध में कूद पड़ो (युद्ध करो)।

मयि सर्वाणि कर्माणि 'नाहं कर्ता'— इति संन्यस्य, 'स्वतन्त्रः परमेश्वर एव सर्वकर्ता नाहं कश्चित्'— इति निश्चित्य लोकानुग्रहं चिकीर्षुर्लोकाचारं युद्धात्मकमनुतिष्ठ ॥३०॥

'मुझ (प्रभु) में ही सभी कर्मों का त्याग करे, 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ" इस दृष्टि से सभी **कर्म** (करता हुआ भी) मुझी पर छोड़ दे। 'सब कुछ करने वाला तो ईश्वर है। मैं तो कोई भी नहीं हूँ।" ऐसा निश्चय करके लोगों पर अनुग्रह करने की इच्छा रखने वाला (तथा) लोक-मर्यादा के अनुकूल युद्ध-संबन्धी कर्म (तू) किये जा।

ये मे मतमिदं नित्यमनुवर्तन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

श्रद्धावन्तः = श्रद्धा से युक्त
अन्-असूयन्तः = किसी से भी ईर्षा न करते हुए
ये = जो
मानवाः = मनुष्य,
मे = मेरे
इदम् = इस
मतम् = उपदेश का
नित्यम् = सदा
अनुवर्तन्ति = पालन करते हैं
ते = वे
सर्व-कर्मभिः = सभी (पाप-पुण्य रूपी) कर्मों से
मुच्यन्ते = छुटकारा पा जाते हैं।

एतच्च मतमाश्रित्य यः कश्चिद्यत्किंचित्करोति, तत्तस्य न बन्धकम् ।

उपर्युक्त सिद्धान्त का आश्रय लेकर जो कोई (ज्ञानवान्) जो भी कुछ कार्य करता है वह (कर्म) उसे बाँधने वाला नहीं बनता।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुवर्तन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

ये तु = जो अब
अभि-सूयन्तः = द्वेष दृष्टि वाले
अचेतसः = मूर्ख जन
मे = मेरे
एतत् = इस (ज्ञान के)
मतम् आदेश का
न अनुवर्तन्ति = पालन नहीं करते हैं,
तान् = उन
सर्वज्ञान-विमूढान् = सभी ज्ञानों से अनभिज्ञ बने हुओं को (तुम)
नष्टान् = (जन्म-मरण के चक्र में फंसने के कारण) नष्ट हुआ (ही)
विद्धि = समझो।

एतस्मिंस्तु ज्ञाने ये न श्रद्धालवस्ते विनष्टाः— अविरतं जन्ममरणादिभयभावितत्वात् ॥३२॥

इस (उपर्युक्त) ज्ञान के प्रति जो श्रद्धा नहीं रखते, वे तो गये, कहीं के नहीं रहे, क्योंकि उन्हें मरने जीने का भय निरन्तर लगा ही रहता है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ज्ञानवान् = ज्ञानी
अपि = भी
स्वस्याः = अपनी
प्रकृतेः = प्रकृति के
सदृशम् = अनुसार (ही)
चेष्टते = व्यवहार करता है (तथा)
भूतानि = सभी प्राणी
प्रकृतिम् — अपने गुणों के अनुसार प्रकृति को (ही)
यान्ति = जा पहुंचते हैं। (इस में भला कोई)
निग्रहः = रोक-टोक
किम् = क्या
करिष्यति = कर सकेगा।

योऽपि च ज्ञानी [1]न तस्य व्यवहारे भोजनादौ विपर्यासः कश्चित्, अपितु सोऽपि सत्त्वाद्युचितमेव चेष्टते। एवमेव जानन् यतो भूतानां— पृथिव्यादीनां प्रकृतौ विलयः, आत्मा चाकर्ता नित्यमुक्तः, इति कस्य जन्मादिनिग्रहः ॥३३॥

अब जो ज्ञानी है उसे भोजन आदि व्यवहार में अज्ञानियों की अपेक्षा कोई (विशेष) अन्तर नहीं होता अपितु वह भी सत्त्व आदि गुणों के अनुसार (अपनी प्रकृति से) ही व्यवहार करता है। वह तो यही जानता है कि (मरने पर) पृथिवी आदि पांच महाभूत अपनी-अपनी प्रकृति में लीन हो जाते हैं। आत्मा अकर्ता और सदा मुक्त है, तो जन्म आदि बन्धन किसे होगा।

कथं तर्हि बन्धः ? इत्थमुच्यते।

(जब आत्मा, अकर्ता और सदा मुक्त है तो) फिर यह जन्म-मरण का बन्धन कैसे आ उपस्थित होता है ? यही कहते हैं–

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इन्द्रियस्य = इन्द्रिय के
राग-द्वेषौ = राग-द्वेष तो
इन्द्रियस्य-अर्थे = इन्द्रिय के विषय ही में
व्यवस्थितौ = टिके हुए हैं
तयोः = उन दोनों को
वशम् = पकड में
न = नहीं
आगच्छेत् = आ जाना (क्योंकि)
अस्य = इस साधक के
तौ = वे (दोनों)
हि = तो
परिपन्थिनौ = (परमार्थ रूपी मार्ग में) रोडा अटकाने वाले शत्रु हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

१. तदुक्तं— 'लौकिके व्यवहारे हि सदृशौ बालपण्डितौ' इति

सु-अनुष्ठितात् = अच्छी प्रकार आचरण किए हुए
पर-धर्मात् = पराये धर्म से
विगुणः = विशेष गुणों वाला
स्व-धर्मः = आत्म-धर्म (ही)
श्रेयान् = उत्तम है।

पर-धर्म-उदयात् = व्यवहार धर्म के भड़कीला तथा सुख-प्रद दिखने पर
अपि = भी
स्व-धर्मे = आत्म-धर्म में
निधनम् = मरना (अर्थात्) मृत्यु-पर्यन्त आत्म-धर्म में रहना ही
श्रेयः = कल्याण कारक है।

संसारी च प्रतिविषयं राग द्वेषं च गृह्णाति। यतः कर्माणि आत्मकर्तृकाण्येव विमूढत्वादभिमन्यते, इति सममपि भोजनादिव्यवहारं कुर्वतोर्ज्ञानिसंसारिणोरस्त्ययं विशेषः। अयं नः सिद्धान्तः— सर्वथा मुक्तसंगस्य स्वधर्मचारिणो नास्ति कश्चित्पुण्य-पापात्मको बन्धः। स्वधर्मो हि हृदयादनपायि [1]स्वरसनिरूढ एव। न तेन कश्चिदपि रिक्तो जन्तुर्जायते— इत्यत्याज्यः। ३५।

संसारी तो हर विषय में राग और द्वेष को ग्रहण करता है। (प्रति पदार्थ को राग और द्वेष की दृष्टि से देखता है।) इसी प्रकार मूर्ख-अज्ञानी होने के कारण वह सभी कामों को अपने द्वारा किया हुआ ही जानता है। (इस के उलट ज्ञानवान् सभी कार्यों को अनासक्त बनकर ही करता है।) अतः भोजन आदि का व्यवहार एक समान होने पर भी, ज्ञानी और संसारी जन में यही अन्तर है।

हमारी मान्यता तो यह है—- आत्म-धर्म में ठहरने वाले (तथा) पूर्ण रूप से असंग आसक्ति से रहित) बने हुए पुरुष को तो पुण्य-पाप रूप बन्धन तनिक मात्र भी नहीं छू पाता। कारण यह कि स्वधर्म तो उसके हृदय में ऐसा जम चुका है कि वह किसी भी प्रकार बिछुड न पाये, वह तो उसके आत्म-रस में दृढ हो चुका है। (इधर) कोई भी जीव इस आत्म-धर्म के बिना रह नहीं सकता अतः यह पारमार्थिक स्व-धर्म त्यागा नहीं जा सकता।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छमानोऽपि बलादाक्रम्येव नियोजितः॥३६॥

---

१. निगूढ एवेति क० पा०

अर्जुन बोला

अथ = भला	अयम् = यह
अनिच्छमान: = न चाहते हुए	पूरुष: = व्यक्ति
अपि = भी	केन = किस से
बलाद् = जबरदस्ती	प्रयुक्त: = प्रेरित होकर
आक्रम्य = घिरा हुआ	पापम् = पाप
इव = सा	चरति = करता है।
नियोजित: = झोंका गया	

पाप पापतया विदन्नपि जन: कथं तत्र प्रवर्तते ? इति प्रश्नः। अस्य प्रश्न-स्योत्थानेऽयमाशय:— स्वधर्मो यदि स्वहृदयादनपायित्वादत्याज्य:; कथं तर्ह्यधर्माचरणमेवा-मिति। कोऽयं स्वधर्मो नाम, येनारिक्तो जन्तु:-इत्युक्तं भवति ॥३६॥

पाप को पाप जानकर भी मनुष्य क्यों पाप करने लगता हैं। क्यों इस में प्रवृत्त हो जाता है ? इस प्रश्न के उठने का आशय यह है— यदि स्व-धर्म अनिवार्य होने के कारण हृदय से छोड़ा नहीं जा सकता तो (जीव) अधर्म का आचरण क्यों करने लगता है ? स्वधर्म है क्या ? जो सदा मनुष्य के साथ ही रहता है। ऐसा प्रसंग उठता है।

अत्रोत्तरं 'सत्यपि स्वधर्मे हृदिस्थे आगन्तुकावरणकृतोऽयं विप्लव:, न तु तदभावकृत:,'— इत्याशयेन ——

इस का उत्तर यूं है— यह तो मानी हुई बात है कि स्व-धर्म तो हृदय में ठहरा ही है किन्तु आने जाने वाले काम, क्रोध आदि अज्ञान से ही इस आत्म-धर्म में बाढ आजाती है किन्तु यह नहीं कह सकते कि आत्म-धर्म का अभाव होता है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं ——

श्री भगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणाम् ३७॥

श्री भगवान बोले

रजः-गुण-समुद्भवः = रजोगुण से उत्पन्न बना हुआ

एषः = यह

कामः = काम

एषः च = और यह

क्रोधः = क्रोध

महा-अशनः = बहुत कुछ निगलने वाला (फिर भी तृप्त न होने वाला)

महा-पाप्मा = बड़ा पापी है।

इह = यहां (परमार्थ में तो तुम)

एनम् = इसे

वैरिणम् = (अपना) शत्रु

विद्धि = जान लो

द्वाभ्यामेतच्छब्दाभ्यामनयोरत्यन्तावैषम्यं सूच्यते, एतौ च कामक्रोधौ नित्यसंबन्धि-नावन्योन्याविनाभावेन **वर्तेत इत्येकरूपतयैव व्याचष्टे। एष च महस्य— सुखस्य अशनो —ग्रासकारकः; यतः** पापस्य **हेतुत्वाच्च क्रोध एव पापदायी। एनं च वैरिणं प्राज्ञो** जानीयात् ॥३७॥

'यही काम और यही क्रोध, —इस श्लोक में दो बार आए हुए एतद्— शब्द से यह **सूचित** किया जाता है कि यह काम और क्रोध एक दूसरे के साथ अभिन्न हैं अतः इन में किसी प्रकार का आपस में अन्तर नहीं। ये काम तथा क्रोध नित्य सम्बद्ध होकर परस्पर जुड़ कर ही रहते हैं। **इसी** आशय से एक वचन **प्रयोग करके इस श्लोक में इन** दोनों की व्याख्या की है। यह काम-क्रोध महान् **परम** सुख (आत्म-सुख) को खाता है अर्थात् समाप्त करता है **और** महान् पाप का हेतु होने से यह क्रोध ही पाप को देने वाला है। अतः बुद्धिमान् को जानना चाहिए कि यही काम और यही क्रोध (परमार्थी जिज्ञासु का) शत्रु है।

ननु अर्थाद्युपगातकं ज्ञातस्वरूपं च वस्तु हार्तुं सुशकं भवेत्— इत्यभिप्रायेणार्जुन उवाच—

यह जो काम-क्रोध पारमार्थिक **वस्तु** का घातक है उसी का वास्तविक रूप जाना जाय तो वह सहज ही त्यागा जा सकता है। उसी अभिप्राय से अर्जुन

अर्जुन उवाच

भवत्येष कथं कृष्ण कथं चैव विवर्धते।
किमात्मकः किमाचारस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥३८॥

अर्जुन बोला

कृष्ण ! = हे कृष्ण !

एषः = यह (काम-क्रोध)

कथम् = कैसे

भवति = उत्पन्न होता है ?

कथम् च विवर्धते इव = और कैसे बढता सा (दिखाई देता) है ?

कि-आत्मकः = स्वरूप (इस का) क्या है ?

किम्-आचारः = व्यवहार इस का कैसा है ?

तत् = वह (सभी इसके लक्षण)

मम् = मुझ

पृच्छतः = पूछने वाले को

आचक्ष्व = बताइये।

अस्य चोत्पत्तौ किं कारणं, वर्धने च को हेतुः, स्वरूपं चास्य कीदृक्, उत्पन्नो [1]रूढिभूतश्च किमाचरति— किं करोति? इति प्रश्नः ॥३८॥

इस (काम-क्रोध) की उत्पत्ति का कारण क्या है? इस की बढौती कैसे होती है? स्वरूप इस का कैसा है? उत्पन्न होकर रूढ— जड़ जमाने के बाद यह कैसे आचरण करता है? यह प्रश्न है—

अत्रोत्तरं— श्री भगवानुवाच

इन प्रश्नों का उत्तर भगवान् (क्रम-पूर्वक) देते हैं—

एष सूक्ष्मः परः शत्रुर्देहिनामिन्द्रियैः[2] सह।
सुखतन्त्र इवासीनो मोहयन्पार्थ तिष्ठति ॥३९॥

पार्थ = हे अर्जुन !

इन्द्रियैः = इन्द्रियों

सह = समेत

एषः = यह (काम, क्रोध)

---

१. दृढीभूतश्चेति क० पाठः।
२. इन्द्रियेषु ह— इति ग० पाठः

देहिनाम् = देह-धारी मनुष्यों का
परः = सब से भयंकर (तथा)
सूक्ष्मः = न दिखाई देने वाला सूक्ष्म
शत्रुः = शत्रु है।

सख-तन्त्र = सुख के फैलाव पर
आसीनः इव = मानो चढ कर
मोहयन् = मोहित करते हुए
तिष्ठति = ठहरता है।

एष तावत्सूक्ष्मः— उत्पत्तिसमयेऽलक्ष्य इन्द्रियेषु। एवं च वर्तमानः सुखं तन्त्रयितुमिवोत्पद्यते, वस्तुतस्तु दुःखमोहमयः— तामसत्वात्। अतएव मोहयन् ॥३९।

इस काम-क्रोध का पहिला रूप तो सूक्ष्म है क्योंकि उत्पत्ति के समय इन्द्रियों के प्रदेशों मे यह दिखाई नहीं देता। बाद मे इस प्रकार अपनी स्थिति को जमाता हुआ सुख के आभास का तान्ता सा फैलाता है। वास्तव में इसका निजी स्वरूप दुःख और मोह से युक्त ही है तभी तो तमोमय है। इसी अभिप्राय से श्लोक में कहा है कि यह पुरुष को मोहित करता है।

कामक्रोधमयो घोरः स्तम्भहर्षसमुद्भवः।
अहंकारोऽभिमानात्मा दुस्तरः पापकर्मभिः ॥४०॥

स्तम्भ-हर्ष-सम्-उद्भवः = अपने कुल के अभिमान के कारण हर्ष से उत्पन्न,
काम-क्रोध-मयः = काम और क्रोध वाला
घोरः — भयंकर

अभिमानात्मा — अभिमान स्वरूप
अहंकारः = यह अहंकार (ऐसा है कि)
पाप-कर्मभिः — पाप-कर्मों के आचरण से (पापियों के द्वारा)
दुस्तरः = (इसे पार करना) बहुत कठिन है।

स्तम्भः— कुलाद्यभिमानः। तत्कृतो यो हर्षः— अहमीदृशः, इति। अत एवाह —अहंकारः इति ॥४०॥

कुल आदि का अभिमान स्तम्भ कहलाता है। इस कुल के अभिमान से उत्पन्न जो यह हर्ष होता है कि मैं ऐसा (रूपवान, धनवान, तथा उच्च कुल में) उत्पन्न हुआ हूँ। इसी अभिप्राय को लेकर कहता है कि यह (काम-क्रोध-अंहकार) रूप है।

हर्षमस्य निवर्त्यैष शोकमस्य ददाति च।
भयं चास्य करोत्येष मोहयंस्तु मुहुर्मुहुः ॥४१॥

एषः = यह काम
अस्य = इस (पुरुष के)
हर्षम् = हर्ष को
निवर्त्य = हटा कर
अस्य = इसे
शोकम् च = शोक ही
ददाति = देता है। (इस भांति)
मुहुः मुहुः = बार बार
मोहयन् = मोह में डालता हुआ
एषः = यह (काम)
अस्य = इस (जीव को)
भयम् = भय
करोति = उपजाता है।

अत एव च गर्वाद्वर्धतेऽभिमानस्वभावः, सुखबुद्धिप्रकारेण च जायते, इति त्रयः प्रश्नाः परिहृताः ॥४१॥

इसी कारण तो ऐसे गर्व से इस का यह अभिमान करने का स्वभाव बढता ही जाता है। इस (काम) की उत्पत्ति (विषयों में) सुख की लालसा रखने से होती है। इस प्रकार तीन प्रश्नों को निपटाया गया।

स एष कलुषी क्षुद्रश्छिद्रप्रेक्षी धनञ्जय।
रजःप्रवृत्तो मोहात्मा मनुष्याणामुपद्रवः ॥४२॥

धनञ्जय हे अर्जुन!
सः = वही
एषः = यह (काम-क्रोध)
कलुषी = कलंकित
क्षुद्रः = नीच
रजः-प्रवृतः = रजोगुण से उत्पन्न हुआ
छिद्र-प्रेक्षी = (मानव की) दुर्बलताओं को टटोलने वाला (और)
मोह-आत्मा = मोह में डालने वाला (बनकर)
मनुष्याणाम = मनुष्यों में
उपद्रवः = ऊट-पटांग मचाता है।

स एष इति च्छिद्राणि प्रेक्षते— 'अमुना च्छिद्रेणास्येहलोकपरलोकौ नाशयामि' —इति। तथा च मोक्षधर्मेषु।

अर्जुन उवाच

यत्क्रोधनो यजते यद्ददाति यद्वा तपस्तप्यते यज्जुहोति।

वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं मोघः श्रमो भवति क्रोधनस्य इति। रजसः प्रवृत्तस्तमो इत्यर्थः ॥४२॥

वही तो यह कामात्मा क्रोध, मनुष्य के दोष रूपी छिद्रों यानी त्रुटियों को देखता रहता है। (इस का लक्ष्य यही होता है कि) इस के (दोष के) छिद्र से प्रवेश करके मैं इसका संसार तथा पर-लोक (वर्तमान तथा भविष्य) दोनों को नष्ट करूँगा। यही बात मोक्ष-धर्म नाम वाले महाभारत में भी कही है—

क्रोधी व्यक्ति जो पूजा करता है, दान देता हैं, तपस्या करता है, जो भी कुछ हवन करता है, भगवान् सूर्य उन से किए गए कर्मों से प्राप्त होने वाले पुण्य को छीन लेता है, इस प्रकार क्रोधी व्यक्ति की सभी साधना निष्फल हो जाती है।

यह क्रोध, रजोगुण से उत्पन्न हुआ है और तमोगुण की इस में प्रधानता है। वही रजः प्रवृत्तः का अर्थ है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।

यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथानेनायमावृतः ॥४३॥

यथा = जैसे

धूमेन = धुएँ से

वह्निः = अग्नि

मलेन च = और गर्दे से

आदर्शः = शीशा

आव्रियते = ढका जाता है (और)

यथा = जैसे

उल्वेण = गर्भ-जालसे

गर्भः = गर्भ

आवृतः = ढका रहता है

तथा = वैसे ही

अनेन = इस (काम-क्रोध) के द्वारा

अयम् = यह आत्मा

आवृतः = घिरा रहता है।

दृष्टान्तत्रयेण दूरपसर्पत्वम्, अकार्यकरत्वं, जुगुप्सास्पदत्वं चोक्तम्। अयमिति-आत्मा ॥४३॥

(इन) तीन दृष्टान्तों (यहां काम-क्रोध के बारे में) कहा गया है कि ये हटाये नहीं हटते, न करने योग्य काम करते हैं तथा घृणा उत्पन्न करते हैं। 'अयम' शब्द आत्मा को जतलाता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥४४॥

कौन्तेय = हे अर्जुन !
अतएव = इस
अनलेन = अग्नि के समान
च = और
दु:पूरेण = न तृप्त होने वाले
काम-रूपेण = विषय-वासना रूप
ज्ञानिन: = ज्ञानियों के
नित्य-वैरिण: = सदा शत्रु बने हुए (काम से)
ज्ञानम् = पारमार्थिक ज्ञान
आवृत्तम् = ढका हुआ है ।

कामरूप इच्छायां यतश्चरति । अनलेन च- अग्निनेव पूरयितुमशक्येन— दृष्टादृष्टद्वयदाहकत्वात् ॥४४॥

'कामरूप' इसलिए कहा है कि यह (कामात्मक क्रोध) (जीव की) इच्छा में ही पनपता है । अग्नि से इस की सदृश्यता इसलिए दी गई है कि जैसे आग को तृप्त करना असंभव है वैसे ही यह क्रोध, इह-लोक और पर-लोक दोनों फलों को जला देता है ।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४५॥

इन्द्रियाणि = इन्द्रियां
मन: = मन (और)
बुद्धि: = बुद्धि
अस्य = इस (काम-क्रोध) का
अधिष्ठानम् = अखाडा
उच्यते = कहलाता है ।
एष: = यह (काम)
एतै: = इन (मन, बुद्धि और इन्द्रियों) से ही
ज्ञानम् = ज्ञान को
आवृत्य = ढक कर
देहिनम् = जीवात्मा को
विमोहयति = मोह में फंसाता है ।

आदौ इन्द्रियेषु सत्सु तिष्ठति । यथा चक्षुषा शत्रुर्दृष्ट इन्द्रियप्रदेशे एव क्रोधमा-

त्मनो जनयति। ततो मनसि— संकल्पे। ततो बुद्धौ— निश्चये। एतदद्वारेण मोहं जनयन् ज्ञानं नाशयति ॥४५॥

यह क्रोध, पहिले इन्द्रियों में ही अपना स्थान बनाता है। जैसे नेत्रों से अपने किसी शत्रु को देखने पर पहिले नेत्रों में ही क्रोध उत्पन्न होता है। (वैसे ही यह काम पहिले अपने उत्पत्ति का स्थान बने हुए इन्द्रिय विशेष में प्रकट होता है) उसके बाद संकल्प, तत्पश्चात् निश्चय करने वाली बुद्धि में प्रकट होता है। इन रूपों से मोह-अज्ञान को उत्पन्न करता हुआ आत्म-ज्ञान को नष्ट करता है।

अस्य निवारणे उपायमाह।

इस (काम-क्रोध) को हटाने के लिए युक्ति कहते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहीह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४६॥

भरतर्षभ = हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन!

तस्मात् = इस लिए

त्वम् = तुम

आदौ = पहिले

इन्द्रियाणि = इन्द्रियों को ही

नियम्य = वश में करके (फिर)

पाप्मानम = पाप का रूप बने हुए

ज्ञान-विज्ञान नाशनम् = ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करने वाले

एनम् = इस (क्रोध) को

हि =

प्रजहि = छोड ही दो अर्थात् क्रोध न करो।

तस्मादादाविन्द्रियाणि नियमयेत्— क्रोधादिकमिन्द्रियेषु प्रथम न गृह्णीयात्। ज्ञानं ब्रह्म, विज्ञानं च - भगवन्मयीं क्रियां नाशयति। हि यतः, अतः पाप्मानं क्रोधं त्यज। अथवा— ज्ञानेन-मनसा, विज्ञानेन-बुद्धया च नाशनं—वारणं कृत्वा इति क्रियाविशेषणम् इन्द्रियेषूत्पन्नं संकल्पे न गृह्णीयात्। संकल्पितं वा न निश्चनुयातिति तात्पर्यम् ॥४६॥

अतः पहिले तो इन्द्रियों को काबू में करना चाहिए। क्रोध आदि (मानसिक विकारों) को प्रारम्भ में इन्द्रियों में पनपने ही नहीं देना चाहिए। ज्ञान-ब्रह्म और विज्ञान-भगवान् से संबन्धित पारमार्थिक क्रिया (इन दोनों) को नष्ट करता है। अतः इस पाप रूप क्रोध का त्याग करो।

अथवा— ज्ञानविज्ञाननाशनम्— का अर्थ यह हो सकता है कि ज्ञानरूपी **मन से और** विज्ञान रूपी बुद्धि से इस काम को हटाना चाहिए— इस अर्थ को लेकर 'ज्ञानविज्ञानाशनम्' क्रियाविशेषण समझना चाहिए और क्रोध शब्द का विशेषण नहीं। इस प्रकार क्रिया-विशेषण का अर्थ लेकर इन्द्रियों में उत्पन्न हुए क्रोध को मन में संकल्प द्वारा स्थान नहीं देना चाहिए। यदि अब संकल्प किया हो तो फिर बुद्धि से उस का निश्चय नहीं करना चाहिए। यह तात्पर्य है।

अत्र युक्ति श्लोकद्वयेनाह—

इस (काम-क्रोध) को जीतने की युक्ति, दो श्लोकों में कहते हैं।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४७॥

इन्द्रियानि = इन्द्रियों को
पराणि = विषयों से) अन्य
आहुः = कहते हैं
इन्द्रियेभ्यः = इन्द्रियों से
परम् = दूसरा
मनः = मन है
तु = और
मनसः = मन से
परा = परे
बुद्धिः = बुद्धि है
यः तु = और जो
बुद्धेः = बुद्धि से (भी)
परतः = अत्यन्त परे है
सः = वही यह आत्मा है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४८॥

एवम् = इस प्रकार
बुद्धेः = बुद्धि से
परम् = अन्य अर्थात् सूक्ष्म (अपने आत्मा को)
बुद्ध्वा = जान कर (और)
आत्मना = आत्मा ही के द्वारा
आत्मानम् = आत्मा को
संस्तभ्य = स्थिर करके (एकाग्र बनकर)
महाबाहो = हे अर्जुन!
दुर-आसदम् = जीतने में अति कठिन
काम-रूपम् = काम रूपी
शत्रुम् = शत्रु को
जहि = मार डालो अर्थात् इसे अपने अधीन करो;

यत इन्द्रियाणि शत्रुलक्षणाद्विषयादन्यानि। तभ्यश्चान्यनमनः। तस्मादपि बुद्धेर्व्यतिरेकः। बुद्धेरपि यस्यान्यस्वभावत्वं स आत्मा। एवमिन्द्रियोत्पन्नेन क्रोधेन कथं मनसो बुद्धेरात्मनो वा क्षोभः ? इति पर्यालोचयेदित्यर्थः। रहस्यविदां त्वयमाशयः— बुद्धेर्यः परत्र वर्तते परोऽहंकारः— 'सर्वमहम्'— इत्यभेदात्मा, स खलु परमोऽभेदः। अत एव च परिपूर्णस्य खण्डनाभावान्न क्रोधादय उदयन्ते अतः परमहंकारं— [1]परोत्साहसविदात्मकं गृहीत्वा क्रोधम् अविद्यात्मानं शत्रुं जहीति शिवम् ॥४८॥

यतः इन्द्रियों के द्वारा देखे हुए शत्रु रूप व्यक्ति से अलग ही इन्द्रियां हैं। उन इन्द्रियों से भिन्न मन है। उस मन से भी विलग बुद्धि है और बुद्धि से भी अन्य स्वभाव वाला आत्मा है। इस रीति से विचार किया जाये तो इन्द्रियों से उत्पन्न हुए क्रोध के द्वारा मन, बुद्धि और आत्मा को क्षोभ कैसे हो सकता है? ऐसा बार-बार विचार करना चहिए।

रहस्य को जानने वालों का तो यह आशय है— जो बुद्धि से भी परे है उसे परम अहंकार अथवा पूर्णाहन्ता कहते हैं। 'मैं ही यह सारा जगत् हूं'' इस प्रकार का जो अहंभाव है वही वास्तव में पूर्ण अहन्ता रूप अभेद की अवस्था है। अतः परिपूर्ण स्वरूप वाले मुमुक्षु के (मन में) भेद प्रथा न होने के कारण क्रोध आदि विकार उत्पन्न ही नहीं होते। अतः अति उच्च जो पर अहंकार है जिसे पूर्णाहन्ता कहते हैं, उसका उत्साह पूर्वक पल्ला पकड के, अविद्या रूप शत्रु को मार डालो तब जाके कल्याण होगा।

अत्र संग्रहश्लोकः

धनानि दारान्देहं च योऽन्यत्वेनाभिगच्छति।
किं नाम तस्य कुर्वन्ति क्रोधाद्याश्चित्तविभ्रमः ॥३॥

संग्रहश्लोक

जो व्यक्ति धन स्त्री और अपने शरीर को भी अपने (आत्मा) से अन्य-भिन्न ही मानता है, ऐसे व्यक्ति को क्रोध आदि मन के विकार भला क्या बिगाड सकते हैं।

इति श्री महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद विरचिते
श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (कर्मयोगे नाम)
तृतीयोऽध्यायः ॥३॥
श्रीमहामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद द्वारा रचित
श्रीमद्भगवद्गीतार्थ संग्रह नामक ग्रंथ का कर्मयोग नाम वाला
दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

---

१. परमोत्साहमिति ख० पाठ०

ॐ

अथ

चतुर्थोऽध्यायः

एवं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

अहम् = मैं ने
एवम् = इस प्रकार
अव्ययम् = (यह) सनातन
योगम् = योग
विवस्वते = सूर्य से
प्रोक्तवान् = कहा था ।
विवस्वान् = सूर्य ने
मनवे = मनु से
प्राह = कहा (और)
मनुः = मनु ने (अपने पुत्र)
इक्ष्वाकवे = राजा इक्ष्वाकु को
अब्रवीत् = सुनाया था ।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥२॥

परंतप = हे अर्जुन !
एवम् = इस प्रकार
परम्परा-प्राप्तम् = परम्परा से पाये गए
इमम् = इस (योग) को
राजर्षयः = राज-ऋषियों ने
विदुः = जाना (किन्तु)
सः = वही
योगः = योग
महतः = बहुत
कालेन = समय के बाद
इह = इस संसार में
नष्टः = लुप्त हो गया था ।

एतच्च गुरुपरम्परया प्राप्तमपि अद्यत्वे नष्टम्, इत्यनेन भगवानस्य ज्ञानस्य दुर्लभतां गौरवं च प्रदर्शयति ।।२।।

गुरु परम्परा से प्राप्त होने पर भी वह योग, आजकल लुप्त ही हो गया है। इस प्रकार भगवान् इस ज्ञान की दुर्लभता तथा महत्ता को सूचित करते हैं।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेतिरहस्यमेतदुत्तमम् ॥३॥

(अतएव) = इसी लिए
सः एव अयम् वही तो यह
पुरातन: = प्राचीन काल से चला आ रहा
योग: = योग
अद्य = अब
मया = मैं ने
ते = तुम्हे
प्रोक्त: = कहा (क्योंकि तुम)
मे = मेरे
भक्त: असि = भक्त हो
सखा च असि = मित्र भी हो
इति = अत:
एतत् = यह (योग)
उत्तमम् = बहुत उत्तम (है और)
रहस्यम् = अति मर्म का विषय है।

भक्तोऽसि मे सखा चेति; इवं भवतो मत्परम: सखा च। च शब्देनान्वाचय[1] उच्यते। तेन यथा[2] भिक्षाटने भिक्षाणां प्राधान्यं, गवानयने त्वप्राधान्यम्। एवं भक्तिरत्र गुरुं प्रति प्रधानं, न सखित्वमपीति तात्पर्यार्थ: ॥३॥

तू मेरा भक्त है और मित्र भी है। मुख्य रूप से तू मेरा भक्त है और गौण रूप से सखा है। (इस श्लोक में) च अर्थात् और शब्द गौण अर्थ को जतलाने वाले अन्यवाचय के अर्थ में लागू हुआ है। जैसे (कोई कहे) कि "हे पुत्र तू भिक्षा के लिए जा और वहां से गाय को भी लेते आना," इस वाक्य में जैसे भिक्षा लाना ही प्रधान कार्य है, गाय को लेते आता नहीं। इसी भांति गुरु के प्रति भक्ति का होना प्रधान है। मित्र होना (प्रधान) नहीं। यह इस श्लोक का तात्पर्य है।

अर्जुनो भगवत्स्वरूपं जानन्नपि लोके स्फुटीकर्तुं पृच्छति—

भगवान् के स्वरूप को जानता हुआ भी अर्जुन, लोगो में उसका स्वरूप प्रकट हो, अत: (जान-बूझ कर) पूछता है।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेवं विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

---

१. अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेऽन्वाचय: २. भिक्षामट गांचानय इति वाक्ये

अर्जुन पूछता है

भवतः = आप का
जन्म = जन्म (तो)
अपरम् = अब हुआ है (और)
विवस्वतः = सूर्य देवता का
जन्म = जन्म
परम् = बहुत पहले हुआ है
(अतः)
एतत् = इस योग को

आदौ = ((आज से बहुत) पहिले
त्वम् = आप ने
प्रोक्तवान् = कहा था
इति = यह भला (मैं)
कथम् = कैसे
विजानीयाम् = समझ पाऊँ ।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

श्री भगवान् बोले

अर्जुन = हे अर्जुन !
मे = मेरे
च = और
तव = तुम्हारे (तो)
बहूनि = कई अनेक
जन्मानि = जन्म
व्यतीतानि = बीत चुके हैं।

अहम् = मैं (सर्वज्ञ होने से)
तानि = उन
सर्वाणि = सभी (जन्मों को)
वेद = जानता हूँ
परंतप = हे अर्जुन ! (हाँ)
त्वम् = तुम
न = नहीं
वेत्थ = जानते हो।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

अजः = अजन्मा

सन् अपि = होकर भी (और)

भूतानाम् = प्राणियों का

ईश्वरः = ईश्वर

सन् अपि होते हुए भी

(अहम्) = मैं

अव्यय-आत्मा — अविनाशी

स्वाम् = अपनी

प्रकृतिम् = प्रकृति को (ही)

अधिष्ठाय = आधार बना कर

आत्म-मायया = योग-माया से (स्वातन्त्र्य-शक्ति) से

संभवामि = (अवतार के रूप में) प्रकट होता हूं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मांशं सृजाम्यहम् ॥७॥

भारत = हे अर्जुन !

यदा यदा हि = जब जब भी

धर्मस्य = धर्म की

ग्लानिः = हानि (अभावना)

भवति = (लोगों में) होती है

अधर्मस्य च = और अधर्म की

अभ्युत्थानम् = बढ़ौती होती है

तदा = तब

अहम् = मैं

आत्म-अंशम् = अपने अंश को

सृजामि — (अवतार के रूप मे) उत्पन्न करता हूं।

श्रीभगवान्किल [१]पूर्णषाड्गुण्यत्वाच्छरीरसंपर्कमात्ररहितोऽपि स्थितिकारित्वात्कारुणिकतया आत्मांशं सृजति। आत्मा—पूर्णषाड्गुण्यः अंशः— उपकारत्वेनाप्रधानभूतो यत्र- तदात्मांशं— शरीरं गृह्णातीत्यर्थः ॥७॥

बात तो यूँ है कि भगवान् सर्वज्ञ आदि छः गुणों से पूर्ण, शरीर के बन्धन से रहित (निराकार) होते हुए भी, लोक-स्थिति को बनाए रखने के लिए, दयालु होने के नाते अपने आत्मा के अंश को उत्पन्न करते हैं। आत्मा तो छः गुणों (सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, अलुप्त-शक्ति संपन्न और अनन्त शक्ति) से पूर्ण होता है। जगत का उपकार करने के लिए प्रधान बना हुआ (ईश्वर का) रूप जिस में वह शरीर धारण करता है अंश कहलाता है। (इसे ही अवतार कहते हैं यह अर्थ है।

---

१. सर्वज्ञता, तृप्तिः, अनादिबोधः, स्वतन्त्रता, नित्यमलुप्तशक्तिः, अनन्तशक्तिश्चेति षाड्गुण्यम।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥८॥

(अहम्) = मैं
युगे युगे = प्रति युग में
साधूनाम् = सज्जनों की
परित्राणाय = रक्षा के लिए
दुष्कृताम् च = और पापियों को
विनाशाय = नष्ट करने के लिए (तथा)
धर्म-संस्थापनार्थाय = धर्म को (फिर से) ठहराने के लिए
संभवामि = प्रकट होता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥६॥

अर्जुन = हे अर्जुन !
मे = मेरा (वह)
जन्म = जन्म
च = और
कर्म = कर्म
दिव्यम् = दिव्य अर्थात् अलौकिक है
एवम् = इस प्रकार
यः = जो पुरुष
तत्त्वतः = ठीक रूप से
वेत्ति = जानता है
सः = वह
देहम् = शरीर को
त्यक्त्वा = (मरने पर) छोड़ कर
पुनः = फिर
जन्म = जन्म
न = नहीं
एति = पाता
माम् = मुझे (ही)
एति = प्राप्त करता है।

अत एवास्य जन्म दिव्यं यत आत्ममायया योगप्रज्ञया स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या आरब्धं, न कर्मभिः । कर्मापि दिव्यं— फलदानसमर्थत्वात् । यश्चैवमेतत्तत्त्वं वेत्ति आत्मन्यप्येवमेव मन्यते, सोऽवश्यं भगवद्वासुदेवतत्त्वं जानाति ॥६॥

इसीलिए तो इस (परमेश्वर) का यह (अंश रूप) जन्म आलौकिक है, क्योंकि (यह जन्म) आत्म-माया तथा योग-बुद्धि रूपी स्वातन्त्र्य-शक्ति से ही निर्मित

हुआ है, कर्मों से नहीं।

(इतना ही नहीं) इस प्रभु का कर्म भी अलौकिक ही है। कारण यह कि इस के वे सभी कर्म, फल देने में असमर्थ होते हैं। जो इसी भांति इस के तत्त्व (स्वरूप) को जानता है--अपने में ही इसी भांति अवधारण करता है या यूं कहें कि अपने आत्मा को भी ऐसे ही मानता है, वही तो निःसन्देह भगवान् के वासुदेव-स्वरूप को जानता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मद्व्यपाश्रया।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

मत्-व्यपाश्रयः = (जिन साधकों ने) मेरा ही पल्ला पकड़ा है,
मत्-मया = जो मेरा ही रूप बन चुके हैं
ते = वे
वीत-राग-भय-क्रोधाः = राग, भय और क्रोध से छूटे हुए
बहवः = बहुत से
ज्ञान-तपसा-पूता = ज्ञानमय तपस्या से पवित्र हो चुके हैं (और)
मत्-भावम् = मेरे स्वरूप को
आगताः = पा चुके हैं।

तथा चैवं विदन्तः मन्मयत्वात्परिपूर्णेच्छत्वात् क्रोधादिरहिता निष्फलं कर्म करणीयं कुर्वाणा बहवो मत्स्वरूपमवाप्ताः ॥१०॥

ऐसा जानने वाले बहुत से (साधक) तो मेरा ही स्वरूप बनने के कारण कृत-कृत्य होने से, क्रोध आदि (मानसिक) विकारों से छूट कर, निष्काम भाव से अपने कर्तव्य को निभाते हुए मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए हैं।

यतः—
क्योंकि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

पार्थ = हे अर्जुन!
ये = जो
यथा = जिस (भावना) से
माम् = मेरे पास अर्थात् मेरी शरण
प्रपद्यन्ते = आते हैं
तान् = उन्हें

अहम् = मैं

तथा एव = (उनकी भावना के अनुसार) वैसे ही

भजामि = अनुग्रह करता हूँ। इसीलिए तो

मनुष्या: = सभी मनुष्य

सर्वश: = हर प्रकार से

मम = मेरे (ही)

वर्त्म = मार्ग पर

अनु-वर्तन्ते = चलते हैं।

ये यथैव बुद्ध्या मामाश्रयन्ते, तान्प्रति तदेव स्वरूपं गृह्णंस्ताननुगृह्णामि। एवमेव मदीयं मार्गं मन्मया अमन्मयाश्च सर्वे एवानुवर्तन्ते; नहि ज्योतिष्टोमादिरन्यो मार्ग:, मदीयैव सा तथेच्छा। वक्ष्यते हि 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' इति। अन्यस्त्वाह-लिङर्थे लट्। यथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णन्ति'— गृह्णीयुरित्यर्थ:। एवमिहापि अनुवर्तन्ते– अनुवर्तरन्निति ॥११॥

(किसी भी लक्ष्य को सम्मुख रख कर) जो जिस किसी भी बुद्धि से मेरा आश्रय लेता है, उन के लिए मैं उसी (इन्द्र आदि) स्वरूप को धारण करके उन्हें अनुग्रह करता हूँ। इस भांति अपने को मेरा ही स्वरूप समझने वाले तथा न समझने वाले सभी मेरे ही मार्ग (आदेश) का अनुसरण (पालन) करते हैं। स्वर्ग को प्राप्त करने के लिए 'ज्योतिष्ठोम्' आदि यज्ञ भी अन्य मार्ग नहीं है। वह भी तो उसी प्रकार की मेरी ही इच्छा है। आगे भी कहेंगे— चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) की सृष्टि मैंने ही रची है।

अन्य तो ऐसा कहते हैं कि 'अनुवर्तन्ते' पद में विधिलिङ् के अर्थ में ही लट् (वर्तमान काल) का प्रयोग हुआ है। जैसे (वेद की इस एक ऋचा में कहा है कि) "रात्रि के बीतने पर सोलह भागों से युक्त कपाल पात्र को ग्रहण करते हैं" यहां ग्रहण करते हैं का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए। इस भांति यह लट् आज्ञा के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। इसी भांति (इस श्लोक में भी अनुवर्तन्ते) पीछे चलते हैं) यह अर्थ न हो कर अनुवर्तेरन्न (पीछे चलना चाहिए) यह अर्थ लेना चाहिए।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

इह = इस लोक में
कर्मणाम = कर्मों के
सिद्धिम् = फल को
कांक्षन्तः = चाहते हुए (जन)
देवताः = देवताओं की
यजन्ते = पूजा करते है (तभी तो)
मानुषे लोके = मनुष्य लोक में
कर्मजा = कर्मों से
सिद्धिः = उत्पन्न हुई सिद्धि (भी)
क्षिप्रम् = शीघ्र ही
भवति = होती है।

मानुष एव लोके भोगापवर्गलक्षणा सिद्धिर्नान्यत्र, इति।

भोग तथा मोक्ष रूप सिद्धि की प्राप्ति तो मनुष्य जन्म में ही होती है। अन्य (पशु, पक्षी, आदि) जन्मों में नहीं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागतः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

मया = मैं ने (ही) तो
गुण-कर्म विभागतः = गुण और कर्म के अनुसार
चातुः वर्ण्यम् = (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) चार वर्णों की
सृष्टम् = सृष्टि रची है
तस्य = उस (सृष्टि) का
कर्त्तारम = रचयिता होते हुए
अपि = भी
मां = मुझे
अकर्त्तारम् = अकर्ता (और)
अव्ययम् = सनातन ही)
विद्धि = जान लो।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कामः फलेष्वपि।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

मां = मुझे (तो)
कर्माणि = कर्म
न = नहीं
लिम्पन्ति = बांध सकते।
फलेषु = (कर्मों के) फलों में
अपि = भी
मे = मुझे
न कामः = कोई प्रयोजन नहीं।
इति = इस प्रकार (निस्पृह समझते हुए)
यः मां = मुझे जो (भी)
अभिजानाति = जानता है

सः = वह भी
कर्मभिः = कर्मों से
न बध्यते = बंधा नहीं जाता।

मम किल कथमाकाशकल्पस्य कर्मभिर्लेपः। आकाशप्रतिमत्वं कामनाभावात्। इत्यनेन ज्ञानप्रकारेण यो भगवन्तमेवाश्रयते; सर्वत्र सर्वदा आनन्दघनं परमेश्वरमेव 'न वासुदेवात्परमस्ति किंचित्' इति नीत्या विमृशति, तस्य किं कर्मभिर्बन्धः ॥१४॥

ठीक तो है कि आकाश की भांति निर्मल स्वरूप वाले मुझे, कर्म कैसे बांध सकते हैं। कामना-इच्छा के न होने से आकाश से तुलना दी है। जो ऐसे ज्ञान से केवल भगवान का ही आश्रय लेता है। जो 'वासुदेव से भिन्न दूसरा कोई नहीं', इस रीति से आनन्द से परिपूर्ण परमेश्वर का ही सब दशाओं में तथा सदा परामर्श करता है, भला उसे कर्म बांध लें तो कैसे?

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

पूर्वैः = प्राचीन (काल के)
मुमुक्षुभिः = मोक्ष चाहने वाले साधकों ने
अपि = भी
एवम् = इस प्रकार
ज्ञात्वा = जान कर
कर्म = कर्म
कृतम् = किया है।
तस्मात् = अतः
त्वम् (अपि) = तुम भी
पूर्वैः = पूर्वजों के द्वारा
पूर्वतरम् = सदा से
कृतम् = किए जाने वाले
कर्म एव = कर्म ही
कुरु = करो।

तस्मादनया बुद्ध्या पवित्रीकृतस्त्वमपि कर्माणि-अवश्यकर्तव्यानि कुरु ॥१५॥

अतः इस (पारमार्थिक) बुद्धि से पवित्र बने हुए तुम भी ऐसे कर्म करो, जिनका करना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

अथोच्यते 'अकरणादेव सिद्धिः'— इति। तन्न; यतः—

अब यदि यह कहें कि कर्मों के न करने से ही (मोक्षात्मक) सिद्धि होती है— यह तो बात ही नहीं। क्योंकि—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म = कर्म
किम् = क्या है (और)
अकर्म = अकर्म
किम् = क्या है
इति = ऐसे
अत्र = इस (विषय) में तो
कवयः = ज्ञानवान व्यक्ति
अपि = भी
मोहिताः = दुविधा में पड़ जाते हैं (अतः मैं)

ते = तुम्हें
तत् = वह
कर्म = कर्म
प्रवक्ष्यामि = ठीक से कहूँगा
यत् = जिसे
ज्ञात्वा = जान कर (तुम)
अशुभात् = ससार के बन्धन से
मोक्ष्यसे = छूट जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मणः = कर्म का स्वरूप
अपि = भी
बोद्धव्यम् = जानने में आ सकता है।
विकर्मणः = विरुद्ध कर्मों को
च = भी
बोद्धव्यम् = जाना जा सकता है।
अकर्मणः च = और निष्काम कर्म (भी)

बोद्धव्यम् = जाने जा सकते हैं
हि = किन्तु
कर्मणः = कर्म की
गति = गति अर्थात् किस कर्म से क्या फल मिलता है यह
गहना = जाना नहीं जा सकता।

कर्माकर्मणोर्विभागो दुष्परिज्ञानः। तथा च-विहित-कर्मण्यपि मध्ये दुष्टं कर्मास्ति-अग्निष्टोम इव पशुवधः। विरुद्धेऽपि च कर्मणि शुभमस्ति कर्म। तथाहि [1]हिंस्रप्राणिवधे प्रजोप-

---

[1] नैकस्यार्थे बहून् हन्यादिति शास्त्रेषु निश्चयः।
एकं हन्याद्बहूनां हि न पापी तेन जायते ॥ इति उक्तत्वात्।

तापाभावः। अकरणेऽपि च शुभाशुभम्, कर्मास्ति— वाङ्मनसकृतानां कर्मणामवश्यंभावात्[1] तेषां ज्ञानमन्तरेण दुष्परिहरत्वात्। अतः कुशलैरपि गहनत्वात्कर्म न ज्ञायते 'अनेन शुभकर्मणा शुभमस्माकं भविष्यति, अनेन च कर्मणामनारम्भेण मोक्षो न भविष्यति'— इति। तस्माद्वक्ष्यमाणो विज्ञानवह्निरेवावश्यं सकलशुभाशुभकर्मेन्धनप्लोषसमर्थः शरणत्वेनान्वेष्य— इति भगवतोऽभिप्रायः ॥१७॥

कर्मों और अकर्मों का विभाग करना अति कठिन है। (कारण यह कि पुण्य तथा पाप-कर्म किन्हें कहते हैं, यह जानना मनुष्य की समझ से बाहर है।) यही उदाहरण द्वारा समझाते हैं— शास्त्र में कहे गए शुभ कर्म में भी पाप कर्म रहते हैं जैसे अग्निष्टोम यज्ञ में पशु का वध करना कहा गया है और हिंसा रूप विरुद्ध कर्म के करने में भी शुभ कर्म की प्राप्ति होती है। जैसे— प्रजा के संताप को हटाने के लिए सिंह आदि हिंसक जन्तु का वध करना पाप नहीं समझा जाता। कर्म के न करने में भी शुभ तथा अशुभ कर्म देखने में आते हैं। क्योंकि वाणी और मन के द्वारा अवश्य ही कर्म किये जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जो जन, बाह्य रूप से कर्म भी नहीं करते, वे मन तथा वाणी से अवश्य कर्म करते रहते हैं। (अतः) वे सभी मानसिक तथा वाणी के कर्म, ज्ञान-प्राप्ति के बिना हटाये नहीं जा सकते। अतः प्रबुद्ध जनों के द्वारा भी इस निम्न रीति से कर्मों का जानना कठिन है कि अमुक शुभ कर्म करने से हमारा भविष्य कल्याणमय होगा और अमुक कर्म न करने से हमें मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। अतः इस आगे कहे जाने वाले कथन से यही सिद्ध है कि विज्ञान रूपी अग्नि ही, सभी शुभ तथा अशुभ कर्म रूपी इंधन को जलाने में अवश्य समर्थ है। अतः उसी विज्ञान को अपना रक्षक मान कर उसकी खोज करनी चाहिए। यही भगवान् का अभिप्राय है।

तमेवोद्बोधयितुमाह—

उसी (ज्ञान) को जतलाते हुए कहते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्यत्यकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स चोक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

कर्मणि	= कर्म में	**पश्येत्**	= देखता है
यः	= जो	**अकर्मणि च**	= और अकर्म में (जो)
अकर्म	= अकर्म	**कर्म**	= कर्म (देखता है)

१ माविस्त्वादिति क० पाठ०

सः = वही (तो)	सः = वही
मनुष्येषु = मनुष्यों में	कृत्स्न-कर्मकृत = सभी कर्मों को करने वाला
बुद्धिमान् = बुद्धिमान है (और)	युक्तः = समाहित योगी है।

कर्मणीति— आत्मीयेषु कर्मसु यः अकर्तृत्वादकर्मत्वं पश्यति प्रशान्ततया। अकर्मसु च— परकृतेषु आत्मकृतत्वं जानाति परिपूर्णोदितस्वरूपत्वेन। स एव सर्वस्य मध्ये बुद्धिमान् कार्त्स्न्येन— साकल्येनासौ कर्म करोति। अतोऽस्य केन कर्मणा फलं दीयताम्, इत्युदतदशायाम्। प्रशान्तत्वे तु कृत्स्नानि कर्माणि कृन्तति— छिनत्ति। अतः सर्वमेव करोति न किंचिद्वा करोति— इत्युपनिषत् ॥१८॥*

कर्मों में कहने का अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति (स्वरूप में रहने से) अपने द्वारा किए गए कर्मों में देह-अभिमान के न रहने से अपने को अकर्ता ही देखता है— अनुभव करता है क्योंकि यह अद्वैत-भावना से शान्त अन्तः करण वाला होता है। तथा इसी भांति अकर्म में— अपने को परिपूर्ण मानने के नाते दूसरों के द्वारा किए गए कर्मों को मैंने ही ये कर्म किए हैं— ऐसा मानता है, वही सभी मनुष्यों में बुद्धिमान है, क्योंकि समूचे कर्म को (ज्ञान-दृष्टि से) वही करता है। अतः ऐसे (ज्ञानवान् को) किन कर्मों के आधार पर फल दिया जाए। वह तो परिपूर्ण व्यापक दशा में ठहरा है। प्रशान्त— देह-अभिमान के न होने से वह सभी कर्मों के बन्धनों को काट डालता है। अतः सभी कुछ करने पर भी (लगाव न होने से) वह कोई भी कर्म नहीं करता और कुछ न करने पर (सर्वव्यापक भावना से) सभी कर्म वही करता है। यह इस श्लोक का रहस्य-अर्थ है।

पुस्तकान्तरेष्वयमधिकः पाठः— कर्मणि-देहेन्द्रिय-क्रियायां अकर्म— स्वात्मनि निष्क्रियत्वम् 'श्रोत्रादीनि शब्दादिषु वर्तन्ते, वागादीनि वचनादानादौ मम किमायातम्', इत्येवंलक्षणं यः पश्येत्। अकर्मणि च— परैः प्रमातृभिः कृते कर्मणि पूजादौ कर्म— क्रियां जानाति; —'एते कर्तारः सर्वेऽहमेव'— इति दृष्ट्या 'पूजकैरविभेदेन सदा पूजेति पूजनम्' इति च सिद्धभाषाप्रामाण्यात्। स एव मनुष्येषु— सामान्यजनेषु मध्ये बुद्धिमान्। देहेन्द्रियादिष्वपि कर्तृत्वदर्शनादात्मनि निष्क्रियत्वदर्शनाच्च स एव कृत्स्नकर्मकृत्— कर्त्रन्तरेषु स्वरूपदृष्ट्यध्यवसायात ——

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

यस्य = जिस के
सर्वे = सभी
सम्-आरम्भाः = प्रारम्भ किए हुए कार्य
काम-संकल्प-वर्जिताः = कामना और संकल्प से रहितहैं (ऐसे)
ज्ञान-अग्नि-दग्ध-कर्माणाम् = ज्ञान की अग्नि में जलाएहुए कर्मों वाले
तम् = उस (साधक) को
बुधाः = ज्ञानीजन,
पंडितम् = पंडित
आहुः = कहते हैं।

अतएव कामेषु-काम्यमानेषु फलेषु सङ्कल्प विहाय क्रियमाणानि कर्माणि कथित-कथयिष्यमाणस्वरूपे ज्ञानाग्नावनुप्रविश्य दह्यन्ते ।।१९।।

इसी लिए कामनाओं में अर्थात् इच्छित कर्मों के फलों में संकल्प का त्याग करके किये गऐ अब तक कहे और आगे कहे जाने वाले सभी कर्म, ज्ञान रूपी अग्नि में प्रविष्ट होकर जल जाते हैं। (क्योंकि उन कर्मों का फल, फिर से अंकुरित नही होता)।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

---

* पूजनान्नास्ति मे तुष्टिर्नास्ति खेदो ह्यपूजनात् ।
पूजकैरविभेदेन सदा पूजेति पूजनम्' ।।
— इति सोमानन्दपादाः।

ननु परकृते कर्मणि कथं स्वकीयकर्मदर्शनम्— नह्यन्यकृतभोजनेन स्वकृतभोजनाभ्युपगमः। तस्मात् 'अकर्मणि च कर्म यः पश्येत्'— इति कथम ? इति चेत्। ज्ञानिनः एवंविधानुसंधानात —इति ब्रूमः। यतो निष्पन्ननिष्कम्पविज्ञानशालिनः प्रमेयान्तर-प्रमात्रन्तरजातं बहुविधमनुसंधानमस्ति। यथा 'य एवाहं घटादीन्वेद्मि स एव पटादीन्'। एवं चैत्रमैत्रादिप्रमात्रन्तरविषयमनुसंधानं ज्ञेयम्। अत एव सिद्धपादैरपि 'पूजकैरविभेदेन' इत्युपदिष्टम्। तस्मात्सुष्ठूक्तं— अकर्मणि चेति ।।१८।।

कर्म-फल = कर्मों के फल की
आसङ्गम् = इच्छा, आसक्ति को
त्यक्त्वा = छोड़ कर
नित्य-तृप्तः = सदा संतुष्ट (रहता हुआ)
निर्-आश्रयः = किसी का आश्रय लिए बिना

कर्मणि-अभिप्रवृत्तः = कर्म करता हुआ
अपि भी
सः = वह ज्ञानी
न एव किंचित् = कुछ ही नहीं
करोति = करता है।

अभिप्रवृत्तोऽपि — आभिमुख्येन प्रवृत्तोऽपि ॥२०॥

अभिवृत्त से तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष रूप से कर्म करने पर भी (वह ज्ञानी फल की अभिलाषा न रखने से कोई भी कर्म करता ही नहीं है।)

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
[1]शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

निः-आशी = आशा से रहित हुआ,
यत-चित्तात्मा = मन को वश में करने
त्यक्त-सर्व-परिग्रहः = सभी भोगों की आसक्ति को त्यागने वाला (साधक)
केवलम् = केवल मात्र

शारीरम् = शरीर संबन्धि
कर्म = कर्म
कुर्वन् = करता हुआ
किल्बिषम् = पाप का
आप्नोति — भागी
न = नहीं बनता

शरीरोपयोगी इन्द्रियव्यापारात्मकं कर्म शारीरं, यन्मनोबुद्धिभ्यां न तथानुरञ्जितम् ॥२१॥

शरीर-संबन्धि कर्म से अभिप्राय, शरीर को ठीक रखने के लिए इन्द्रियों से किये गए कर्म जो— जो कर्म, संसारियों की भांति मन तथा बुद्धि से विशेष अनुयोग (लगाव) नहीं रखते।

---

१. शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनमित्यर्थः

[१]यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

यदृच्छा-लाभ = दैव के द्वारा प्राप्त किए गए लाभ में ही जो
संतुष्टः = प्रसन्न रहे,
द्वन्द्व-अतीतः = सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से न्यारा,
विमत्सरः = ईर्षा से रहित,
सिद्धौ-असिद्धौ-समः = सफलता और असफलता में मानसिक संतुलन बनाए रखने वाला
निबद्ध्यते = बंधा
न = नहीं जाता।

कर्मकर्तरि प्रयोगः स्वयमेव ह्यात्मा आत्मानं बध्नाति फलवासनाकालुष्यमुपाददान इत्यर्थः। अन्यथा जडानां कर्मणां बन्धने स्वातन्त्र्यं न तथा हृदयंगमम् ।२२।।

कृत्वापि— कर्म करता हुआ भी— यह कर्म, कर्ता में ही लागू हुआ है। (क्योंकि कर्म तो जड होने से मनुष्य को बांध नहीं सकते।) सच तो यह है— मनुष्य, फल की वासना रूप मलिनता को ग्रहण करने से अपने आत्मा को स्वयं ही पाप-पुण्य रूपी शृंखला में बांधता है। नहीं तो जड़ कर्म, मनुष्य को बांधने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? (अतः) जड़ कर्मों का पुरुष को बांध सकने वाली बात मान्य नहीं ठहरती।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

गत-सङ्गस्य = लगाव से रहित
ज्ञान-अवस्थितिचेतसः = ज्ञान में टिके हुए मन वाले
यज्ञाय-आरभतः = यज्ञ के लिए ही सक्रिय बने हुए
मुक्तस्य = मुक्त-पुरुष का
समग्रम् = समूचा
कर्म = कर्म
प्र-विलीयते = विलीन हो जाता है। फल नहीं दे पाता।

---

१ अप्रार्थितोपनतो लाभो यदृच्छालाभः—
'अप्राप्तं नैव वाञ्छामि प्राप्तं नैव त्यजाम्यहम्।
न हृष्यामि न कुप्यामि चराम्याजगरं व्रतम्॥'—
इत्येव प्रायस्तेन संतुष्टः—संजातालंप्रत्ययः।

यज्ञायेति— जातावेकवचनम् यज्ञाः— वक्ष्यमाणलक्षणाः ॥२३॥

इस श्लोक में एकवचन का सूचक 'यज्ञ' शब्द जातिवाचक । अनेक प्रकार के यज्ञों का सूचक होने से अर्थतः बहुवचन का रूप ही है। इन यज्ञों का लक्षण आगे कहा जाता है।

यज्ञायेत्युक्तम्; — तत्स्वरूपं सामान्यं तावदाह—

यज्ञ का उद्देश्य क्या है ? यह तो हम पहिले कह आये। अब इस समय उस यज्ञ का सामान्य स्वरूप कहते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

ब्रह्मणि-अर्पणम् = संपूर्ण जगत् उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, उसी में समो देना, ब्रह्म में अर्पण करना है।

ब्रह्म = जो भी विश्वरूप जगत् है,

हविः = वही सामग्री है, उसे

ब्रह्मणि-अग्नौ = परम-बोध रूप प्रशान्त अग्नि में लय कर देना, हवन कहलाता है।

ब्रह्मणा = जिस किसी भी कर्म से (जो)

हुतम् = उस चिद्-अग्नि को उत्तेजित करना है

तेन = ऐसा सिद्ध व्यक्ति हो

ब्रह्म-कर्म-समाधिना = (जिस के लिए) ब्रह्म-कर्म ही समाधि है, उससे ही

ब्रह्मैव = ब्रह्म

गन्तव्यम् = जाना जाता है।

ब्रह्मण्यर्पणं— तत एव प्रवृत्तस्य पुनस्तत्रैवानुप्रवेशनं यस्य तत्। ब्रह्म-समग्रं विश्वात्मकं यदेतत्; हविस्तत्। ब्रह्मणि— परमबोधे प्रशान्तेऽग्नौ। ब्रह्मणा— येनकेनचित्कर्मणा हुतं— तद्दीप्त्यभिवृद्धये मर्पितम्, इतीदृशं ब्रह्मकर्मैव समाधिर्यस्य योगिनस्तेन ब्रह्मैव गन्तव्यं— ज्ञेयं नान्यत्किंचिदन्याभावात्। यदि वा तदर्थेन यदर्थाक्षेपादेवंसंबन्धः— यत्खलु ब्रह्मस्वरूपेण यजमानेन ब्रह्माग्नौ ब्रह्महविर्हुतं ब्रह्मणि ब्रह्मस्वभावदेवतोद्देशेनार्पणं यस्य, तदेवं भूतं यद्ब्रह्मकर्म, तदेव समाधिरात्मस्वरूपलाभोपायत्वात् तेनब्रह्मकर्मसमाधिना नान्यत्फलमवाप्यते अपितु ब्रह्मैवेति; 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'— इति हि निर्वाहितम्। मितस्वरूपीकृतमदात्मकयज्ञस्वभावा इति तादृशफलभागिनः— इत्युक्तम्। अपरिमितपरिपूर्णमदात्मकयज्ञस्वरूपवेदिनस्तु कथं परिमितफललवलाम्पट्यभागिनो भवेयुरिति तात्पर्येण ;

इत्यनेन श्लोकेन वक्ष्यमाणैश्च श्लोकैः परमरहस्यमुपनिबद्धम्। तच्चास्माभिर्मित-बुद्धिभिरपि यथाबुद्धि यथागुर्वाम्नायं च विवृत्तम्। मुखसंप्रदायक्रममन्तरेण नैतत् नभश्चित्रमिव चित्तमुपारोहतीति न वयमुपालम्भनीया। अत्र हविषोऽग्नेः करणानां च स्रुगादीनां क्रियायाश्च ब्रह्मविशेषणत्वमिति कैश्चिदुक्तं तदुपेक्ष्यमेव; — तेषां रहस्यसंप्रदायक्रमेऽक्षुणत्वात् ॥२४॥

ब्रह्मार्पणम् का तात्पर्य 'ब्रह्म' ही को सभी कर्म सौंप देना है। उसी परब्रह्म से प्रकट हुए सभी पदार्थों को अन्त में उसी में समो देना है। समस्त विश्व, जो भी यह ब्रह्म-रूप भाव-वर्ग है वही आहुति कहलाती है। परम ज्ञान रूप प्रशान्त अग्नि ही ब्रह्माग्नि है। ब्रह्मणा— ब्रह्म के द्वारा— जिस किसी भी कर्म से उस ब्रह्म-अग्नि की दीप्ति को बढाने के लिए भाव-वर्ग समर्पित किये गये हों उसे ब्रह्म-होम कहते हैं। इस प्रकार की 'ब्रह्म-कर्म-समाधि' जिस योगी को प्राप्त हो या यूँ कहें कि इस प्रकार के सभी कर्म, जिस योगी को ब्रह्म-समाधि का ही सुख-वितरण करते हैं वह ब्रह्म को प्राप्त करता है, क्योंकि ब्रह्म के बिना तो कोई अन्य है ही नही।

अथवा यहां 'तेन' से यद् शब्द का संकेत हुआ है। अतः इस श्लोक का अर्थ यह भी हो सकता है— वास्तव में ब्रह्म का स्वरूप बने हुए यजमान ने, ब्रह्म रूपी अग्नि में, ब्रह्मात्मक आहुति समर्पित की है और ब्रह्म-रूप देवता का नाम लेकर जो कुछ भी अर्पण किया गया है, वह ब्रह्म-कर्म-समाधि कहलाता है। इस प्रकार का कर्म करना ही आत्म-स्वरूप की प्राप्ति का उपाय है। ऐसी ब्रह्म-समाधि से अन्य कोई फल प्राप्त नहीं होता, ब्रह्म ही प्राप्त होता है। अतः 'जो भक्त जिस भावना को लेकर मेरी भक्ति करता है' इसी वाक्य को फिर से दोहराया है। मेरा जो वैश्वात्मक यज्ञ का स्वरूप है उसे परिमित रूप से भावना करने वाले, वैसे ही सीमित फल के भागी बनते हैं। यह बात भी कही गई। अब जो मेरे अनन्त परिपूर्ण विश्व रूप यज्ञ का अनुभव करते हैं वे भला अल्प-फल की प्राप्ति के व्यसन में कैसे अनुरक्त हो सकते हैं। यही अभिप्राय है। इसी प्रकार यह श्लोक तथा अगले श्लोक तात्त्विक रहस्य से भरे पड़े हैं। अल्प-बुद्धि होते हुए भी हमने रहस्य-अर्थ को, अपनी बुद्धि के अनुसार, गुरुओं तथा शास्त्र के आधार पर स्पष्ट कर दिया है। जिन लोगों का कोई गुरु-संप्रदाय नहीं है उनके लिए तो ऐसा रहस्य-पूर्ण अर्थ आकाश-पुष्प की तरह बेकार होकर मन में टिक ही कैसे सकता है। अतः इसके लिए हमें दोषी न ठहराया जाय।

कई टीकाकार इस श्लोक में, आहुति, अग्नि तथा स्रुवा आदि उपायों और

सामग्रियों को ब्रह्म का विशेषण जताते हैं। ऐसी टीकाओं की उपेक्षा करनी ही ठीक है। यतः वे तो रहस्य-संप्रदाय की किसी डगर पर (कभी) चले ही नही हैं या यों कहें कि वे रहस्य-संप्रदाय में अभ्यस्त नही हैं।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

अपरे-योगिनः = दूसरे योगी
दैवम् = (अपनी) इन्द्रियों का (आश्रय लेकर)
यज्ञम् = (उन्हें तृप्त करने की)
परि-उपासते = यज्ञ करते रहते हैं।
अपरे = (इनसे) भिन्न योगी
ब्रह्म-अग्नौ = इन्द्रियों के विषयों में
यज्ञम् = विषयों अर्थात् पदार्थों का आश्रय लेकर
यज्ञेन एव = यज्ञ-शब्द, स्पर्श द्वारा
उप-जुह्वति = हवन करते हैं।

अपरे देवानि— क्रीडाशीलानि इन्द्रियाणि आश्रित्य यः स्थितो यज्ञो— निजनिज-विषयगृहणलक्षणः तमेव परित उपासते— आमूलाद्विमृशन्त स्वात्मलाभं लभन्ते। अत एव ते योगिनः— सर्वावस्थासु सततमेव योगयुक्तत्वात्। नित्ययोगे ह्ययमत्र मत्वर्थीयः। एनमेव च विषयगृहणात्मकं यज्ञं यज्ञेनैव— तेनैव लक्षणेन अपरे— पूरयितुमशक्ये ब्रह्माग्नौ जुह्वति— इति कैश्चिदव्याख्यातम्। मुनेस्तु पौर्वापर्याविरुद्धत्वद्योऽर्थो हृदि स्थितस्तं प्रकाशयामः;— केश्चिद्योगयुक्ता सन्तो दैवं— नानारूपेन्द्रादिदेवतोद्देशेनैव बाह्य-द्रव्यमयं यज्ञमुपाचरन्ति। तं च क्रियमाणमेव यज्ञं कर्तव्यमिदमित्येव बुद्धचा फलमपेक्षया अपरे— दुष्पूरे ब्रह्माग्नावर्पयन्ति— इति द्रव्ययज्ञा अपि परं ब्रह्म यान्ति। यतो वक्ष्यते 'सर्वेऽप्येते यज्ञविदः'— इति। श्रुतिरपि 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इति ॥२५॥

अपरे— कई दूसरे योगी— आमोद-प्रमोद में लगी हुई इन्द्रियों के आश्रित जो यज्ञ ठहरा है उसी की उपासना करते हैं। वह यज्ञ तो इन्द्रियों के, अपने अपने विषयों को ग्रहण करना ही है। उसी विषय ग्रहण-रूप क्रिया की उपासना भली-भांति करते हैं फल यह होता है कि वे सब का मूल-कारण बने हुए या यों कहें मूल-आधार रूप बने हुए (प्रथमाभास) स्वरूप का विमर्श करते हुए स्वात्म लाभ को प्राप्त करते हैं। अतः वे योगी, सभी (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि) अवस्था मे योगयुक्त ही बने रहते हैं। उपर्युक्त 'योगिनः' शब्द में सदा योग में रत होने के कारण

ही 'मतुप्' प्रत्यय लगा है। तभी तो योगी वही कहलाता है (जो रात-दिन योग में लगा रहे।)

इसी प्रकार के विषयों को भोगना ही जो यज्ञ है, उसे यज्ञ के द्वारा, जिसकी पूर्ति होनी असंभव है, ऐसे (विषयों को) ब्रह्म रूपी अग्नि में अर्पण करते हैं। इस रीति से कई (टीकाकार) व्याख्या करते हैं। हम तो पिछले तथा अगले श्लोकों से संबद्ध उसी अर्थ पर प्रकाश डालते हैं जो व्यास मुनि के हृदय में उद्भासित है।

कई योगी, योग-युक्त होने पर भी दैवम् का अर्थ इन्द्र आदि अनेक रूप वाले देवताओं के नाम से, बाह्य (जौ आदि) सामग्री से द्रव्यमय यज्ञ करते हैं। वे यह यज्ञ अपना कर्तव्य जान कर तथा किसी भी फल की अपेक्षा न रखते हुए ही रचते हैं। यद्यपि इस यज्ञ की पूर्ति करनी अशक्य है, फिर भी वे इस द्रव्य-यज्ञ को ब्रह्म-अग्नि समझ कर उस में सभी सामग्रि को अर्पण करते हैं। अतः द्रव्य-यज्ञ (हवन) करने वाले भी परं ब्रह्म को (ही) प्राप्त करते हैं। जभी तो भगवान् आगे कहेंगे— ये सभी प्रकार के यज्ञ करने वाले वास्तविक स्वरूप को जानने वाले हैं। श्रुति भी कहती है-- 'देवता तो यज्ञ से ही यज्ञ में अनुष्ठान करते थे।' या यों कहें कि वे निष्काम यज्ञ करते थे।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अन्ये = दूसरे (साधक)
संयम-अग्निषु = संयम रूपी अग्नि में
श्रोत्र आदि = कान आदि
इन्द्रियाणि = ज्ञानेन्द्रिय के विषयों को
जुह्वति = होमते हैं
च = और
अन्ये = कई अन्य तो

शब्द आदि = शब्द आदि
विषयान् = विषयों को (ही)
इन्द्रिय = इन्द्रिय रूपी
अग्निषु = अग्नि में
जुह्वति = हवन करते हैं (भोगों को वासना की समाप्ति तक) भोगते हैं।

अन्ये तु संयमाग्निष्विन्द्रियाणीति। संयमः— मनः, तस्य येऽग्नयः— प्रतिपन्नभावभावनारूपा अभिलाषप्लोषका विस्फुलिङ्गाः, तेषु इन्द्रियाण्यर्पयन्ति। अत एव ते

तपोयज्ञाः। इतरे ज्ञानप्रदीपितेषु फलदाहकेष्विन्द्रियाग्निषु विषयानर्पयन्ति— भोगवासना-निरासायैव भोगानभिलषन्तीत्युपनिषत्। तथा च मयैव लघ्व्यां प्रक्रियायामुक्तम्—

'न भोग्यं व्यतिरिक्तं हि भोक्तुस्त्वत्तो विभाव्यते।
एष एव हि भोगो यत्तादात्म्यं भोक्तृभोग्ययोः॥'

इति। स्पन्देऽपि

'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः' इति ॥२६॥
(स्प०, २ नि०, ४ श्लो०)

अन्य योगी तो संयम रूपी अग्नि में इन्द्रियों को होमते हैं। संयय मन को कहते हैं। उस मन की जो अग्नि है अर्थात् सुनिष्पन्न आत्म-सत्ता की निरन्तर भावनाएँ जो विषयरूपी अभिलाषा को जलाने वाली चिनगारियां हैं, उन्हीं में इन्द्रियों को अर्पित करते हैं। या यों कहें— स्वीकृत किए गए पदार्थ और अभाव रूप पदार्थ (जैसे खरगोश के सींग, चिडिया का दूध आदि) अनहोनी वस्तुओं में भी आत्म-सत्ता की होने वाली भावनाएँ जो इच्छा को जलाने वाली चिंगारियां हैं, उन्हीं में इन्द्रियों के विषयों को सौंप देते हैं। इसलिए वे (तपस्या की अग्नि का निर्वाहन करने के हेतु) तपो-यज्ञ कहलाते हैं।

अन्य तो ज्ञान द्वारा प्रज्वलित, फल को जलाने वाली इन्द्रिय रूपी अग्नि में विषयों को होमते हैं। वे तो भोग-वासना को हटाने के लिये ही भोगों का भोग करते हैं। यह इस श्लोक का रहस्य अर्थ है। मैं ने भी तो 'लघु-प्रक्रिया' नाम वाली (अपनी) पुस्तक में कहा है—

हे प्रभु! आप भोक्ता (प्रमाता) से भिन्न कोई भी भोग्य पदार्थ नहीं है। वास्तव में भोग का लक्षण यही है कि जहां भोक्ता (प्रमाता) तथा भोग्य (प्रमेय) की तदात्मता (एक रूपता) हो।

स्पन्द में भी कहा है—
'भोक्ता प्रभु ही, भोग्य रूप जगत के रूप में सदा और सभी में ठहरा है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अपरे = दूसरे योगी

सर्वाणि = सभी

इन्द्रिय-कर्माणि = इन्द्रियों की उछल-कूद को

प्राण-कर्माणि च = और प्राणों के व्यापार को

ज्ञान-दीपिते = ज्ञान से प्रकाशित हुई

आत्म-संयम-योग-अग्नौ = मन के एकाग्र होने वाले योग की अग्नि में

जुह्वति = होमते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

अपरे = दूसरे कई

संशितव्रताः = अहिंसा आदि कठिन व्रतों को पालने के नियमों को जो लांग चुके हैं

यतयः = ऐसे यत्नशील (व्यक्ति)

द्रव्य यज्ञाः = धन से होम करने वाले

तथा = और

तपः-यज्ञाः = तपस्या रूपी यज्ञ से

योग-यज्ञाः = योग-यज्ञ (तथा)

स्वाध्याय = अद्वैत शास्त्रों को पढ़ने से

ज्ञान-यज्ञाः = ज्ञान-यज्ञ का हवन करते हैं।

ते च सर्वान्— इन्द्रियव्यापारान्मानसान् मुखनासिकानिर्गमन मूत्राद्यधोनयनादीन्वायवीयांश्च आत्मनो – मनसः संयमहेतौ योगनाम्न्यैकाग्र्यवह्नौ सम्यक् ज्ञानपरिदीपिते पूरयितव्ये निवेशयन्ति,— गृह्यमाणं विषयं संकल्प्यमानं वा तदेकाग्रतयैव परित्यक्तान्यव्यापारतया बुद्ध्या गृह्णन्तीति तात्पर्यम्। तदुक्तं शिवोपनिषदि—

'भावेऽत्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावन्तरं व्रजेत्।

तदा तन्मयभावेन विकसत्यति भावना ॥ (वि० भै० ६२ श्लो०)

इति। एवं योगयज्ञा व्याख्याताः ॥२७॥

वे सभी – मानसिक इन्द्रिय व्यवहार और मुख-नासिका से कफ, नेटा आदि का बहना तथा मल-मूत्र का अधोभाग से निःसरण होना जो यह प्राणों का व्यवहार है इन दोनों मानसिक तथा वायवी व्यापारों को वे योगी, आत्मा तथा मन को रोकने के लिए एकाग्रता की योग-अग्नि में भली-भांति ज्ञान को प्रज्वलित अर्थात् परिपूर्ण बनाने के लिए प्रविष्ट करते हैं। तात्पर्य यह है कि भोगे हुए अथवा संकल्प

किए हुए किसी एक विषय को अन्य विषयों से निवृत्त करके केवल उसी में एकाग्र बुद्धि से उसे ग्रहण करते हैं। एक ही विषय पर धारणा लगा कर अपना अभीष्ट आत्म-योग को प्राप्त करते हैं। यही भाव शिवोपनिषद् (विज्ञान-भैरव) ग्रन्थ में भी कहा है।

"किसी एक वस्तु को लेकर, उस पर अपने मन को टिका कर, दूसरे पदार्थ की ओर मन को जाने नहीं देना चाहिए। इस प्रकार उस एक ही विषय में लगे रहने से अति उच्च आत्म-भावना का विकास होता है।"

इस प्रकार योग-यज्ञों की व्याख्या की गई।

एवं द्रव्ययज्ञस्तपोयज्ञो यागयज्ञश्चोक्तलक्षणाः। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च ये—ते संप्रति लक्ष्यन्ते—

इस उपर्युक्त रीति से द्रव्य-यज्ञ, तपो-यज्ञ और योग-यज्ञ के लक्षण कहे गये। अब शेष दो यज्ञ स्वाध्याय-यज्ञ और ज्ञान-यज्ञ के लक्षण कहे जाते हैं—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपरे = अन्य योगी
प्राणे प्राण वायु में
अपानम् = अपान वायु का
अपाने च = और अपान वायु में
प्राणम् = प्राण वायु को
जुह्वति = होमते हैं। (इस भाँति)
प्राण = प्राण (तथा)
अपान = अपान की
गतिः = गति को
रुद्ध्वा = रोक कर
प्राणायाम = प्राणायाम में
परायणाः = लगे रहते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अपरे = दूसरे
नियत-आहाराः = नियम-पूर्वक आहार करने वाले (योगी)
प्राणान् = प्राणों को
प्राणेषु = प्राणों में
जुह्वति = होमते है। (इस प्रकार)
यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः = यज्ञ से पापों को नष्ट करने वाले
एते = ये
सर्वे = सभी
अपि = ही
यज्ञ-विदः = यज्ञ के (मर्म को) जानने वाले हैं।

प्राणम्— उदयमानं नादं प्रणवादिमात्रालयान्तम् अपाने— अस्तं याति स्वानन्दान्तः प्रवेशात्मनि जुह्वतीति पिण्डस्थैर्यात्मा स्वाध्यायः। शिष्यात्मना च नयानयग्रहणाय केचित् अस्तं यान्तमुदीयमाने संवेश्य तदेकीकारेणापवर्गदानात् आत्मनि शिष्यात्मनि च शोधनबोधनप्रवेशनयोजनरूपे स्वाध्याययज्ञे स्वपरानन्दमये प्रतिष्ठितमनसः। अत एव पूरकः प्रथममुक्तः, चरमं रेचकः। प्रथमेन च पादेन विषयभोगान्तर्मुखीकरणम्। द्वितीयेन महाविदेहधारणाक्रमाद्विषयग्रहणाय निःसरणं ध्वन्यते। अतश्च स्वाध्याययज्ञेभ्योऽन्ये ज्ञानयज्ञाः। एते एवोक्तव्यापारपरिशीलनावशपरिपूरितस्वात्मशिष्यात्ममनोरथाः द्वेऽप्येते गती निरुध्याहारं विषयभोगात्मकं नियम्य प्राणान्— सकलचित्तवृत्युदयान् प्राणेषु— परनिरानन्दोल्लासेषु जुह्वति— कुम्भकप्रशान्त्यार्पयन्ति। सर्वे चैते द्रव्ययज्ञात्प्रभृति ज्ञानयज्ञान्तं यज्ञस्य तत्त्वज्ञाः; तेनैव च क्षपितकल्मषाः— समूलोन्मूलित— भेदवासनामयमहामोहाः ॥३०॥

प्राण— उदय में आया हुआ नाद, शिष्य के द्वारा उच्चारण में आई हुई जो ओम् की अन्तिम मात्रा है, उसे वास्तव में प्राण कहते हैं। उस प्राण को योगी, अपने आत्म आनन्द रूपी अपान में प्रवेश करके हवन करता है। शिष्य की प्राण-शक्ति को अपने में लीन करता है। इस रीति से शिष्य के पिंड आत्मा को आत्मा में स्थिर बनाना ही स्वाध्याय कहलाता है। (इतना ही नहीं) अपने हृदय को शिष्य के हृदय के साथ एक बनाकर, शिष्य को मोक्ष प्रदान करता है तथा साथ ही अपने तथा शिष्य के आत्मा का शोधन, बोधन, प्रवेशन और पर-तत्त्व-योजना नामक स्वाध्याय यज्ञ का अनुष्ठान करता है। (भाव यह है— शिष्य के अन्तः करणों को पहिले शुद्ध बनाता है, फिर अन्तः करणों को जागृत करता है वही बोधन कहलता है। फिर उसके अन्तः करणों में अपनी संवित्ति को प्रविष्ट करता है यही प्रवेशन कहलाता है। इस के बाद उसकी आत्मा को मोक्ष पद्धवि के साथ योजना करता है। यही इस योगी का स्वाध्याय-यज्ञ है। इस रीति से गुरु अपने को तथा शिष्य को चिदानन्द में ठहराता है। अतः पहिले तो 'पूरक' कहा और अन्त में 'रेचक' कहा। (इस श्लोक के) पहिले चरण में तो विषय भोगों को अन्तर्मुख बनाने का उपदेश और दूसरे चरण में 'महा-विदेह-धारणा' करने के क्रम से विषयों को स्वीकार करने के निमित्त बाह्य विषयों से छूटने का उपदेश सूचित किया है। अतः स्वाध्याय यज्ञ से जो भिन्न है वह ज्ञान यज्ञ है। इसी भांति उपर-वर्णित व्यापार का अभ्यास करने से गुरुजन अपने स्वरूप-लाभ के प्रयोजन को तथा शिष्य के मोक्ष-प्राप्ति रूप मनोरथ को सफल बनाता है। तत्पश्चात् ज्ञान-यज्ञ का अभ्यास करने के लिए इन दोनों प्रकार की क्रियाओं का निरोध करके विषय-भोग के आहार को अपने वश में करके, सभी चित्त की वृत्तियों का उदय-

स्थान बने हुए प्राणों को अपर प्राणों में, अर्थात् परानन्द निरानन्द आदि पारमार्थिक आनन्द भूमियों में हवन करता है। इस रीति से (ये योगी) शिष्य-आभास तथा गुरु-आभास से रहित वास्तविक प्राण-अपान को निरोधात्मक कुंभक रूपी प्रशान्त अग्नि में अर्पण करते हैं! अत: द्रव्य-यज्ञ से लेकर ज्ञान-यज्ञ करने वालों तक सभी योगी, यज्ञ के वास्तविक तत्त्व को जानते हैं। इस प्रकार वे सभी पापों से छूट जाते हैं। सभी (यज्ञ-कर्त्ता) भेद-वासना रूपी महान मोह को जड से उखाड़ फेंकते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

कुरु-सत्तम = हे अर्जुन !
यज्ञ-शिष्ट-अमृत-भुज: = यज्ञों के परिणाम रूप ज्ञान-अमृत को भोगने वाले,
सनातनम् = सनातन
ब्रह्म = ब्रह्म को
यान्ति = प्राप्त होते हैं।
अयज्ञस्य = यज्ञ न करने वाले व्यक्ति को (तो)
अयम् = यह
लोकः = मनुष्य-लोक (भी सुख देने वाला)
न = नहीं (होता)
अस्ति = है, (फिर भला)
अन्य: = पर-लोक
कुतः = क्या (सुख-दायक) होगा।

यज्ञेन शिष्टम्— आहुतं, यज्ञाच्च— निजकरणतर्पणरूपात् अवशिष्टं— स्वात्मविश्रान्तिरूपं परानन्दनिरानन्दात्मकममृतं भुञ्जाना अपि यथेच्छं संसृजन्ते ब्रह्मतयेति तदुपरम्यतेऽतिरहस्यस्फुटप्रकटनवाचालतायाः। अत्र च बहुतरो रहस्यरसोऽन्तः संलीनीकृतोऽपि निबिडतरभक्ति सेवासंप्रसादितगुरुचरणप्राप्तसंप्रदायमहौषधसमीकृतधातूनां चर्वणादिविषयतां भूतार्थस्वादहेतुतां च प्रतिपद्यते। अत्र च व्याख्यान्तराणि टीकाकारैः प्रदर्शितानि। तान्यस्मद्गुरुपादनिरुक्तानि च स्वयमेव सचेतसः संप्रधार्यन्ताम् इति किमन्येन हन्त व्याख्यातृवचनदूषणाविनोदनेन। तदुपक्रान्तमेवोपक्रम्यते ॥३१॥

यज्ञ के द्वारा जो शिष्ट— अर्थात् प्राप्त किया जाय उसे यज्ञशिष्ट कहते हैं। अथवा यज्ञ से बचा हुआ जो हुत-शेष है वह भी यज्ञ-शिष्ट है। अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने से अपने आत्मा में विश्रान्ति रूप, परानन्द, निरानन्द आदि योग-भूमियों

की अनुभूतियों से अपने आत्म-अमृत का (जो) भोग भी करते हैं वे भी ब्रह्मा की भान्ति जगत को अपनी इच्छा के अनुसार (उत्पन्न) करते हैं। जगत की उत्पत्ति तथा संहार वे कैसे करते हैं? इस रहस्य-विषय को व्यक्त करना तो बेकार है। अत: इस विषय को हम यहीं समाप्त करते हैं। इस श्लोक में अति रहस्यमय पारमार्थिक रस के निहित होने पर भी, दृढ भक्ति और सेवा से प्रसन्न बताये हुए गुरु-चरणों से प्राप्त किए गये शास्त्र रूपी महौषधि के द्वारा जिनकी भेद से पूर्ण वृत्तियाँ विगलित हो गई हैं, वे ही इस पारमार्थिक विषय के तात्त्विक परमार्थ-रस का आस्वाद लेते हैं।

इस श्लोक पर कई टीकाकारों ने और भी व्याख्याएँ लिखी हैं। उन टीकाओं और हमारे श्रेष्ठ गुरुओं के द्वारा कही गई इस टीका को सचेतस प्रज्ञावान जन स्वयं बांचे। अत: अन्य व्याख्याकारों के वचनों का खंडन करने के विनोद से हमें क्या प्रयोजन है। इस लिए प्रस्तुत विषय ही कहेंगे:

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

एवम् = इस रीति से
बहु विधा: = बहुत प्रकार के
यज्ञा: = यज्ञ,
ब्रह्मण: = ब्रह्म की प्राप्ति के
मुखे = उपाय रूप में
वितता: = विस्तार-पूर्वक कहे हैं
तान् = उन
सर्वान् = सब को
कर्मजान = इन्द्रियों के कर्मों से ही उत्पन्न हुआ
विद्धि = जानो
एवं = इन प्रकार
ज्ञात्वा = जान कर
विमोक्ष्यसे = बन्धनों से छूट जाओगे।

सर्वे चैते यज्ञा: ब्रह्मणो मुखे–द्वारे उपायत्वे कथिता: तेषु कर्मणामनुगमोऽस्ति। एवंज्ञात्वा त्वमपि बन्धनात् मोक्ष्यसे । ३२।।

ये सभी यज्ञ, ब्रह्म के मुख में— ब्रह्म-द्वार के लिए या ब्रह्म-मार्ग को प्राप्त करने के उपाय ही कहे गए हैं। उन सभी यज्ञों में कर्म ही अनुगत है। वे यज्ञ, प्रस्तुत कर्म-योग के द्वारा ही किए जाते हैं। इस प्रकार जान कर तुम भी (द्वैत रूपी) बन्धन से छूट कर मोक्ष को प्राप्त करोगे।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

परंतप = हे अर्जुन !
द्रव्य-मयात् = हवन सामग्री से सिद्ध होने वाले
यज्ञात् = यज्ञ से
ज्ञान-यज्ञः = ज्ञान-यज्ञ (ही)
श्रेयान् = उत्तम है। (क्योंकि)
सर्वम् = सभी
कर्म = कर्म (तो) (अन्त में)
पार्थं = हे अर्जुन !
ज्ञाने = ज्ञान में ही
अखिलम् = पूर्ण रूप से
परि-सम्-आप्यते = परिणत हो जाता है।

अत्र त्वय विशेषः; —द्रव्ययज्ञात्केवलाज्ज्ञानदीपितो यज्ञः श्रेष्ठः। केवलता च मयटा सूचिता। यतः सर्वं कर्म ज्ञाने निष्ठामेति ॥३३॥

इस यज्ञ के प्रस्ताव में यह विशेष बात कही गई है कि द्रव्य मात्र के यज्ञ से, ज्ञान से प्रदीप्त, यज्ञ ही श्रेष्ठ है। इस श्लोक में 'केवलता' के अर्थ को *मयट प्रत्यय सूचित करता है क्योंकि सभी कर्म, ज्ञान में ही ठहरे हैं।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

तत् = उस परम तत्त्व को
प्रणिपातेन = एकाग्र मन से (जुट कर)
सेवया = प्रयोग में लाकर (अभ्यास के द्वारा)
उस के विभिन्न पक्षों पर अपने आप से)
परि-प्रश्नेन = पूछ-पूछ कर
विद्धि = जान लो (वे)
तत्त्व-दर्शिनः = पारमार्थिक-स्वरूप को जतलाने वाली
ज्ञानिनः = (अपनी ही) इन्द्रियां
ते = तुम्हें
ज्ञानम् = सच्चे ज्ञान का
उप-देक्ष्न्ति = उपदेश करेंगी।

---

* द्रव्यमयात्' इस शब्द में मयट् - प्रत्यय आया है।

तच्च— ज्ञानं प्रणिपातेन— भक्त्या, परिप्रश्नेन— ऊहापोहतर्कवितर्कादिभिः सेवया —अभ्यासेन जानीहि। यत एवंभूतस्य तव ज्ञानिनो —निजा एव सवित्तिविशेषानुगृहीता इन्द्रियविशेषाः, तत्त्वम् उप-समीपे देक्ष्यन्ति— प्रापयिष्यन्ति। तथाहि ते तत्त्वमेव दर्शयन्तीति तत्त्वदर्शिनः। उक्तं हि

'योग एव योगस्योपायः'। 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'॥ (यो सू० १, ४८)

इति। अन्ये ज्ञानिनः पुरुषाः, —इति व्याख्यायमाने, भगवान्स्वयमुपदिष्टवांस्तदसत्यम्— इत्युक्तं स्यात्। एवमभिधाने च प्रयोजनमन्येऽपि लोकाः प्रणिपातादिना ज्ञानिभ्यो ज्ञानं गृह्णीयुर्न यथा कथञ्चिदिति समयप्रतिपादनम् ॥३४॥

वह ज्ञान, प्रणिपात— भक्ति से, परिप्रश्न— विभिन्न पक्षों पर सोच-विचार द्वारा, अपने मन में ही तर्क-वितर्क करने से और सेवा— निरन्तर अभ्यास से प्राप्त करोगे। इस कारण भक्ति, सत्तर्कात्मक विचार, निरन्तर अभ्यास तथा पारमार्थिक प्रत्यात्म-दर्शन से अनुग्रहीत बनी हुई अपने इन्द्रिय रूप ज्ञानीजन ही तुम्हें अति निकट ठहरे हुए आत्म-तत्त्व का दर्शन प्राप्त कराएँगे। इसी लिए तो ये इन्द्रियाँ पर-तत्त्व को दिखाने के कारण तत्त्वदर्शी कहलाती हैं। कहा भी है—

"योग ही योग (को प्राप्त करने) का उपाय है।"

'वहाँ प्रज्ञा (साक्षात्कार करवाने वाली बुद्धि) ऋत-सत्य से परिपूर्ण है।"

कई अन्य टीकाकार 'ज्ञानी' शब्द से सर्व-साधारण एवं तथा-कथित ज्ञानी पुरुषों का अभिप्राय लेते हैं— यदि इसी व्याख्या को यथार्थ माना जाये तो दूसरे शब्दों में यह कहना होगा कि साक्षात् श्रीभगवान् के द्वारा (अर्जुन को) स्वयं उपदेश देना असत्य ही था। यदि वस्तु-स्थिति यही होती तो इस अनिष्ठापत्ति से छुटकारा मिलना असंभव था कि अन्य (पाखंडी) जन, प्रणाम आदि का आश्रय लेकर गुरु-जनों से ज्ञान का सौदा खरीदने लगते। ऐसी परिस्थिति में शास्त्रों का यह उपदेश 'वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्कट परा-भक्ति की आवश्यकता है" भी निरर्थक हो जाता। यहाँ तो आन्तरिक शुद्ध आचरण करने के फल-स्वरूप ही पारमार्थिक-लाभ-प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

पाण्डव = हे अर्जुन !
यत् = जिस (तत्त्व) को
ज्ञात्वा = जान कर (तुम)
पुनः = फिर
एवम् = इस प्रकार
मोहम् — अज्ञान को
न = नहीं
यास्यसि = प्राप्त करोगे ।
च = और
अथो साथ ही
येन = जिस ज्ञान के द्वारा
भूतानि प्राणियों को
अशेषेण = समग्र रूप से
आत्मनि = अपने में ही (देखते हुए)
मयि = मुझ (विश्वाकार) में
द्रक्ष्यसि = देखेंगे ।

आत्मनि मयि— मत्स्वरूपतां प्राप्ते, आत्मनि— इति सामानाधिकरण्यम् । अथोशब्दः पादपूरणे । आत्मन ईश्वरस्य साम्ये कोऽपि विशेष उक्तः । असाम्ये विकल्पानुपपत्तिः । ॥३५॥

आत्मरूप मुझ में— मेरा स्वरूप बनी हुई अपनी आत्मा में ही : 'आत्मनि' पद में समानाधिकरण का भाव है । 'अथ' शब्द तो पाद-पूरक है । आत्मा का ईश्वर के साथ साम्य बताकर विशेष बात कही गई है । 'असाम्य' में विकल्प की गुंजाइश ही नहीं रहती ।

'सर्वं कर्माखिलम्' —इति यदुक्तं तत्स्फुटयितुं प्रथमश्लोकेनाधर्मोऽपि नश्यति— इति वदन् 'सर्वं कर्म— इति द्वितीयेन संस्कारलेशोऽपि नावतिष्ठते — इति सूचयन् 'अखिलम्— इति व्याचष्टे 'अपि चेत्'— इत्यादि 'संशयात्मनः'; —इत्यन्तम् ।

'सभी अखिल कर्म' (ज्ञान में जाकर समाप्त हो जाते हैं) इस प्रकार जो कहा है, उसको स्पष्ट करने के लिए 'अपि चेदसि' इस पहिले श्लोक में 'ज्ञान से अधर्म भी नष्ट होता है', इस प्रकार कहता हुआ 'सर्वं कर्माखिलम्' इस दूसरे श्लोक से—ज्ञानी को कर्म के संस्कार का लेशमात्र भी नही रहता— इस अभिप्राय को सूचित करता हुआ 'अपिचेत्' से लेकर 'संशयात्मनः' इस श्लोक तक 'अखिल' शब्द की व्याख्या की है ।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

अपि चेत् = भले ही (तुम)
सर्वेभ्य: = सभी
पापेभ्य: = पापियों में
पाप-कृत्-तम: = सब से अधिक पापी (क्यों न)
असि = ठहरो
(फिर भी)

ज्ञान-प्लवेन-एव = ज्ञान रूपी नौका से ही
सर्वम् = सभी
वृजिनम् = पाप के (समुद्र) को
सम्-तरिष्यति = पार कर जाओगे।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् क्रियतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

अर्जुन = हे अर्जुन !
यथा = जैसे,
समिद्ध: = जलती हुई
अग्नि: = अग्नि
एधांसि = लकडी को
भस्मसात् = एकदम राख
कुरुते = बना देती है।

तथा = वैसे ही
ज्ञान-अग्नि: = ज्ञान रूपी अग्नि
सर्व-कर्माणि = संपूर्ण कर्मों को
भस्म-सात् = (संस्कार सहित) समाप्त
कुरुते = कर देती है।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

इह = इस संसार में
ज्ञानेन = ज्ञान के
सदृशम् = समान
पवित्रम् = पवित्र करने वाला
हि = कोई भी वस्तु
न = नहीं
विद्यते = है।

तत् = उस ज्ञान को
योग-संसिद्ध: = योग से सिद्धि को प्राप्त हुआ (साधक)
कालेन = समय आने पर
स्वयम् = अपने आप
आत्मनि = आत्मा में (ही)
विन्दति = अनुभव करता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

तत्परः = आत्म-साधना में लीन बना हुआ,
संयत-इन्द्रियः = जितेन्द्रिय,
श्रद्धावान् = श्रद्धा से युक्त व्यक्ति,
ज्ञानम् = ज्ञान को
लभते = प्राप्त होता है। (तब फिर)
ज्ञानम् = ज्ञान को
लब्ध्वा = प्राप्त करके
अचिरेण = शीघ्र ही
पराम् = पार्यन्तिक
शान्तिम् = सौभाग्य को
अधि-गच्छति = प्राप्त करता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अज्ञः = (तत्व को न जानने वाला) मूर्ख
च = और
अ-श्रद्धधानः = श्रद्धा से रहित
च = तथा
संशय-आत्मा = संशय में पड़ा हुआ (डांवाडोल) पुरुष
विनश्यति = उजड़ जाता है (कहीं का नहीं रहता)
अतः = ऐसे
संशय-आत्मनः = संशय वाले के लिए तो
सुखम् (अपि) = सुख है ही
न = नहीं (और)
अयम् = यह
लोकः = लोक है
न = न
परः = परलोक (ही)
अस्ति = है।

समिद्धोऽभ्यासजातप्रतिपत्तिदार्ढ्यबन्धेन ज्ञानाग्निर्भवति यथा तथा प्रयतनीयमिति। पवित्रं हि ज्ञानसमं नास्ति। अन्यस्य संवृद्ध्या[1] पवित्रत्वं न वस्तुत इत्यतिप्रसङ्गभयान्न प्रतायते। पवित्रतां चास्य स्वयं ज्ञास्यति सुप्रबुद्धतायाम्। अत्र च श्रद्धागमस्तत्परव्यापारत्वं झगित्येव आस्तिकत्वादसंशयत्वे सति उत्पद्यते। तस्मादसंशयवता गुर्वागमादृते न भाव्यं-संशयस्य सर्वनाशकत्वात्। ससंशयो हि न किंचिज्जानाति, अश्रद्दधानत्वात्। तस्मात् निःसंशयेन भाव्यमिति वाक्यार्थः ॥४०॥

---

१ संवृत्येत्यपि पाठः।

जिस किसी भी उपाय से ज्ञान-अग्नि की अभ्यास रूपी समिधा (लकड़ी) धधक उठे, या यों कहें कि अभ्यास से उत्पन्न आत्म-विश्वास से पूर्ण दृढता को प्राप्त करे, उसी रीति से भगीरथ-प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञान के समान तो अन्य कोई वस्तु पवित्र नहीं है। अन्य वस्तु तो संवृद्धि—परिणत होने से अर्थात् अन्य रूप धारण करने से पवित्र बनती हैं। वास्तव में पवित्र नहीं होती। इस विषय को विस्तार के भय से आगे नहीं बढाया जा रहा है। इस ज्ञान की पवित्रता तो सुप्रबुद्ध बनने पर स्वयं ही अनुभव में आती है। संशयों को दूर करने से और आस्तिकता को प्राप्त करने से इस ज्ञान के प्रति श्रद्धा तथा शास्त्रों में लगन शीघ्र ही उत्पन्न होती है। अतः (साधक) को गुरु तथा आगम को छोड़ कर संशय-रहित नहीं बनना चाहिए। (कहने का अभिप्राय यह है कि व्यवहार दशा में सदा संशयवान रहना चाहिए। किन्तु परमार्थ मार्ग में गुरु तथा शास्त्र पर कदापि संशय नहीं करना चाहिए।) क्योंकि संशय, सर्वनाश करने वाला है। संशय रखने वाला व्यक्ति तो कुछ भी नहीं जान पाता। उसे तो गुरु तथा शास्त्र पर अश्रद्धा होती है। इसलिए संशय से रहित बनना चाहिए। यह तात्पर्य है।

सकलाध्यायविस्फारितोऽर्थः श्लोकद्वयेन संक्षिप्यते—

इस अध्याय का विस्तृत अर्थ संक्षिप्त रूप से दो श्लोकों में कहते हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

धनंजय = हे अर्जुन !

योग-संन्यस्त-कर्माणं = योग द्वारा कर्मों के फलों से न्यारे रहने वाले

ज्ञान-संछिन्न-संशयम् = ज्ञान द्वारा संशय को काटने वाले (ऐसे)

आत्मवन्तम् = आत्मा का साक्षात्कार करने वाले को

कर्माणि = कर्म

न = नहीं

निबध्नन्ति = बांध पाते हैं।

योगेनैव कर्मणां संन्यास उपपद्यते नान्यथा, इति विचारितं, **विचारयिष्यते च** ॥४१॥

योग से ही कर्मों का संन्यास (त्याग) किया जा सकता है। अन्य उपाय से नहीं। यह विषय हमने विचारा है आगे भी विचारेंगे।

यत एवम्—
जब यह बात सिद्ध हुई —

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैवं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

तस्मात् = इस लिए ।
भारत ! = हे अर्जुन !
अज्ञान-संभूतम् = अज्ञान से उत्पन्न हुए
हृत्-स्थम् = हृदय में ठहरे हुए
आत्मनः = अपने
संशयम् = संदेह को
एवम् = इस प्रकार
ज्ञान-असिना = ज्ञान की तलवार से
छित्वा = काट कर
योगम् = योग में
आतिष्ठ = जुट जाओ ।
(ततः च) = (उसके पश्चात्)
उत्तिष्ठ = (अपना कर्तव्य निभाने के लिए) खड़े हो जाओ ।

संशयं छित्वा योगं — कर्मकौशलमातिष्ठ उक्तक्रमेण । ततश्च उत्तिष्ठ — स्वं स्वव्यापारं कर्तव्यतामात्रेण कुरु, इति शिवम् ॥४२॥

संशयों को काट कर कही हुई रीति से, कर्मों के करने में सजग रहना ही जो पटुता है, उसी योग में ठहरो । इसके बाद उठ खड़े हो जाओ । अपना काम तुम कर्तव्य जान कर ही करो । इति शिवम् ।

अत्र संग्रहश्लोकः

विधत्ते कर्म यत्किंचिदक्षेच्छामात्रपूर्वकम् ।
तेनैव शुभभाजः स्युस्तृप्ताः करणदेवताः ॥४॥

इन्द्रियों के इच्छा-अनुसार जो भी कोई कर्म किया जाए उन्हीं कर्मों का अनुसरण करने पर तृप्त बनी हुई इन्द्रिय-देवियां, मोक्ष रूप कल्याण को प्राप्त करें ।

सारश्लोक

श्रीमहामहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद विरचिते
श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (संन्यासयोगो नाम)
चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

श्रीमहामहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद द्वारा रचित
श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रह (संन्यासनामक ग्रंथ) का
चौथा अध्याय समाप्त हुआ ।

अथ

पंचमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेयानेतयोरेकस्तं मे ब्रूहि विनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन बोला

कृष्ण	=	हे कृष्ण! (आप एक ओर तो)
कर्मणाम्	=	कर्मों के
संन्यासम्	=	संन्यास (त्यागने) की,
पुनः	=	फिर (दूसरी ओर)
योगम्	=	निष्काम-कर्म-योग की
च	=	भी
शंससि	=	सराहना करते हैं ।
एतयोः	=	इन दोनों में से
यः	=	जो
एकः	=	एक
श्रेयान्	=	अधिक अच्छा है
तम्	=	उसे
मे	=	मुझे
वि-निश्चितम्	=	निश्चय-पूर्वक
ब्रूहि	=	कहिए ।

संन्यासः प्रधानं, पुनर्योग इति ससंशयस्य प्रश्नः ॥१॥

कर्मों का त्याग करना प्रधान है या कर्म-योग, इस अभिप्राय को लेकर संशय में पड़े हुए अर्जुन का यह प्रश्न है ।

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

भगवान कहते हैं

संन्यासः = कर्मों का संन्यास
कर्म-योगा च = और निष्काम-कर्म-योग
उभौ = दोनों ही,
निःश्रेयस्करौ = परम-कल्याण करने वाले हैं
तयोः = इन दोनों में से
तु = तो भी
कर्म-योगः = निष्काम कर्म-योग (ही)
कर्म-संन्यासात् = कर्मों के त्यागने से
विशिष्यते = विशेष गुणकर है।

संन्यासः कर्म च—नात्र कोऽभिहितः, अपितु उभौ, संमिलितौ निःश्रेयसं दत्तः। योगेन बिना संन्यासो न संभवतीति योगस्य विशेषः ॥२॥

संन्यास तथा कर्म—यहां एक ही की बात नहीं कही गई है अपितु दोनों मिलकर ही मोक्ष-प्रदान करते हैं। कर्म-योग के बिना कर्म-संन्यास का होना असंभव है। अत: कर्म-योग की विशेषता है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासो यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

महाबाहो = हे बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन!
यः = जो साधक,
न = न तो (किसी से)
द्वेष्टि = वैर करता है (और)
न = न (किसी को)
कांक्षति = चाहता है
सः = उसे
नित्य-संन्यासी = सदा संन्यासी (ही)
ज्ञेयः = जानना चाहिए।
निर्द्वन्द्वः = (राग-द्वेष आदि) द्वन्द्वों से छूटा हुआ (ऐसा साधक)
बन्धात् = (संसार के) बन्धन से
सुखम् = सहज में ही
विमुच्यते = छूट जाता है।

अतश्च स एव सार्वकालिकः संन्यासी येन मनसोऽभिलाषप्रद्वेषौ संन्यस्तौ, यतोऽस्य द्वन्द्वेभ्यः—क्रोधमोहादिभ्यो निष्क्रान्ता धीः स सुखं मुच्यते एव ॥३॥

अत: वही तो सार्वकालिक (जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में भी) भगवत् परायण रहने से संन्यासी हैं, जिस ने मन से अभिलाषा और द्वेष को त्यागा हो। इसकी बुद्धि, क्रोध, मोह आदि द्वन्द्वों से परे होती है। वह तो सहज रूप से मुक्त ही हो जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

बालाः = मूर्ख लोग,
सांख्य-योगौ = संन्यास और निष्काम कर्म-योग को
पृथक् = अलग-अलग (फल देने वाला)
प्रवदन्ति = कहते हैं (किन्तु)
पंडिता = पढे लिखे जन
न = ऐसा नहीं कहते हैं।

एकम् = एक में
अपि = भी
सम्यक् = ठीक तरह
आस्थितः = टिका हुआ (पुरुष)
उभयोः = दोनों का
फलम् = फल
विन्दते = पाता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरनुगम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

यत् = जिस
स्थानम् = परम-धाम को
सांख्यैः = ज्ञान-योगी
प्राप्यते = प्राप्त करते हैं
तत् = वही धाम
योगैः = योगियों से (भी)
अनु-गम्यते = प्राप्त किया जाता है।

यः = जो (साधक)
सांख्यम् = ज्ञान-योग
च = और
योगम् = निष्काम कर्म-योग को
एकम् = एक (रूप से)
पश्यति = देखता है
सः च = वह ही
पश्यति = (वास्तव में) देखता है।

इदं सांख्यम्, अयं च योगः—इति न भेदः। एतौ हि नित्यसंबद्धौ। ज्ञानं न योगेन विना। योगोऽपि न तेन विनेति अत एकत्वमनयोः ॥५॥

'यह सांख्य-योग है और यह कर्म-योग है' ऐसा भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि

इन (सांख्य तथा योग) का परस्पर नित्य संबन्ध है। ज्ञान, कर्म के बिना और कर्म ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। अतः इन दोनों में एकता पाई जाती है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

महाबाहो = हे अर्जुन !
अयोगतः = निष्काम-कर्म-योग के बिना
संन्यासः = (सभी कर्मों के करने में) कर्तापन का त्याग
आप्तुम् = प्राप्त होना
दुःखम् = कठिन है। (किन्तु)
मुनिः = मनन-शील
योग-युक्तः = योग में जुटा हुआ (साधक तो)
ब्रह्म = परमात्मा को
न चिरेण = शीघ्र ही
अधि-गच्छति = प्राप्त करता है।

तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमः। योगरहितस्य संन्यासमाप्तुं दुःखमेव,—प्राङ्नीत्या कर्मणां दुःसंन्यासत्वात्। योगिभिस्तु सुलभमेवैतत—इत्युक्तं प्राक् ॥६॥

(श्लोक में) 'तु' शब्द निश्चय के अर्थ में लागू हुआ है और भिन्न-क्रम (भी) है। (तु शब्द का प्रयोग संन्यास पद के साथ न करके योगयुक्त पद के साथ करना चाहिए।) कर्म-योग के बिना, कर्मों का संन्यास करना दुःख ही तो है। पहिले कही हुई नीति से कर्म तो त्यागे नहीं जा सकते। ऐसा करना तो योगियों को ही सुलभ है। यह बात तो हम पहिले कह चुके हैं।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

विजितात्मा = जिस ने मन जीता है,
जितेन्द्रियः = इन्द्रियां जीती हैं, (ऐसा)
विशुद्ध-आत्मा = शुद्ध अन्तःकरण वाला (तथा)
सर्व-भूत-आत्म-भूतात्मा = सभी प्राणियों का आत्मा (ही) बना हुआ (साधक)
योग-युक्त = योग में स्थिति
कुर्वन् = करता हुआ
अपि = ही
न = (कर्मों में) नहीं
लिप्यते = फंसता।

सर्वभूतानामात्मभूत आत्मा यस्य, स सर्वमपि कुर्वाणो न लिप्यते—करणप्रतिषेधारूढत्वात् ॥७॥

जिस (योगी) का आत्मा सभी प्राणियों का आत्मा ही बना हुआ है, वह सभी कार्य करता हुआ भी (कर्मों से) लिप्त नहीं होता है। (वह तो कर्म करते हुए भी) न करने की प्रक्रिया में प्रवीण है।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्श्वसन्स्वपन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

तत्त्व-वित्	=	तत्त्व को जानने वाला
युक्तः	=	योगी तो
पश्यन्	=	देखता हुआ,
शृण्वन्	=	सुनता हुआ,
स्पृशन्	=	स्पर्श करता हुआ,
जिघ्रन्	=	सूंघता हुआ,
अश्नन्	=	खाता हुआ,
गच्छन्	=	जाता हुआ
श्वसन्	=	सांस लेता हुआ,
स्वपन्	=	सोता हुआ,
प्रलपन्	=	बोलता हुआ,
विसृजन्	=	त्यागता हुआ
गृह्णन्	=	पकड़ता हुआ,
उन्मिषन्	=	आंखें खोलता हुआ,
निमिषन्	=	आंखें मीचता हुआ
अपि	=	भी
इन्द्रियाणि	=	सब इन्द्रियाँ
इन्द्रिय-अर्थेषु	=	अपने-अपने विषयों में
वर्तन्ते	=	भाग ले रही हैं,
इति	=	इस प्रकार
धारयन्	=	समझता हुआ
(अहम्)	=	मैं
किंचित्	=	कुछ भी तो
न एव	=	नहीं
करोमि	=	कर रहा हूं
इति	=	ऐसा
मन्यते		समझता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

यः = जो साधक
ब्रह्मणि = परमात्मा में
आधाय = (कर्म) सौंप कर (और)
सङ्गम् = (फल के) लगाव को
त्यक्त्वा = छोड़ कर
कर्माणि = सभी कर्मों को
करोति = करता है,
पद्म-पत्रम् = कंवल का पत्ता
अम्भसा = जल से (जैसे न्यारा रहता है)
इव = वैसे ही
सः = वह (असंग योगी)
पापेन = पाप से
न लिप्यते = लिप्त नही होता है ।

अत एव दर्शनादीनि कुर्वन्नपि असावेवं धारयति—प्रतिपत्तिदार्ढ्येन निश्चनुते—चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां यदि स्वविषयेषु प्रवृत्तिः, मम किमायातम्: नह्यन्यकृतेन परस्य लेपः—इति । तदेव ब्रह्मणि कर्मणां समर्पणम् । अत्र चिह्नमस्य गतसंगता अतो न लिप्यते ॥१०॥

अतः देखना आदि सभी विषयों को करता हुआ भी यह योगी, इस प्रकार विश्वास-पूर्ण ज्ञान की दृढ़ता से निश्चय करता है कि नेत्र आदि इन्द्रियां यदि अपने विषयों को अपना रही हैं तो मेरा इसमें क्या ? क्योंकि अन्य के कार्य करने से दूसरा उस कार्य से लिप्त नहीं हो सकता । इसी को पर—ब्रह्म में कर्मों को सौंपना कहते हैं । इस योगी का चिह्न यही है कि वह प्रत्येक कर्म, लगाव से रहित हो कर करता है । इसी लिए कर्मों की पकड में नहीं आता ।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मसिद्धये ॥११॥

योगिनः = निष्काम कर्म-योगी (तो)
केवलैः = संग-रहित
इन्द्रियैः = इन्द्रिय,
मनसा = मन,
बुद्धया = बुद्धि
कायेन अपि = और शरीर से
आत्म-सिद्धये = आत्म-सिद्धि के लिए (ही)
संगम = लगाव को
त्यक्त्वा = छोड कर
कर्म = कर्म
कुर्वन्ति = करते हैं ।

योगिनश्च केवलैः—सङ्गरहितैः परस्परानपेक्षिभिश्च कायादिभिः कुर्वन्ति कर्माणि सङ्गाभावात् ॥११॥

योगीजन तो केवल—संगरहित इन्द्रियों के पारस्परिक अपेक्षा के बिना शरीर आदि के द्वारा कर्म करते हैं किन्तु उन कर्मों में लिप्त नहीं होते। (भाव यह है कि विमर्शवान् योगी, नेत्रों से रूप देखता तो है पर मन तक उस की व्याप्ति होने नहीं देता। इसी भांति कानों से अपनी प्रशंसा या अपयश सुनने पर वाणी से प्रत्युत्तर नहीं देता है। इसी अवस्था की ओर अभिनवगुप्त जी ने संकेत किया है कि वह योगी, इन्द्रियों के पारस्परिक अपेक्षा के बिना संग-रहित होकर कर्म करता है।)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्तः	= समाहित तथा सजग योगी	**अयुक्तः**	= योग न साधने वाला
कर्म-फलम्	= कर्मों के फल को	**फले**	= फल (की लालसा) में
त्यक्त्वा	= न चाहता हुआ	**सक्तः**	= लगा हुआ
नैष्ठिकीम्	= स्थिर (मोक्ष रूप)	**काम-कारेण**	= कामना के द्वारा
शान्तिम्	= शान्ति को	**निबध्यते**	= (कर्मों में) जकड़ा जाता है।
आप्नोति	= प्राप्त होता है (इसके उलट)		

नैष्ठिकीम्=अपुनरावर्तिनीम् ॥१२॥

नैष्ठिकी – वह स्थिर शांति, जो पुनर्जन्म को नहीं देती है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देहे नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

वशी	=	जिस का मन अपने अधीन हो ऐसा	**पुरे**	=	शरीर रूपी घर में
देही	=	व्यक्ति (तो)	**सर्व-कर्माणि**	=	सब कर्मों को
न	=	न (कुछ)	**मनसा**	=	मन से
			संन्यस्य	=	त्याग करके
कुर्वन्	=	करता हुआ	**एव**	=	ही अर्थात् इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में लगी हुई हैं ऐसा मानता हुआ
न	=	न	**सुखम्**	=	सुख-पूर्वक (स्वात्मानंद में)
कारयन्	=	करवाता हुआ	**आस्ते**	=	रहता है ।
नव-द्वारे	=	नव-द्वारों (इन्द्रियों) वाले			

यथा वेश्मान्तर्गतस्य पुंसो न गृहगतैर्जीर्णत्वादिभिर्योगः; एवं मम चक्षुरादिच्छिद्रगवाक्षनवकालङ्कृतदेहगेहगतस्य न तद्धर्मयोगः ॥१३॥

जैसे घर में बैठे हुए पुरुष को, मकान के टूटे फूटे होने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वैसे ही नेत्र आदि छिद्र रूपी नव झरोखों से सुशोभित शरीर रूपी घर में ठहरे हुए आत्मा को, इस शरीर के धर्मों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

प्रभु	=	प्रभु तो	**न**	=	न
लोकस्य	=	प्राणियों के	**कर्म-फल-संयोगम्**	=	कर्म-फल के संयोग को (ही)
न	=	न (तो)	**सृजति**	=	रचता है । (क्योंकि सत्य तो यह है कि)
कर्तृत्वम्	=	कर्त्तापन को,	**स्वभावः**	=	अपनी-अपनी प्रकृति
न	=	न	**तु**	=	ही
कर्माणि	=	उनके कर्मों को (और)	**प्रवर्तते**	=	(उस उस रूप में) प्रकट होती है ।

एष आत्मा न किंचित्कस्यचित्करोति। प्रवृत्तिस्त्वस्य स्वभावमात्रं न फलेप्सया। तथाहि। संवेदनात्मनो भगवतः प्रकाशानन्दस्वातन्त्र्यपरमार्थस्वभावस्य स्वभावमात्राक्षिप्त-समस्तसृष्टिस्थितिसंहृतिप्रबन्धस्य स्वस्वभावान्न मनागप्यपायो जातुचित्। इति न कर्त्रवस्था-तिरिक्तं कर्तृत्वं किंचित्। तदभावात्कानि कर्माणि, तदसत्त्वे कस्यफलम्, को कर्मफल-संबन्धः। कर्मात्र-क्रिया। कर्मफलमपि च क्रियाफलमेव। तथाहि। दण्डचक्रपरिवर्तनादिक्रिया नान्या। न च सा घटनिष्पादिता—संविदन्तर्वर्तित्वात्। तस्माच्चेतनः स्वतन्त्रः परमेश्वर एव तथा भाति; इति न तद्व्यतिरिक्तं क्रियातत्फलादिकमिति सिद्धान्तः॥१४॥

यह परमात्मा, किसी के प्रति कुछ भी तो नहीं करता। सांसारिक जीवों को उत्पन्न करना, पालन-पोषण करना और संहार करने की प्रवृति, इस स्वात्म-महेश्वर के स्वभाव का विकास ही है। वे, त्याग और ग्रहण रूप फल की इच्छा से (यह क्रीडा) नहीं करते। इस विषय को समझाते हैं—प्रकाश आनन्द तथा स्वातन्त्र्य से पूर्ण पारमार्थिक स्वभाव वाले संविद-रूप भगवान् ने, अपने ही स्वरूप-विकास से सभी जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार की निरन्तर रचना प्रकट की है। (ऐसा करने पर भी) उस प्रभु को अपने पारमार्थिक स्वभाव से तनिक भर भी कदापि च्युति नहीं होती। इस भाँति कर्ता प्रभु की स्वात्म-स्थिति के अतिरिक्त कर्त्तापन कुछ भी नहीं है। उस कर्त्तापन के न होने पर भला कर्म ही क्या है और कर्मों के अभाव पर किसे कर्म-फल की प्राप्ति हो सकती है। कर्म-फल का संबन्ध ही क्या है। यहां कर्म, क्रिया को कहते हैं। इस बात को और भी स्पष्ट करते हैं—कुम्हार के दण्ड और चक्र को चलाने की क्रिया, उस कुम्हार के स्वरूप से भिन्न नहीं है। अतः वह क्रिया घड़े के द्वारा निर्मित नहीं हुई है, वह तो कुम्हार के ज्ञान में ही ठहरी है। (या यूं कहें जैसे कुलाल का दंड, चक्र आदि के संचालन से घट आदि पदार्थों का बनाना केवल कुलाल के स्वरूप का ही विकास मात्र है अर्थात् उन सभी वस्तुओं का आकार, कुम्हार के ज्ञान में ही स्थित है और उसी बुद्धि के आधार पर वह उन्हें उस रूप से प्रकट करता है।) उसी प्रकार चेतनता से पूर्ण स्वतन्त्र परमेश्वर ही उन उन अनन्त जागतिक रूपों में प्रका-शित है। अतः उस परमेश्वर के स्वरूप-विकास से भिन्न न कोई क्रिया ही है और न क्रिया-संबन्धी फल ही है—यह (हमारा) सिद्धान्त है।

अत एव क्रियातत्फलयोरभावे विधिफलस्यापि नादृष्टकृतता काचित्—इत्यर्धेनाभि-धायार्धान्तरेण संसारिणः प्रति तत्समर्थनं कर्तुमाह

अतः क्रिया और उसके फल के न होने पर, विधि का निर्णय करने वाले जो शास्त्र कहे गये हैं, उन के फलों के वितरण में परमात्मा का कोई भी संबन्ध नहीं है अर्थात् परमात्मा कर्म-फल देने का कर्ता नहीं है अपितु जीव के अन्तः करणों के अनुसार ही कर्मों का फल भोगना पड़ता हैं यह कथन नीचे कहे गए श्लोक के पहिले पाद में कह कर दूसरे पाद में संसारियों के प्रति इस कथन का समर्थन करते हैं—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।१५।।

विभुः	=	व्यापक प्रभु (तो)	**एव**	=	ही
न	=	न	**आदत्ते**	=	ग्रहण करता है
कस्यचित्	=	किसी के	**ज्ञानम्**	=	वास्तविक ज्ञान,
पापम्	=	पाप को	**अज्ञानेन**	=	अज्ञान (शंका) से
न च	=	और न ही (किसी के)	**आवृत्तम्**	=	ढका हुआ
सुकृतम्	=	पुण्य कर्म को	**भवति**	=	है
तेन	=	इसी से	**मुह्यन्ति**	=	मोह में फंस जाते हैं
जन्तवः	=	जीव			

पापादीनि नैतत्कृतानि । किन्तु निजेनाज्ञानेन कृतानि; शङ्कयैवामृते विषम् ।।१५।।

पाप आदि कर्म परमात्मा के द्वारा नहीं करवाये जाते हैं; किन्तु अपने अज्ञान से ही किए जाते हैं। शंका करने से ही अमृत, विष बन जाता है।

अतएव—

इसीलिए—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।१६।।

ज्ञानेन	=	आत्म-ज्ञान से	**तु**	=	ही
येषाम्	=	जिनका	**ज्ञानम्**	=	ज्ञान
तत्	=	वह	**आदित्य-वत्**	=	सूर्य की तरह
आत्मनः	=	अन्तः करण का	**तत् परम्**	=	उस परम संवित्ति को
अज्ञानम्	=	अज्ञान	**प्रकाशयति**	=	प्रकट करता है।
नाशितम्	=	समाप्त हो गया हो।			
तेषाम्	=	उनका			

ज्ञानेन तु अज्ञाने नाशिते, ज्ञानस्य स्वप्रकाश[1]त्वं स्वतः सिद्धम्; आदित्यस्य तमसि नष्टे। विनिवर्तितायां हि शङ्कायाममृतममृतकार्यं स्वयमेव करोति ॥१६॥

ज्ञान के द्वारा अज्ञान के नष्ट होने पर, ज्ञान की स्वप्रकाशता स्वयं सिद्ध है। जैसे अन्धकार के समाप्त होने पर सूर्य का उजाला प्रकट ही है। शंका मिट जाने पर अमृत, अपना वास्तविक अमृत-कार्य स्वयं करता है।

तच्च तद्गतबुद्धिमनसां त्यक्तान्यव्यापाराणां घटतेइत्याशयं प्रकटयितुमाह—

उस पारमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति उन्हीं मनुष्यों को होती है जो उस ज्ञान में अपने मन और बुद्धि को लगा कर शेष सभी व्यापारों को छोड़ बैठते हैं—इसी आशय को जतलाने के लिए कहते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धौतकल्मषाः ॥१७॥

तत्-बुद्धयः = तन्मय बुद्धि वाले,
तत्-आत्मानः = तन्मय आत्मा वाले
तत्-निष्ठाः = तन्मय निष्ठा (श्रद्धा) वाले
तथा = और
तत् परायणाः = उसी (परमात्मा) में मन लगाने वाले
ज्ञान-निर्धौत-कल्मषाः = आत्म-ज्ञान से पापों को धो डालने वाले (साधक)
अपुनर्-आवृत्तिम् = मोक्ष को
गच्छन्ति = प्राप्त करते हैं।

स्मरन्तोऽपि मुहुस्त्वेतत्स्पृशन्तोऽपि स्वकर्मणि।
सक्ता अपि न सज्जन्ति पङ्के रविकरा इव ॥१८॥

(ऐसे योगी)
एतत् = इन विषयों का
मुहुः = बार-बार
स्मरन्तः = स्मरण करते हुए
अपि = भी
स्पृशन्तः = स्पर्श करते हुए
अपि = भी
स्व-कर्माणि = अपने कार्य में
सक्ताः = लगे हुए होने पर
अपि = भी,
पङ्के = कीचड़ में
रविकरा = सूर्य की किरणें
इव = जैसे (धंसती नहीं है) (वैसे ही)
स्वकर्मणि = अपने कर्म में
न सज्जन्ति = लिप्त नहीं होते।

---

[1] स्वपरप्रकाशत्वमिति ख० पाठः

यत एवं स्वभावस्तु प्रवर्तते इति; अतो ध्वस्ताज्ञानानामित्यं स्थितिरित्याह—

जब यह बात सिद्ध हुई कि ईश्वर का (स्वरूप-विकास) ही (चारों ओर) व्याप्त है तो इसीलिए अज्ञान को समाप्त करने वाले ज्ञानवानों की अवस्था (भी) ऐसी होती हैं—यही कहते हैं।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

पंडिताः	=	ज्ञानीजन (तो),	**शुनि**	=	कुत्ते
विद्या-विनय-संपन्ने	=	विद्या और विनय से युक्त	**च**	=	और
			श्वपाके	=	चमार पर
ब्राह्मणे	=	ब्राह्मण में (तथा)	**च**	=	भी
गवि	=	गाय,	**सम-दर्शिनः**	=	समान दृष्टि ही
हस्तिनि	=	हाथी,	**एव**	=	रखते हैं।

तथा च; तेषां योगिनां ब्राह्मणे नेदृशी बुद्धिः— 'अस्य शुश्रूषादिनाहं पुण्यवान्भविष्यामि'— इत्यादि। गवि न पावनीयमित्यादि। हस्तिनि नार्थाद्धिधीः। शुनि नापवित्रापकारितादिनिश्चयः। श्वपाके च न पापापवित्राधिषणा। अतएव समं पश्यन्तीति; न तु व्यवहरन्तः। यदुक्तं

'चिद्धर्मा[1] सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित्।
अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन्भवजिज्जनः'॥
(वि० भै० १००)

इति। अत्रापि भावयन्निति— ज्ञानस्यैवेयं धारोक्ता ॥१८॥

इस श्लोक के भाव को जतलाते हैं—उन (समदर्शी) योगियों को ब्राह्मण के प्रति ऐसी बुद्धि नहीं होती कि इस ब्राह्मण की सेवा करने से मैं पुण्यवान् बनूंगा। गाय मुझे पवित्र करेगी। हाथी को पालने से मैं धन कमाऊंगा, ऐसी बुद्धि हाथी के प्रति नहीं होती। कुत्ते से अपवित्रता और क्षति का खटका नहीं रहता। न चमार में पाप तथा अपवित्रता की ही बुद्धि होती है। अतः वे योगी उपर्युक्त सभी जीवों को सम-भाव से देखते है। उनके साथ एक-सा व्यवहार नहीं करते। कहा भी है—

---

१. चित्-ज्ञानं क्रिया वा धर्मो गुणो यस्य सः चिद्धर्मा—चेतन इत्यर्थः।

'सभी देशों में चित्-प्रकाश एक जैसा है। चित्-प्रकाश में अन्तर तो कहीं भी नहीं है। अतः संपूर्ण पदार्थों को चित्-प्रकाश से युक्त भावना करने वाला व्यक्ति संसार को जीत लेता है।'

इस प्रमाण के श्लोक में भी 'तन्मयता' की भावना ही करनी कही गई है। समता का तात्पर्य ज्ञान से ही है, व्यवहार से नहीं।

तस्य चेत्थं संभावनेत्याह—

उस (सम-दर्शी) की कल्पना इस प्रकार होती है—यही कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥२०॥

प्रियम्	= अपने प्रिय को	**अप्रियम्**	= अप्रिय (शत्रु) को
प्राप्य	= मिल कर	**प्राप्य**	= देखकर
न प्रहृष्येत्	= हर्षित फूले न समाये	**न उद्विजेत्**	= खीझ न उठे (ऐसा साधक)
स्थिर-बुद्धिः	= (परमात्मा में) लगी हुई बुद्धि वाला	**ब्रह्म-वित्**	= ब्रह्म को जानने वाला
असंमूढः	= मोह से रहित	**ब्रह्मणि**	= ब्रह्म में ही
		स्थितः	= निष्ठ रहता है।

एतस्य समदर्शिनः शत्रुमित्रादिविभागोऽपि व्यवहारमात्र एव, नान्तः—ब्रह्मनिष्ठत्वात्॥२०॥

इस समदर्शी योगी को, शत्रु और मित्र का विभाग भी केवल व्यवहार की दृष्टि से है, मनोभाव से नहीं, क्योंकि वह (सदा) ब्रह्म में तल्लीन रहता है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमव्ययमश्नुते॥२१॥

बाह्य-स्पर्शेषु	=	बाहर के विषयों में
असक्तात्मा	=	लगाव से रहित अन्तः करणों वाला साधक,
आत्मनि	=	अपने भीतर में
यत्	=	जो
सुखम्	=	आत्म-आनन्द का सुख है (उसे)
विन्दति	=	प्राप्त करता है।
सः	=	वह
ब्रह्म-योग-युक्त-आत्मा	=	ब्रह्म-योग में मन लगाने के कारण
अक्षयम्	=	अनन्त
सुखम्	=	आनन्द का
अश्नुते	=	अनुभव करता है।

बाह्यस्पर्शे—विषयात्मनि सक्तिर्यस्य नास्ति ॥२१॥

बाह्य स्पर्श अर्थात् (शब्द आदि) विषयों में जिसे लगाव नहीं है।

स ह्येवं मन्यते—इत्याह

वह योगी तो इस प्रकार जानता है—यही अगले (इस श्लोक में) कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

कौन्तेय	=	हे अर्जुन !
ये	=	जितने
हि	=	भी
संस्पर्शजाः	=	इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होने वाले
आदि-अन्त-वन्तः	=	आदि तथा अन्त वाले
भोगाः	=	विषय हैं
ते	=	वे
दुःख-योनयः	=	दुःख के ही कारण हैं (अतः)
बुधः	=	विवेकी पुरुष
तेषु	=	उन (भोगों) में
न	=	नहीं
रमते	=	फंसता है।

स ह्येवं भावयति—बाह्यविषयजा भोगाः सर्वे दुःखकारणरूपाः, तथाविधा अप्यनित्याः ॥२२॥

वह (योगी) ऐसी भावना करता है—बाह्य विषयों से उत्पन्न हुए सभी भोग, दुःख के कारक हैं और ऐसा होते हुए अनित्य ही हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोचनात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स योगी स सुखी मतः ॥२३॥

यः = जो साधक		**सः** = वही	
शरीर-विमोचनात् = शरीर को छोडने से			
प्राक् = पहिले		**योगी** = योगी है (और)	
इह एव = इसी (जीवित अवस्था) में ही		**सः** = वही	
काम-क्रोध-उद्-भवम् = काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले		**च** = तो	
वेगम = वेग (आवेश) को		**सुखी** = सुखी	
सोढुम = सहन			
शक्नोति = कर पाता है		**मतः** = माना गया है ।	

न चैतद्दुःशकं,—शरीरान्तकालं यावत् । क्रोधकामजो वेगः क्षणमात्रं यदि सह्यते तदा आत्यन्तिकी सुख प्राप्तिः ॥२३॥

(शरीर की) अन्तिम घड़ी अर्थात् बुढ़ापे में, काम-क्रोध के वेग को सहन करना कठिन नहीं है (क्योंकि इस अवस्था में तो इन्द्रियां स्वभावतः ढीली पड़ जाती हैं) अतः यौवन-काल में ही यदि क्रोध और काम से उत्पन्न वेग को पल भर भी (कोई धीर योगी) सह पाये तो उसे चरम-सुख की प्राप्ति होती है ।

अन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स पार्थ परमं योगं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

पार्थ = हे अर्जुन !	**अन्तः ज्योतिः** = अपने ही भीतर ज्योत जगाता है,
यः = जो	**सः** = वह
अन्तः सुखः = भीतर ही भीतर सुख का अनुभव करता है ।	**ब्रह्म-भूतः** = ब्रह्म (के लक्षणों से युक्त) बना हुआ
अन्तर्-आरामः = अपने ही भीतर रमता है	**परमं योगम्** = उत्तम योग को
तथा च = और फिर	**अधिगच्छति** = सिद्ध करता है ।
यः = जो	

अतस्तस्यान्तरेव—बाह्यनपेक्षि सुखम्, तत्रैव रमते। तत्र चास्य प्रकाशः। व्यवहारे तु मूढ़त्वमिव। उक्तं च;— 'जड इव विचरेदवादमतिः' (प० सा०, ७१) इति ॥२४॥

अतः उस योगी को बाहर के विषयों पर ध्यान न होकर भीतर ही सुख की प्राप्ति होती है। उसी सुख का वह अनुभव करता है। उसी भीतरी सुख में उसे (ज्ञान का) प्रकाश मिलता है। जगत् के व्यवहार में तो वह मूर्ख सा होता है। कहा भी है (ऐसा योगी) मूर्ख की भांति, वाद के पचड़े में न पड़ कर काल-यापन करता है।'

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

क्षीण-कल्मषाः = जिनके सभी पाप धुल गए हैं,

छिन्न-द्वैधाः = जिनके सभी संशय कट गए हैं,

सर्व-भूतहिते-रताः = जो सभी प्राणि-मात्र का हित चाहते हैं,

यत-आत्मानः = जो मन पर काबू पा चुके हैं (ऐसे)

ऋषयः = (ब्रह्म को जानने वाले) ऋषि,

ब्रह्म-निर्वाणम् = ब्रह्म का साक्षात्कार

लभन्ते = करते हैं।

एतच्च तैः प्राप्यं, येषां भेदसंशयरूपौ ग्रन्थी विनष्टौ ॥२५॥

यह सिद्ध अवस्था, उन ज्ञानवान् साधकों को प्राप्त होती है, जिन्हें भेद-प्रथा तथा ईश्वर पर संशय, ये दो प्रकार की गांठें खुल गई होती हैं।

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
सर्वतो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

काम-क्रोध-विमुक्तानाम् = काम और क्रोध से छूटे हुए

यत-चेतसाम् = जीते हुए मन वाले

यतीनाम् = आत्मा को जानने में तत्पर

विदितात्मनाम् = आत्म ज्ञानियों को

सर्वतः = सभी अवस्थाओं में

ब्रह्म-निर्वाणम् = ब्रह्म का ही साक्षात्कार

वर्तते = होता है।

तेषां सर्वतः—सर्वास्ववस्थासु ब्रह्मसत्ता पारमार्थिकी न निरोधकालमपेक्षते ॥२६॥

उन (योगियों) को सब ओर से—सभी (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की) दशाओं में पारमार्थिक ब्रह्म की सत्ता सदा बनी रहती है। कभी भी इस ब्रह्म-सत्ता का निरोध—नाश नहीं होता।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

बाह्यान्-स्पर्शान्	=	बाहर के (विषयों के) स्पर्शों को
बहिः-कृत्वा	=	बाहर रख कर (उनसे अछूता रह कर)
चक्षुः	=	वाम-दक्षिण-नेत्र (काम-क्रोध)
च एव	=	ही को
भ्रुवोः	=	भवों (अर्थात् विवेक) के
अन्तरे	=	बीच में
(कृत्वा)	=	टिका कर
नासा-अभ्यन्तर-चारिणौ	=	चित्त-वृत्ति में संचरण करने वाले
प्राण-अपानौ	=	प्राण-अपान (धर्म और अधर्म को)
समौ	=	साम्य दशा में
कृत्वा	=	लाकर अर्थात् परिधि से हटा कर

बाह्यस्पर्शान् बहिः कृत्वा—अनङ्गीकृत्य, भ्रुवोः—वामदक्षिणदृष्टयोः क्रोधरागात्मिकयोरन्तरे—तद्रहितेस्थानविशेषे चक्षुरूपलक्षितानि सर्वेन्द्रियाणि विधाय, प्राणापानौ—धर्माधर्मौ चित्तवृत्त्यभ्यन्तरे साम्येनावस्थाप्य, नसते—कौटिल्येनासाम्येन क्रोधादिवशाद्व्यवहरति—इति नासा चित्तवृत्तिः। एतदेव बाह्ये ॥२७॥

बाहर के विषयों को बाहर ही रख कर—उन्हें स्वीकार न करके। दो भौहों में—दांई और बांई दृष्टियों को—क्रोध और राग के बीच में, जहां इन दोनों (चित्तवृत्तियों) की रिक्तता (शून्यता) पाई जाती है उस स्थान-विशेष में चक्षु से उपलक्षित की गई सभी इन्द्रियों को उसी साम्य-अवस्था में टिका कर, प्राण-अपान अर्थात् धर्म-अधर्म रूपी चित्त-वृत्ति

के बीच में साम्य-भाव से ठहरा कर, कुटिलता से अर्थात् क्रोध आदि वृत्तियों के अधीन बन कर विषमता से जो चित्त की वृत्ति व्यवहार करती है उसे नासा कहते हैं। क्रोध आदि द्वन्दों को उसी टेढ़े-मेढ़े चलने वाली चित्त-वृत्ति रूपी नासा में स्थित करे और इन को विषयों में प्रवर्तित न होने दे। इसी रीति से बाह्य-व्यवहार में भी ठहरे।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

यः = जिसने		**सः** = वह (तो)	
यत-इन्द्रिय-मनः बुद्धिः = इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जीता हो, (ऐसा)		**सदा** = सदा (सभी व्यवहार करता हुआ भी)	
मोक्ष-परायणः = मोक्ष की प्राप्ति में लगा हुआ		**मुक्तः** = मुक्त	
मुनिः = योगी		**एव** = ही	
विगत-इच्छा-भय-क्रोधाः = इच्छा, भय और क्रोध से छूटा हुआ है।		**(भवति)** = है।	

एवंविधो योगी सर्वव्यवहारान् वर्तयन्नपि मुक्त एव ॥२८॥

ऐसा (पहुंचा हुआ) योगी, सभी व्यवहार करता हुआ भी मुक्त ही है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

सर्व-लोक-महेश्वरम् = सभी लोकों का महान् ईश्वर (और)	**माम्** = मुझे
	ज्ञात्वा = जान कर
यज्ञ-तपसाम्-भोक्तारम् = यज्ञ तथा तपस्या के फलों को भोगने अर्थात् ग्रहण करने वाला	**(सः)** = (वह साधक)
	शान्तिम् = शान्ति को
सर्व-भूतानाम्-सुहृदम् = सभी प्राणियों का निष्कारण मित्र (ऐसा)	**ऋच्छति** = प्राप्त करता है।

यज्ञफलेषु भोक्ता—त्यक्त[1]फलत्वात्। एवं तपः सु। ईदृशं भगवत्तत्त्वं विदन् यथा-स्थितोऽपि मुच्यत इति शिवम् ॥२९॥

यज्ञ के फलों (की संगति) में भोक्ता (महेश्वर) है; क्योंकि (यज्ञ-कर्त्ता ने) यज्ञ का फल ईश्वर में ही अर्पण किया है। तपस्या के बारे में भी ऐसा ही समझिए। (तपस्या करते हुए साधक ने उस तपस्या का फल भी उसी ईश्वर के अर्पण किया है।) इस प्रकार भगवान् के स्वरूप को जानने वाला जिस किसी दशा में रहता हुआ भी (बन्धनों से) छूट जाता है।

अत्र संग्रह श्लोकः

सर्वाण्येवात्र भूतानि समत्वेनानुपश्यतः।
ज[2]डवद्व्यवहारोऽपि मोक्षायैवावकल्पते ॥५॥

सार-श्लोक

इस विश्व के सभी प्राणियों को जो साधक साम्य-दृष्टि से देखता है, उसके लिए यह जड रूप, बेकार का यह सांसारिक व्यवहार मोक्ष का हेतु ही बनता है। (वह तो इन जागतिक व्यवहारों से मोक्ष रूप साध्य को ही प्राप्त करता है।)

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (कर्मसंन्यासयोगो नाम) पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

इति श्रीमहामाहेश्वरचार्यराजानक अभिनवगुप्त द्वारा रचित गीतार्थ-संग्रह के (कर्मसंन्यास योग नाम का) पांचवां अध्याय समाप्त हुआ।

---

१. भोक्तात्यन्तफलत्वादिति ख० पाठः

२. जनवदिति० घ० पाठः।

अथ

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रिताः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

श्री भगवान बोले

कर्म—फलम् = कर्म के फल का
अनाश्रितः = आसरा लिये बिना ही
यः = जो
कार्यम् = करने योग्य (शास्त्रोक्त)
कर्म = कर्म
करोति = करता है
सः = वही
संन्यासी = सन्यासी
= और
योगी = योगी है
च = और (केवल)
निः अग्निः = अग्नि को न छूने वाला (संन्यासी योगी)
न = नही है
च = तथा (केवल)
अक्रिया = कर्म को न करने वाला (भी)
न = (संन्यासी योगी) नहीं है ।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
नह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

पाण्डव = हे अर्जुन !
यम् = जिसको
संन्यासम् = संन्यास
इति = इस प्रकार
प्राहुः = कहते हैं
तम् = उसी को (तुम)
योगम् = योग
विद्धि = जानो
हि = क्योंकि
असंन्यस्त-संकल्प = संकल्पों को न त्यागने वाला
कश्चन = कोई भी पुरुष
योगी = योगी
न = नहीं
भवति = होता है ।

एवं प्राक्तनेनाध्यायगणेन साधितोऽर्थः श्लोकद्वयेन निगद्यते। कार्यं—स्वजात्यादि-विहितम्। 'संन्यासी' इति 'योगी' इति च पर्यायावेतौ। अत एवाह यं संन्यासमिति। तथा च—योगमन्त्रेण संन्यासो नोपपद्यते, एवं संकल्पसंन्यासं विना योगो न युज्यते। तस्मात्स-ततसंबद्धौ योगसंन्यासौ। न निरग्निरित्यादिनायमर्थो ध्वन्यते—निरग्निश्च न भवति, निष्क्रियश्च न भवति, अथ च संन्यासी—इत्यद्भुतम्॥२॥

इस प्रकार पिछली अध्यायों में सिद्ध किया हुआ विषय उपर्युक्त दो श्लोकों में कहा गया है। कार्य -करने योग्य—अपनी जाति के लिए कहे गए शास्त्रीय कर्म। 'संन्यासी' तथा 'योगी' ये दोनों ही समानार्थक हैं अर्थात् एक ही अर्थ के द्योतक हैं। इसी लिए तो कहा है। 'जो संन्यासी है' इस प्रकार (वही योगी भी है।) इस को और भी स्पष्ट करते हैं—योग के बिना संन्यास हो नहीं सकता तथा संकल्प—संन्यास के बिना योग मेल नहीं खाता। अत: योग और संन्यास तो सदा परस्पर संबन्धित हैं। 'न निरग्निः' का तात्पर्य यह है कि अग्नि को स्पर्श किये बिना भी न रहे और कार्य किये बिना भी न रहे, फिर भी संन्यासी कहलाये—यह अचम्भे की बात है।

यद्यपि 'द्यूतर्भासिंहासनं राज्यम्' इति युक्तया च केवलस्य निष्क्रियस्य संन्यासित्व-मुपपद्यते इत्युक्तम्, तथापि।

यद्यपि 'जुआ खेलने में व्यस्त होना, बिना सिंहासन के राज्य को प्राप्त करना है' इस युक्ति से जो कोई भी अन्य कार्य न करते हों केवल शरीर संबन्धित कार्य ही करते हों इस रीति से निष्क्रिय हों उनके लिए संन्यास करना युक्त है।

तथापि—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥३॥

योगम्	=	समत्व बुद्धि रूप योग में
आरुरुक्षोः	=	आरूढ होने की इच्छा वाले
मुनेः	=	मननशील साधक के लिए
कर्म	=	कर्म करना ही
कारणम्	=	साधन
उच्यते	=	कहा गया है।
		(और)
योग-आरूढस्य	=	योग पर आरूढ हो जानेपर
तस्य एव	=	उसका
शमः	=	शम (शान्ति) ही
कारणम्	=	लक्षण (चिह्न)
उच्यते	=	कहा है।

१. संबन्धौ इति ग० पाठः

मुने:—ज्ञानवत:, कर्म—करणीयं, कारणं—प्रापक:। शम:—प्राप्तभूमावनुपरम:। कारणमत्र लक्षणम्॥३॥

मुनि को—ज्ञानवान् पुरुष को। कर्म करने योग्य कार्य। कारण—योग को प्राप्त कराने वाला साधन। शम:—प्राप्त हुई अनुभूति में टिके रहना। यहाँ कारण—(उपाय के अर्थ में प्रयुक्त न होकर) लक्षण (के अर्थ में लागू हुआ) है।

एष एवार्थ: प्रकाश्यते—

इसी विषय को प्रकट करते हैं—

> यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जति।
> सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥४॥

यदा = जब

न = न (तो)

इन्द्रिय-अर्थेषु=इन्द्रियों के भोगों में

न हि = न ही

कर्मसु = कर्मों में

अनुषज्जते = आसक्त होता है।

सर्व-संकल्प-संन्यासी = सभी संकल्पों से छूटा हुआ साधक

तदा = तभी

योग-आरूढ: = योगारूढ (योग में टिका हुआ)

उच्यते = कहलाता है।

इन्द्रियार्था:—विषया:। तदर्थानि च कर्माणि—विषयार्जनादीनि॥४॥

इन्द्रियार्थ—इन्द्रियों के विषयों को कहते हैं। उन विषयों के लिये जो विषय आदि का उपार्जन—जुटाना है उसे कर्म कहते हैं।

अस्यां च बुद्धाववश्यमेवावधेयमित्याह—

इस (प्रकार की) बुद्धि में अवश्य ध्यान रहे कि—

> उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन:॥५॥

आत्मना	=	आप ही
आत्मानम्	=	अपने को
उद्धरेत्	=	उद्धार करना चाहिए,
आत्मानम्	=	अपने को (आत्म-विमुख बन कर)
न अवसादयेत्	=	गिराना नहीं चाहिए
हि	=	यत:
आत्मा	=	अपना आप ही
आत्मन:	=	अपना
बन्धु:	=	मित्र है (और)
आत्मा	=	अपना आप
एव	=	ही
आत्मन:	=	अपना
रिपु:	=	शत्रु (भी) है।

अत्र च नान्य उपाय अपितु आत्मैव—मन एवेत्यर्थ: ॥५॥

इस आत्मा का उद्धार करने का कोई दूसरा उपाय नहीं अपितु आत्मा—मन ही इस का उद्धार कर सकता है। यह तात्पर्य है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित: ।
अजितात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

तस्य	=	उसका
आत्मा	=	आत्मा (ही)
आत्मन:	=	अपना
बन्धु:	=	मित्र है
येन	=	जिसने
आत्मना	=	अपने आप
एव	=	ही
आत्मा	=	मन
जित:	=	जीता हो।
अजितात्मन:	=	जिसने मन न जीता हो
शत्रुत्वे तु	=	उसके शत्रु बन जाने पर तो
आत्मा एव	=	मन ही
शत्रुवत्	=	शत्रु का सा
वर्तेत	=	व्यवहार करने लगता है।

जितं हि मनो मित्रं घोरतरसंसारोद्धरणं करोति। अजितं तु तीव्रनिरयपातनाच्छत्रुत्वं कुरुते ॥६॥

बात तो यूं है कि जीता गया मन ही मित्र है जो भयंकर संसार से उद्धार करता है। मन को न जीत लिया जाय तो वही मन, नरक में धकेलने से शत्रु का व्यवहार करता है।

तत्र जितमनस इदं रूपम्—

तब तो जीते हुए मन वाले योगी का लक्षण यह है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परात्मसु समा मतिः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानावमानयोः ॥ ७ ॥

शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु = सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख में
तथा = और
मान-अपमानयोः = मान-अपमान में
प्रशान्तस्य = (जिसकी वृतियां) शान्त रहती हैं (तथा जो)

जित-आत्मनः = मन को जीतने वाला,
पर-आत्मसु = अपने और पराये में
समा-मतिः = एक जैसी बुद्धि रखने वाला (योगी है)

प्रशान्तः—निरहंकारः। परेष्वात्मनि च शीतोष्णादिषु च अभेदधीः—न रागद्वेषौ ॥७॥

प्रशान्तः—अहंकार से रहित (हो)। पराये और अपने में तथा सरदी और गर्मी में अभेद-बुद्धि रखकर (व्यवहार करता हो) राग और द्वेष से रहित हो।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा = शास्त्र-ज्ञान तथा अनुभव से जिसकी आत्मा सन्तुष्ट है,
कूटस्थः = जो विकार से रहित है,
विजित-इन्द्रियः = जिसने इन्द्रियों को जीता है,
सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः = मिट्टी, पत्थर और सोने में जिसकी एक जैसी बुद्धि है,

युक्तः = योग-द्वारा जोसमाहित हो चुका है,
योगी = (वह), योगी
उच्यते = कहलाता है।

ज्ञानम्—अभ्रान्ता बुद्धिः। विविधं ज्ञानं यत्र तद्विज्ञानं—प्राग्युक्तत्युदितं कर्मः ॥८॥

ज्ञान—निश्चित बुद्धि। जहां अनेक प्रकार का ज्ञान हो उसे विज्ञान कहते हैं। पहिले कही गई उक्ति के अनुसार कर्म-योग को विज्ञान कहते हैं।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृद् = सहज भाव से हित करने वाला,
मित्र = दोनों ओर की भलाई करने वाला,
अरि = निष्कारण वैरी में,
उदासीन = तटस्थ रहने वाले में,
मध्यस्थः = पक्षपात-रहित,
द्वेष्यः = द्वेष करने वालों में,
बन्धुषु = बन्धु जनों में,
साधुषु = सत्पुरुषों में,
पापेषु = दुष्टों में,
अपि च = भी
सम-बुद्धिः = समान बुद्धि रखने वाला (योगी ही)
विशिष्यते = अति उत्तम है।

सुहृत्—यस्याकारणमेव शोभनं हृदयम्। मित्रत्वम्—अन्योन्यम्। अरित्वं—परस्परं। उदासीनः—एतदुभयरहितः। मध्यस्थः—केनचिदंशेन मित्रं केनचिच्छत्रुः। **द्वेषार्हो द्वेष्टुमशक्यो द्वेष्यः। बन्धुः—योन्यादिसंबन्धेन। एतेषु सर्वेषु समधीः। एवं साधुषु पापेषु च। स च विशिष्यते—क्रमात्क्रमं संसारात्तरति ॥९॥**

सुहृत—जिसका हृदय स्वभावतः सुन्दर है। मित्रत्वम्--दो व्यक्तियों का परस्पर मेल-मिलाप मित्रता कहलाती है। (इसी भांति) शत्रुता भी परस्पर होती है। उदासीन वह है जो (शत्रुता और मित्रता) दोनों में न पड़ने वाला है। मध्यस्थ—जो किसी अंश से मित्र और किसी अंश से शत्रु का व्यवहार करे। द्वेष्यी वह है जो अपने शत्रु के प्रति द्वेष्य-भाव रखता तो है पर उसका कुछ बिगाड़ न सके। जन्म आदि से सम्बन्धित को बन्धु कहते हैं। इन सभों में जो योगी एक जैसी (आत्म) बुद्धि रखता हो। (इतना ही नहीं) सत्पुरुषों में और पापियों में भी जिसकी बुद्धि एकवत् है वही असाधारण है। ऐसा साधक ही उत्तरोत्तर रूप से संसार को पार कर जाता है।

---

१. एतद्रूपरहित इति ख० पाठः।

ईदृशैश्च वन्द्यचरणै :—

ऐसे पूज्य योगियों ने—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१०॥

तैः	= उन ऐसे योगियों ने	**ब्रह्म**	= ईश्वर (तो)
सर्गः	= संसार	**निःदोषम्**	= दोष रहित (और)
इहैव	= इसी जन्म में	**समम्**	= सम (एकवत्)
जितः	= जीत लिया है	**अस्ति**	= है।
येषाम्	= जिनका	**तस्माद्**	= अतः
मनः	= मन	**ते**	= वे योगी
साम्ये	= समता में	**ब्रह्मणि**	= ब्रह्म में ही
स्थितम्	= ठहरा है।	**स्थिताः**	= ठहरे हैं।
हि	= यतः		

इहैव—सत्यपि शरीरसम्बन्धे सर्गो जितः—साम्यावस्थत्वात् । संसारस्य ह्यबन्धकत्वमेषाम्[1] । साम्ये हि ते प्रतिष्ठिताः । साम्यं च ब्रह्म ॥१०॥

इसी जन्म में—शरीर के रहते हुए (जीते जी) ही (ऐसे योगियों ने) संसार अर्थात् भेद-प्रथा पर विजय पाई होती है। वे तो साम्य-भाव में ठहरे होते हैं। संसार, इन्हें बांध नहीं पाता क्योंकि वे (योगी) साम्य-दशा में टिके होते हैं। साम्य ही तो ब्रह्म है।

ननु जितात्मनः—इत्युक्तं, तत्कथं तज्जयः ? इत्याशङ्क्य आरुरुक्षोः कश्चिदुपायः कायसमत्वादिकश्चित्तसंयम उपदिश्यते[2] ।

मेरा प्रश्न है कि आपने जो कहा कि 'मन को जीतने वाला साधक, परमात्मा को प्राप्त करता है' वह मन कैसे जीता जा सकता है ? इस शंका को उठा कर मोक्ष को चाहने वाले साधकों के लिए ध्यान के समय शरीर को स्पन्द-रहित बनाए रखना तथा मन को एकाग्र करने का उपदेश कहते हैं—

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥११॥

---

१. जीवन्मुक्तेरेषाम् इति क० पाठः ।

२. इत्युपदिश्यते इति घ० पाठः ।

यत-चित्त-आत्मा = जिसने मन और अन्तः-करणों को जीता है,
निः-आशीः = वासना से रहित,
अपरिग्रहः = आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को न जुटाने वाला
योगी = योगी,
रहसि = एकान्त स्थान में,
एकाकी = अकेला ही
स्थितः = रहता हुआ
सततम् = सदा
आत्मानम् = अपने आप को
युञ्जीत = परमेश्वर के ध्यान में लगाए ।

आत्मानं चित्तं च युञ्जीत—एकाग्रौ कुर्यात् । सततमिति—न परिमितं कालम् । एकाकित्वादिषु सत्सु एतद्युज्यते नान्यथा ॥११॥

बुद्धि और मन को (परस्पर) मिलाए—एकाग्र बनाए । सदा—थोड़े समय के लिए नहीं । यह योग तो एकान्त में रह कर ही सिद्ध होता है, किसी अन्य उपाय से नहीं ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥१२॥

शुचौ = पवित्र
देशे = स्थान पर
चैल-अजिन-कुशा-उत्तरम् = कुशा के ऊपर मृग-छाला तथा फिर वस्त्र बिछा कर
न = न तो
अति-उच्छ्रितम् = अति ऊंचा (और)
न = न
अति नीचम् = बहुत ही नीचा
आत्मनः = अपना
आसनम् = आसन
स्थिरम् = स्थिर रूप से
प्रतिष्ठाप्य = जमा कर

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१३॥

यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः = चित्त और इन्द्रियों को वश में करने वाला साधक,	**कृत्वा** = करके
तत्र = उस	**आत्म-विशुद्धये** = अन्तः करण की शुद्धि के लिए
आसने = आसन पर	**योगम्** = योग का
उप-विश्य = बैठ कर (तथा)	**युञ्ज्यात्** = अभ्यास करे।
मनः = मन को	
एकाग्रम् = एकाग्र	

आसनस्थैर्यात्कालस्थैर्ये चित्तस्थैर्यम्। चित्तक्रियाः—संकल्पात्मानः अन्याश्चेन्द्रियक्रिया येन यताः—नियमं नीताः ॥१३॥

(अभ्यास काल में) आसन के दृढ़ बनने से तथा उस आसन पर बहुत समय तक बैठने से मन की चंचलता दूर हो जाती है – मन स्थिर हो जाता है। संकल्पों को और अन्य इन्द्रियों की क्रियाओं को जिसने 'यत' किया हो—नियम-बद्ध किया हो। (उसे यत-चित्तेन्द्रिय कहते हैं।)

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संपश्यन्नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१४॥

काय-शिरो-ग्रीवं = शरीर, सिर तथा गर्दन को	**स्वम्** = अपनी
समम् = सीध में रखकर	**नासिका-अग्रम्** = नाक के सिरे की ओर
च = और	**संपश्यन्** = देखकर
अचलम् = स्थिर रूप में	**दिशः च** = और (अन्य) दिशाओं को
धारयन् = धारण करके	**अन-अवलोकयन्** = न देखता हुआ,
स्थिरः = हिलने के बिना, जम करके	

प्रशान्तात्मा विगतभीर्[1] ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः। १५॥

१. अद्वैतनिष्ठत्वात् त्रासरहितः।

ब्रह्म-चारि-व्रते-स्थितः = ब्रह्म-चर्य-व्रत में टिका हुआ,
विगत-भीः = (अद्वैत में लगा हुआ होने से) निर्भय,
प्रशान्त-आत्मा = शान्त अन्तःकरण वाला (साधक)
मनः = मन को
संयम्य = वश में करके
मत्-चित्तः = मुझ में मन लगाए (और)
मत्-परः = मुझमें
युक्तः = समाहित
आसीत् = हो जाए ।

धारयन्—यत्नेन । नासाग्रस्यावलोकने दिशामनवलोकनम् । मत्परमतया युक्त आसीतेत्यर्थः ।।१५।।

(शरीर, सिर तथा गर्दन को) यत्न-पूर्वक (सम रूप से) धारण करे । नासिका के अग्रभाग को देखने का तात्पर्य यह है कि अन्य दिशाओं की ओर दृष्टि न डाले । (अतः) मुझ में पूर्ण रूप से टिक कर, सावधान मन से अभ्यास करे ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं मद्भक्तोऽनन्यमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।१६।।

एवम् = इस रीति से
योगी = योगी (साधक)
आत्मानम् = अपने को
सदा = निरन्तर
युञ्जन् = (ध्यान में) लगाता हुआ
अन्-अन्य = एकाग्र
मानसः = मन से
मत्-संस्थाम् = मुझ में
निर्वाण-परमाम् = आधारित निर्वाण-परक,
शांतिम् = शांति को
अधिगच्छति = पा लेता है ।

एवमात्मानं युञ्जतः—समादधतः शान्तिर्जायते । यस्यां संस्थापर्यन्तकाष्ठा मत्प्राप्ति-योगोऽस्तीति ।।१६।।

इस प्रकार आत्मा का अभ्यास करने वाले को—इस रीति से समाधान करने वाले को (आत्मिक) शान्ति मिलती है । जिस शान्ति की पार्यन्तिक स्थिति मुझे प्राप्त करना ही है या यूं कहें कि जिस शान्ति की परमोत्तमा स्थिति मुझ (परमात्मा) से युक्त होना ही है ।

योगोऽस्ति नैवात्यशतो न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य नातिजागरतोऽर्जुन ।।१७।।

अर्जुन	= हे अर्जुन !	**च न**	= तथा नतो
अति-अश्नतः	= बहुत खाने वाले को	**अति-स्वप्न शीलस्य**	= अधिक नींद करने वाले को
योगः	= योग		(और)
नैव अस्ति	= सिद्ध नहीं होता।	**न**	= नहीं
न च	= और नहीं	**अति-जागरतो**	= सदा जागने वाले
एकान्तम्	= बिलकुल ही		
अन-अश्नतः	= न खाने वाले को (योग की सिद्धि होती है।)	**च नैव**	= को ही (योग की सिद्धि होती है।)

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१८॥

युक्त-आहार-विहारस्य	= नियत समय पर भोजन और विश्राम करने वाले का (तथा)	**युक्त-स्वप्न अवबोधस्य**	= नियम-पूर्वक सोने वाले और जागने वाले का
कर्मसु	= कर्मों में	**योग**	= योग
युक्त-चेष्टस्य	= यथायोग्य चेष्टा करने वाले का (और)	**दुःखहा**	= सुख पूर्वक
		भवति	= सिद्ध होता है ।

आहारेषु—आह्रियमाणेषु विषयेषु । विहारः—उपभोगाय[1] प्रवृत्तिः । तस्याश्च युक्तत्वं—नात्यन्तासक्तिः नात्यन्तपरिवर्जनम् । एवं सर्वत्र । शिष्टं स्पष्टं । जागरतः—इत्यादि मुनेः प्रमाणत्वाद्वेदवत् । एवमन्यत्रापि ॥१८॥

आहारों **में—**भोग के लिए स्वीकृत विषयों में। विषयों की उपभोग-प्रवृत्ति को विहार कहते हैं। जिसे समुचित रूप से भोग, भोगने में न तो अत्यन्त लगाव हो और न ही एकदम भोगों को त्यागने वाला हो, उसी को 'आहार तथा विहार' में युक्तता है। इसी प्रकार सभी चेष्टाओं में (सम रहना ही योग है।) ऐसा समझना चाहिए। बाकी अर्थ तो साफ ही है। 'जागरतः' शब्द यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है तथापि व्यास मुनीश्वर की वाणी से निकला हुआ होने से वेद-वाक्य की भांति आर्ष प्रयोग है। इसी भांति अन्य स्थलों में भी समझना चाहिए।

---

१. उपयोगाय प्रवृत्तिरिति ख॰ पाठः।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१९॥

विनियतम् = भली-भांति काबू में किया हुआ
चित्तम् = मन
यदा = जब
आत्मनि = स्वरूप में
एव = ही
अवतिष्ठते = टिक जाता है,
तदा = तब
सर्व-कामेभ्यः = सभी कामनाओं से
निःस्पृहः = छूटा हुआ (साधक)
युक्तः = योग से संपन्न
इति = हुआ ही
उच्यते = कहा जाता है ।

अस्य च योगिनश्चिह्नम्, आत्मन्येव नियतमनाः न कश्चिदपि स्पृहयते ॥१९॥

इस योगी का चिह्न—लक्षण यह है—आत्मा में ही मन का दमन करता है । कोई भी अभिलाषा नहीं करता । या यूं कहें कि किसी वस्तु के लिए उसमें अभिमत्व नहीं होता ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनि ॥२०॥

निवात-स्थः = वायु-रहित स्थान में धरा गया
दीपः = दीपक,
यथा = जैसे
न = नहीं
इङ्गते = झिलमिलाता है
आत्मनि = परमात्मा के
योगम् = ध्यान में
युञ्जतः = लगे हुए
यत-चित्तस्य = जीते हुए मन वाले
योगिनः = योगी की
सा = वही
उपमा = उपमा
स्मृता (भवति) = कही जाती है ।

यथा निवातस्थो दीपो न चलति, एवं योगी । चलनमस्य विषयादीनामर्जनादयः प्रयासः ॥२०॥

जैसे वायु से रहित स्थान (ओट) में रखा गया दीपक हिलता नहीं है ऐसे ही योगी भी (विषयों को देख कर) विचलित नहीं होता है । इस योगी का चलन-फिसलना—विषय आदि को प्राप्त करने की दौड़-धूप है ।

इदानीं तस्य स्वभावस्यब्रह्मणो बहुतरविशेषणद्वारेण स्वरूपं निरूप्यते, तीर्थान्तर-कल्पितेभ्यश्च रूपेभ्यो व्यतिरेकः—

अब उस स्वात्मरूप पर-ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय अनेक विशेषणों को लेकर करते हैं और अन्य सिद्धान्त-शास्त्रों में कहे गए ब्रह्म के काल्पनिक रूपों से यहां ब्रह्म की, और ही निराली विशेषता दिखाते हैं ।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवनात् ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।२१।।

यत्र = जिस अवस्था में
योग-सेवनात् = योग के अभ्यास से
निरुद्धम् = रोका हुआ
चित्तम् = मन
उपरमते = (विषयों से) पीछे हटता है
यत्र च = और जिस दशा में
आत्मना = स्वयं ही
आत्मानम् = ब्रह्म को
पश्यन् = देखता हुआ
आत्मनि = आत्मा में
एव = ही
तुष्यति = संतुष्ट होता है ।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।२२।।

अतीन्द्रियम् = इन्द्रियों से परे
बद्धि-ग्राह्यम् = तीक्ष्ण बुद्धि से ग्रहण करने योग्य
आत्यन्तिकम् = अपरिमित
यत् = जो
सुखम् = आनन्द है
तत् = उस आनन्द को
अयम् = यह योगी
यत्र च = जिस अवस्था में टिक कर ही
तत्त्वतः = तत्त्व रूप से
वेत्ति = अनुभव करता है (तब फिर)
तत्र = उस अवस्था में
स्थितः = ठहरा हुआ (कदापि)
न एव चलति = डिगता नहीं ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२३॥

च = और

यम् = जिस चरम-सुख को

लब्ध्वा = प्राप्त करके

ततः = उससे

अधिकम् = अधिक (श्रेष्ठ)

अपरम् = दूसरा (कुछ भी)

लाभम् = पाने योग्य

न = नहीं

मन्यते = समझता

यस्मिन् च = और जिस अवस्था में

स्थितः = ठहरा हुआ (योगी)

गुरुणा = भयंकर

दुःखेन = दुःख से

अपि = भी

विचाल्यते न = विचलित नही होता।

तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विणचेतसा ॥२४॥

तं = उसी को

दुःख-संयोग-वियोगम = भेद-प्रथा रूप दुःखों से रहित

योग = योग

संज्ञितम् = नाम से अलंकृत अवस्था

विद्यात् = समझो

सः = वह

योगः = योग (तो)

निर्विण्ण-चेतसा = निर्वेद भरे मन से

(अथवा)

अनिर्विण्ण-चेतसा = न उकताए हुए मन से

निश्चयेन् = श्रद्धा-पूर्वक

योक्तव्यः = अभ्यास करना चाहिए।

यत्र मनो निरुद्धमुपरयते स्वयमेव, आन्यन्तिकं—विषयकृत-कालुष्याभावात् सुखं यत्र वेत्ति । अपरो लाभो—धनदार पुत्रादीनाम । सन्नियोगलब्धश्च योगाः । अन्यत्र सुखधीर्नि-वर्तते चेति वस्तुस्वभावोऽयोमर्यर्थः । न विचाल्यते—विशेषेण न चाल्यते; अपितु संस्कार-मात्रेणैवास्य प्रथमक्षणमात्रमेय चलनं करुणातिशयशात्, न तु मूढतया, 'विनिष्टो मताहं, किं मया प्रतिपत्रव्यय !' इत्यादि । दुःखसंयोगस्य वियोगो मतः । स कु निश्चयेन—आस्तिकता जनितया श्रद्धया सर्वथा विक्तयः—अभ्यसनीयः । अनिविणम्—उतेय-प्राप्तौ दृढतरं, संसारं दुःखबहुलं प्रति निर्विणं वा चेतो यस्य ॥ २४॥

जिस निरुद्ध अवस्था में मन, चंचलता को छोड़ कर स्वयं निश्चल हो जाता है। आत्यन्तिक—जिस दशा में मन, विषयों से उत्पन्न मलिनता के न रहने से (वास्तविक) सुख का अनुभव करता है। अन्य लाभ से तात्पर्य धन, स्त्री, पुत्र आदि से है। ईश्वर के साथ अति निकटता को प्राप्त करना योग है। इस योग की प्राप्ति से अन्य सभी सांसारिक सुखों में, सुख-बुद्धि नहीं रहती। ऐसी अवस्था (उस योगी के लिए) स्वभाव बन जाती है। यह तात्पर्य है। वह योगी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता—विशेष रूप से चलायमान तो नहीं होता किन्तु कुछ संस्कार शेष रहने से, दया आदि के बस में पड़ कर प्रथम क्षण में विचलित सा प्रतीत होता है। मूढ़ तो, दुःख आने पर कहता है कि "मैं अब नष्ट हो गया' 'अब मैं क्या करूं' आदि। इस भांति मूर्ख की सी बातें वह योगी नहीं करता है। (उसे तो) दुःख-प्राप्ति का वियोग हुआ होता है। वह योग निश्चय से—आस्तिकता से उत्पन्न हुई श्रद्धा से पूर्ण रूप में मन लगाकर अभ्यास करना चाहिए। अनिर्विणम्—स्वात्म-लक्ष्य रूप उपेय की प्राप्ति के लिए धैर्य धारण करके अभ्यास करना चाहिए अथवा निर्विण-चेतसा) दुःख रूप संसार के प्रति वैराग्य-युक्त मन से इस योग का अभ्यास करना चाहिए।

कामानां त्यागे उपायः सङ्कल्पत्याग इत्याह—

कामनाओं के त्याग का उपाय संकल्पों का त्याग है। यही कहते हैं—

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२५॥

संकल्प-प्रभवान्	=	संकल्पों से उत्पन्न होने वाली	मनसा	=	मन से
सर्वान्	=	सभी	इन्द्रिय-ग्रामम्	=	इन्द्रियों के समूह को
कामान्	=	कामनाओं को	समन्ततः	=	सब ओर से
अशेषतः	=	(वासना सहित) पूर्ण रूप में	एव	=	ही
त्यक्त्वा	=	त्याग कर	विनियम्य	=	भली-भांति काबू में करके,

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२६॥

शनैः शनैः	= क्रम-पूर्वक (अभ्यास करता हुआ)		आत्म-संस्थम्	= आत्मा (परमात्मा) में
उपरमेत्	= (विषयों से) पीछे हटे। (तथा)		कृत्वा	= ठहरा कर
धृति-गृहीतया	= धैर्य-युक्त		किंचित्	= (और) कुछ
बुद्धया	= बुद्धि से		अपि	= भी
मनः	= मन को		न चिन्तयेत्	= चिन्तन न करे।

मनसैव—न व्यापारोपरमेन। धृतिं गृहीत्वा क्रमात्क्रममभिलाषदुःखं प्रतनूकृत्य। किंचिदपि—विषयाणां त्यागग्रहणादिकं न चिन्तयेत् यत्त्वन्यैर्व्याख्यातं न किंचिदपि चिन्तयेत् —इति, तदस्मभ्यं न रुचितं,—शून्यवा[1]दप्रसङ्गात् ॥२६॥

मन से ही संकल्पों का त्याग करे—किंतु कर्मों को त्यागने से नहीं। इसी प्रकार धैर्य को धारण करके शनैः शनः अभिलाषात्मक दुःखों को कम करे। विषयों के छोडने और उनको ग्रहण करने के बारे में कुछ भी न सोचे। अब जो अन्य टीकाकारों ने यह अर्थ लिया है कि 'कुछ भी न सोचे' यह अर्थ हमें जंचता नहीं है। इस अर्थ में तो शून्यवाद (जडवाद) का प्रसंग आ उपस्थित होता है।

न च विषयव्युपरममात्रमेव प्राप्यमित्युच्यते—

केवल विषयों से पिंड छुडाना ही कर्त्तव्य नहीं है यही कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव शमं नयेत् ॥२७॥

---

१. अथवा नेति नेति हि वीप्सया सर्वनिषेधस्वभावत्वादेव बृहत्त्वेनाभावमेव ब्रह्म मन्यन्ते केचन। न किंचिदपि चिन्तयेदिति ह्यत्र सकलचिन्त्यविविक्ततैव तावदात्मतत्त्व-मित्युपपादितम् अधरभूमिकापरित्याग तावदाद्रियन्ताम्—इत्याशयेन, नतु तदेव परं तत्त्वम्। इदमेव दर्शयितुं श्रीस्पन्दे—''नाभावो भाव्यतामेति' इत्यादिना, 'अभावं भावयेत्तावद्यावत्तन्मयतां व्रजेत्' इत्यभावब्रह्मवादिमतं दूषितम्।

एतत् = यह
अस्थिरम् = एक जगह न टिकने वाला।
चंचलम् = चंचल
मनः मन,
यतः यतः = जिस जिस ओर से
निःचरति = विषयों में घूमता है
ततः = उस
ततः = उस से
नियम्य = इसका नियमन करके
आत्मनि = अपने में
एव = ही
शमम् = (इसका) शमन
नयेत् = करे।

यतो यतो मनो निवर्तते, तन्निवर्तनसमनन्तरमेव आत्मनि शमयेत्। अन्यथा अप्रतिष्ठं चित्तं पुनरपि विषयानेवावलम्बते ॥२७॥

जिन-जिन विषयों से मन पीछे हटेगा उसके निवृत्त बनने के साथ ही इस मन को आत्मा में ही लीन करे अन्यथा आत्मा में न टिकाया हुआ मन, फिर से विषयों को ही ग्रहण करेगा।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२८॥

प्रशान्त-मनसम् = जिसका मन शान्त हो गया है,
अकल्मषम् = जो पाप से छूटा है
शान्त-रजसम् = रजोगुण जिसका समाप्त हो गया है
एनम् = ऐसे
ब्रह्मभूतम् = ब्रह्म रूप बने हुए
योगिनम् = योगी के पास ही तो
उत्तमम् = उत्तम
सुखम् = (परम-आनन्द रूप) सुख (स्वयं)
उपैति = आ उपस्थित होता है।

तत्रात्मनि शान्तचित्तं योगिनं—कर्मभूतं, सुखं कर्तृभूतमुपैति ॥२८॥

ऐसी दशा में अपने आत्मा में शान्त-चित्त योगी, तो कर्म बनता है अर्थात् उस दशा में योगी को कुछ प्रयत्न नहीं करना होता है। केवल उसको देखना होता है कि आगे क्या होता है—यही तात्पर्य है योगी के कर्म बनने का और जो सुख है वह कर्ता बन कर (स्वयं) इसके पास आ उपस्थित होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
सुखेन ब्रह्मसंयोगमत्यन्तमधिगच्छति ॥२९॥

नियत-मानस:	= जिसका मन अपने अधीन है (ऐसा)	**अत्यन्तम्**	= अनन्त
योगी	= योगी	**ब्रह्म-संयोगम्**	= ब्रह्म के साक्षात्कार को
एवम्	= इस प्रकार (उपर्युक्त रीति से)	**सुखेन**	= सहज में ही
सदा	= सदा	**अधि-गच्छति**	= प्राप्त करता है।
आत्मानम्	= आत्मा का अभ्यास करते हुए		

अनेनैव क्रमेण योगिनां सुखेन ब्रह्मावाप्ति:, नतु कष्टयोगादिनेति तात्पर्यम् ॥२९॥

इसी रीति से योगी को सहज रूप से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। कष्ट-योग (चान्द्रायणादि) व्रतों का पालन करने से ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता। यह तात्पर्य है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन: ॥३०॥

सर्वत्र	= सब में	**सर्व-भूत-स्थम्**	= सभी जड़-चेतन वर्ग में ठहरा हुआ
सम-दर्शन:	= सम-भाव से देखने वाला	**सर्व-भूतानि च**	= और सभी भूतों को
योग-युक्त-आत्मा	= योग से संपन्न बना हुआ (साधक)	**आत्मनि**	= आत्मा में (ही)
आत्मानम्	= आत्मा को	**ईक्षते**	= देखता है।

सर्वेषु भूतेषु आत्मानं—ग्राहकरूपतयानुप्रविशन्तं भावयेत्। आत्मनि च ग्राह्यतात्मज्ञान-द्वारेण सर्वाणि भूतानि एकीकुर्यात्। अतश्च समदर्शनत्वं जायते योगश्चेति संक्षेपार्थ:। विस्तरस्तु भेदवादविदारणादिप्रकरणे देवीस्तोत्रविवरणे च मया निर्णीत:, इति तत् एवावधार्य: ॥३०॥

सभी प्राणियों में आत्मा को देखे अर्थात् सभी प्राणियों में आत्मा, ग्राहक रूप से विद्यमान् है यह भावना करे और आत्मा में सभी प्राणियों के ग्राह्य रूप ज्ञान के द्वारा, या यूं कहें कि आत्मा में सभी प्राणियों को सभी जाने के योग्य जान कर उनका एकीभाव करे। अत: (ऐसी भावना करने से) सम-दर्शन और योग की प्राप्ति होती है। यह तो रहा नपे-तुले शब्दों में अर्थ। इसका खोल कर अर्थ तो मैंने 'देवी स्तोत्र विवरण' के भेदवाद-विदारणादि प्रकरण में किया है। अत: वहीं पर देख लिया जाय।

यो[1] मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३१॥

---

१. माम्—अहंरूपमनन्यापेक्षप्रकाशमनन्यविमर्शमयं स्वप्रकाशविमर्शं प्रकाशं सर्वत्र-सर्वोपश्लेषेण य: पश्यति; नीलमिति हि प्रकाशमाने नीलं प्रकाशते इतीयदहं-

यः	= जो	तस्य	= उससे
मां	= मुझे	न	= } भुलाया
सर्वत्र	= सब जगह	प्रणश्यामि	= } नहीं जाता हूं
पश्यति	= देखता है	सः }	= और
सर्वम् च	= और सब को	च }	= वह भी
मयि	= मुझ में	मे	= मुझ से
पश्यति	= देखता है	न	= नहीं
अहम्	मैं	प्रणश्यति	= भुलाया जाता।

प्रणाशः—अकार्यकारित्वात् । तथाहि । परमात्मनः सर्वगतं रूपं यो न पश्यति, तस्य परमात्मा पलायितः—स्वरूपप्रकटीकाराभावात् । यच्चेदं वस्तुजातं तद्भासनात्मनि परमात्मनि विनिविष्टं भवति, तथाविधं यो न पश्यति, स परमार्थस्वरूपात् प्रनष्टः—तद्व्यतिरेके सत्यनिर्भासात् । यस्तु सर्वगतं मां पश्यति, तस्याहं न प्रनष्टः—स्वस्वरूपेण भासनात् भावांश्च मयि पश्यति, तत्तेषां भासनोपपत्तौ द्रष्टृतायां परिपूर्णायां स न प्रनष्टः परमात्मनः ॥३१॥

अपने स्वरूप का स्वप्रकाशात्मक कार्य न करने की ओर ही 'प्रणाश' शब्द का संकेत है– करने योग्य (पारमार्थिक कार्य को) जो न करे। इसको स्पष्ट करते हैं—परमात्मा के व्यापक रूप को जो नहीं देखता है, उस व्यक्ति से परमात्मा कोसों दूर भाग गया है। वह (परमात्मा) अपने स्वरूप को (उसके प्रति) प्रकट नहीं करता है। अब जो यह वस्तु समुदाय है, यह उस प्रकाश रूप परमात्मा में ठहरे ही हैं। इस दृष्टि से जो नहीं देखता है वह तो परमार्थ-स्वरूप से सर्वथा नष्ट हो गया है क्योंकि प्रकाश से भिन्न कोई भी वस्तु प्रकाशित नहीं हो सकती। अब जो व्यापक रूप से मुझे देखता है, उसके लिए मैं नष्ट नहीं होता हूं, मैं तो उसे स्वात्मरूप में ही भासित हूँ। अब जो पदार्थों को मुझ में अवस्थित हुआ देखता है, वह व्यक्ति इस रीति से भी स्वप्रकाशरूप दृष्टा के परिपूर्ण आत्म रूपता का अवलम्बन करने पर परमात्मभाव से (कभी भी) नष्ट नहीं होता। (क्योंकि वह सदा दृष्टा बना रहता है।)

प्रकाशः, इति प्रकाश एव प्रकाशितो भवति, प्रकाशं च सर्वत्र यः पश्यति; न प्रकाशस्य देशे काले स्वरूपे वा खण्डनात्मा व्यवच्छेदोऽस्तीति, मयीति—आत्मसंवेदन प्रकाशे च तदविनिर्भक्तं सर्वं प्रकाशितं भवतीति। तथा नीलादिकमात्म प्रकाशभित्तौ रूढं चकास्तीति यः पश्यति, तस्याहमिति प्रकाशो न प्रणश्यति—न खण्डनाविकारं प्राप्नोति, न प्रकाशरूपाच्च्यवते, अहं च तस्य विश्वेश्वररूप एवात्मा न प्रणश्यामि—नाच्छादितो भवामि। तथा सोऽपि=एवंदृष्टा ममेति—शुद्धप्रकाशात्मनः परमेश्वरस्य न प्रणश्यति—आच्छादितो न भवतीति रहस्यार्थ आचार्यपादैर्विवृत्तिविमर्शिन्यां विवृतः।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३२॥

यः	= जो साधक		सः	= वह
एकत्वम्	= एकान्त में		योगी	= योगी
आस्थितः	= ठहरा हुआ		सर्वथा	= सब प्रकार से
सर्व-भूत-स्थितम्	= सभी प्राणियों में आत्म रूप से स्थित		वर्तमानः	= (व्यवहारशील) रहता हुआ
माम्	= मुझे		अपि	= भी
भजति	= भजता है		मयि	= मुझी में
			वर्तते	= ठहरा है।

यस्त्वेवं ज्ञानाविष्टः सोऽवश्यमेवैकतया भगवन्तं सर्वगत विदन् सर्वावस्थागतोऽपि न लिप्यते ॥३२॥

जो इस उक्त रीति से ज्ञान में दृढ हुआ हो वह तो निश्चय रूप से, पूर्णतया भगवान् को सर्वव्यापक जानता हुआ, सभी व्यवहार को करते हुए भी निर्लिप्त ही बना रहता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३३॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!		समम्	= सम-भाव से
यः	= जो योगी		पश्यति	= देखता है
आत्म-औपम्येन	= अपने समान ही		सः	= वह
सर्वत्र	= सभी प्राणियों में		परमः	= श्रेष्ठ
सुखम् वा	= सुख		योगी	= योगी
यदि वा	= अथवा दुःख		मतः	= माना जाता है।

सर्वस्य च सुखदुखे आत्मतुल्यतया पश्यति, इति स्वरूपमेतदनूदितम् न पुनरेषोऽपूर्वो विधिः ॥३३॥

(वह योगी) सभी प्राणियों के सुख-दुःख को अपना सुखदुःख जैसा देखता है। इस भांति योगी का यह स्वभाव ही वर्णित किया गया है। इसमें कोई न्यारी बात नहीं।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं पराम्[1] ॥३४॥

अर्जुन बोले

मधुसूदन	= हे मधु राक्षस को मारने वाले कृष्ण !	अहम्	= मैं
		एतस्य	= इस (योग) की
यः	= जो	पराम्	= उच्च
अयम्	= यह	स्थितिम्	= स्थिति को
योगः	= (ध्यान) योग	चंचलत्वात्	= मन के चंचल होने से
त्वया	= आप ने	न	= नहीं
साम्येन	= साम्य के रूप में	पश्यामि	= देख पाता हूं।
प्रोक्तः	= कहा है		

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३५॥

कृष्ण	= हे कृष्ण !	तस्य	= उसको
मनः	= मन	निग्रहम्	= काबू में करना
हि	= तो	अहम्	= मैं तो
चंचलम्	= चंचल है,	वायोः	= वायु की
प्रमाथि	= मथने वाला है	इव	= भांति
बलवद्	= बलवान (तथा)	सुदुष्करम्	= कठिन
दृढम्	= अपनी मनमानी करने पर डटा है	मन्ये	= मानता हूं।

योऽयमिति—परोक्षप्रत्यक्षवाचकाभ्यामेवं सूच्यते । भगवदभिहितानन्तरोपायपरम्परया स्फुटमपि—प्रत्यक्षनिर्दिष्टमपि ब्रह्म, मनसश्चाञ्चल्यदौरात्म्यात्सुदूरे वर्तते, इति परोक्षप्रमाणम् । प्रमथ्नाति दृष्टादृष्टे । बलवद्—शक्तम् । दृढं—दुष्टव्यापारात् वारयितुमशक्यम् ॥३५॥

(चौंतीसवें श्लोक में जो कहा है) 'जो यह'—इन परोक्षवाचक तथा प्रत्यक्षवाचक दो शब्दों से (अर्जुन) यह सूचित करते हैं कि भगवान् के द्वारा कहे गये अनन्त उपायों से

१, स्थिरामिति ग० पाठः

यदि यह ब्रह्म, प्रत्यक्ष रूप से अनुभव में आया हुआ भी है किन्तु मन की चंचल पामरता के कारण बहुत ही दूर है। अत: उस ब्रह्म का स्वरूप परोक्ष सा प्रतीत होता है। ये मन (स्वरूप-लाभ के) प्रत्यक्ष फल को और विदेह मुक्त रूप अदृष्ट (परोक्ष) फल को नष्ट कर देता है। ऐसा करने में यह पूर्ण रूप में समर्थ है। दृढ भी है क्योंकि दुष्ट व्यापार करने से इसे हटाया नहीं जा सकता।

अत्रोत्तरं—

इसका उत्तर (भगवान्) देते हैं -

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३६॥

भगवान् बोले

महाबाहो	= हे अर्जुन !	**कौन्तेय**	= हे कुन्ती पुत्र अर्जुन !
असंशयम्	= निःसन्देह	**अभ्यासेन**	= (यह तो) अभ्यास से
मनः	= मन,	**तु**	= और
चंचलम्	= चंचल (और)	**वैराग्येण च**	= वैराग्य से ही
दुः निग्रहम्	= कठिनता से वश में होने वाला है।	**गृह्यते**	= वश में किया जाता है।

वैराग्येण विषयोत्सुकता विनाश्यते। अभ्यासेन मोक्षपक्षः क्रमात्क्रमं विषयीक्रियते इति द्वयोरुपादानम्। उक्तं च तत्र भवता भाष्यकृता

'उभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' (यो० द० १, १२)

इति।

वैराग्य से विषयों के प्रति चाव नष्ट होता है। अभ्यास से मोक्ष-पक्ष क्रम-पूर्वक (धीरे-धीरे) ग्रहण किया जाता है। अत: दोनों (उपाय) ग्रहण करने योग्य हैं। आदरणीय भाष्यकार पतंजलि ने भी कहा है—

मन का निरोध तो (अभ्यास और वैराग्य) दोनों के अधीन है।

असंयतात्मनो योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः[1] ॥३७॥

---

१. ल्यब्लोपे पञ्चमी

असंयतात्मना = मन को वश में न करने वाले साधक से तो
योगः = योग
दुष्प्रापः = (सिद्ध होना) कठिन है (किन्तु)
वश्यात्मना = स्वाधीन मन वाले
यतता = यत्नशील पुरुष से
तु = तो (यह योग)
उपायतः = साधना (करने से)
अवाप्तुम् = प्राप्त होना
शक्यः = संभव है
इति = ऐसा
मे = मैं
मति = समझता हूं।

अत एषा प्रतिज्ञा—असंयतात्मनः—अविरक्तस्य न कथंचिद्योगावाप्तिः। वश्यात्मनेति—वैराग्यवता। यतमानेनेति—साभ्यासेन। उपायान्—अनेकसिद्धान्तादिशास्त्रविहितान् संश्रित्य॥ ३७॥

अतः (भगवान् की) यह प्रतिज्ञा है कि मन को न रोकने वाले सरक्त व्यक्ति को किसी अंश में भी योग की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसने मन जीता है वह वैरागी है। यत्नवान् का तात्पर्य अभ्यासी से है। (वास्तव में) अनेक सैद्धान्तिक शास्त्रों आदि में कहे गए उपायों का आश्रय लेकर (अभ्यास करना चाहिए।)

अर्जुन उवाच

अयतः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
लिप्समानः सतां मार्गं प्रमूढो ब्राह्मणः पथि॥३८॥

अर्जुन बोले

श्रद्धया-उपेतः = श्रद्धा से युक्त होकर भी
अयतः = (अपने आपको) वश में न करने वाला (व्यक्ति)
योगात् = योग से
चलित मानसः = डिगे हुए मन वाला,
सताम्-मार्गम् = सन् मार्ग पर
लिप्समानः = चलने की चाहत रखते हुए भी
ब्रह्मणः = ईश्वर (परमार्थ) के
पथि = मार्ग में
प्रमूढो = लुढक जाता है।

अनेकचित्तो[1] विभ्रान्तो[2] मोहस्यैव वशं गतः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३९॥

---

१. प्रतिक्षणं चञ्चलत्वाद्बहुविधमनोवृत्तिः।
२. अविश्रान्त इति क० पाठः।

कृष्ण	= हे कृष्ण ! (यह तो बताइए कि जो व्यक्ति)	(सः)	= वह
विभ्रान्तः	= अनेक प्रकार के उलट-फेर में पड़ कर भटक जाता है।	काम	= किस
मोहस्य एव वशम गतः	= मोह के बस में आकर	गतिम	= गति को
योग-संसिद्धिम् अप्राप्य	= योग-साधन में असफल रह जाता है	गच्छति	= प्राप्त होता है ? (उसका आखिर बनता क्या है ?)

प्राप्ताद्योगात् यदि चलितेऽपि चित्ते श्रद्धा न हीयते, विनष्टश्रद्धो हि सिद्धयोगोऽपि सर्वं निष्फलं कुरुते। उक्तं हि

'यदा प्राप्यापि विज्ञानं दूषितं चित्तविभ्रमात्।
तदैव ध्वंसते शीघ्रं तूलराशिरिवानलात्' इति ॥३९॥

योग का सेवन करके भी यदि उस साधक का मन, चंचल होता है, तब भी उसकी (परमात्म-भावना पर) श्रद्धा कम नहीं होती। श्रद्धा के घटने पर तो सिद्ध योगी का भी सभी (परमार्थ) व्यर्थ हो जाता है। कहा भी है—

'विज्ञान (आत्म-साक्षात्कार) के प्राप्त होने पर भी मन की चंचलता से दूषित होने वाले का वह विज्ञान, वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे रूई का ढेर अग्नि में डालने से क्षण भर में भस्म हो जाता है।'

कच्चिन्नोभयविभ्रंशाच्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विनाशं वाधिगच्छति ॥४०॥

महाबाहो	= हे अर्जुन !	इव	= भांति
ब्रह्मणः	= ब्रह्म के	उभय-विभ्रंशात्	दोनों मार्गों से छूटा हुआ
पथि	= मार्ग में	कश्चित्	= कहीं
विमूढः	= लुढका हुआ (साधक)	न नश्यति	= नष्ट तो नहीं हो जाता।
अप्रतिष्ठः	= टिक न सकने के कारण		
छिन्न-अभ्रम्	= कटे हुए बादल के टुकड़े की		

१. पवनविशीर्णो जलदो यथा विनश्यति तद्वत्।

एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ।।४१।।

कृष्ण = हे कृष्ण !
मे = मेरे
एतत् = इस
संशयम् = संदेह को
अशेषत = पूर्ण रूप से
च्छेत्तुम् = काटने के लिए
(त्वमेव) = (आप ही)
अर्हसि = योग्य हैं
अस्य = इस
संशयस्य = सन्देह को
च्छेत्ता = मिटाने वाला
त्वद् = आपके
अन्यः = अतिरिक्त
नहि = कोई भी तो
उपपद्यते = नहीं हो सकता ।

योगस्य सम्यक् सिद्धावजातायां किं लोकान्निष्क्रान्तः सम्यक् च ब्रह्मणि न लीनः इति नश्येत; अथवा ब्रह्मण्यप्रतिष्ठत्वाद्विनश्यति परलोकबाधाय, इति प्रश्नः ।। ४१ ।।

योग की पूरी सिद्धि न होने पर कहीं ऐसा तो नहीं होता कि साधक लोक-व्यवहार से भी छूट जाए और ब्रह्म में भी लीन न हो पाए । कहीं का न रहे । या ब्रह्म में दृढ़ न हो जाने से कहीं वह अपने परलोक में भी बाधा तो नहीं डालता । ऐसा प्रश्न है ।

अत्र निर्णयं

इसका समाधान (यों) करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं जातु गच्छति ।।४२।।

भगवान् बोले

पार्थ = हे अर्जुन !
नैव = न तो
इह = यहां (इस लोक में और)
न = न
अमुत्र = परलोक में
तस्य = ऐसे साधक का
विनाशः = नाश
विद्यते = होता है । (क्योंकि)
कश्चिद् = कोई (भी)
कल्याण कृत = कल्याण को पाने के लिए साधना करने वाला (भक्त)
जातु = कभी
दुर्गतिम् = बुरी गति को
नहि = नही
गच्छति = पाता है ।

न तस्य योगभ्रष्टस्येह लोके परलोके वा नाशोऽस्ति अनष्टश्रद्धत्वादिति भावः । तस्य—लोकद्वयाविनाशिनः । स हि कल्याणं भगवन्मार्गलक्षणं कृतवान् । न च तदग्निष्टोमादिवत्क्षयि ॥ ४२ ॥

उस योग-भ्रष्ट की साधना का नाश न तो इस लोक में ही होता है और न परलोक में ही। क्योंकि भगवत् मार्ग के प्रति उसकी श्रद्धा कभी घटती नहीं (बनी ही रहती है) अतः उसके लोक-परलोक दोनों नष्ट नहीं होते। वह तो कल्याण अर्थात् भगवन्मार्ग पर चल पड़ा है और न वह मार्ग अग्निष्टोम आदि यज्ञों की भांति क्षणिक फलों को देता है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४३॥

योग-भ्रष्टः = योग-भ्रष्ट साधक,
पुण्य-कृताम् = पुण्यवानों के
लोकान् = उत्तम स्वर्ग आदि लोकों को
प्राप्य = प्राप्त करके
शाश्वतीः = विष्णु के तीन
समाः = वर्षों अर्थात् अनन्त काल तक (वहां)
उषित्वा = रह करके (फिर)
शुचीनाम् — पवित्र, अस्तिक
श्रीमताम् = श्रीमानों (धनवानों के)
गेहे = घर में
अभिजायते = जन्म लेता है।

शाश्वतस्य—विष्णोः समाः—वैष्णवानि त्रीणि वर्षाणि । शुचीनामिति—येषां भगवदंशस्पर्शि चित्तम् ॥ ४३ ॥

शाश्वत—विष्णु के तीन वर्षों तक वह योगी, स्वर्ग में रहता है। शुचीनाम् —उन व्यक्तियों के घर में जन्म लेता है जिनके चित्त को शिवत्व छू गया है।

अथवा योगिनामेव जायते धीमतां कुले ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४४॥

अथवा	= या	ईदृशाम्	= इस प्रकार का
धीमताम्	= ज्ञानवान्	यत्	= जो
योगिनाम्	= योगियों के	एतत्	= यह
एव	= ही	जन्म	= जन्म है (ऐसा मिलना)
कुले	= कुल में	लोके	= संसार में
जायते	= उत्पन्न होता है (किन्तु)	हि	= निःसन्देह
		दुर्लभतरम्	= अति कठिन है।

यदि तु तारतम्येनास्यापवर्गेण भवितव्यं तदा योगिकुल एव जायते। अत एवाह— 'एतद्धि दुर्लभतरं'—इति। श्रीमतां गेहे किलावश्यमेव विघ्नाः सन्ति संसिद्धौ मोक्षात्मिकायाम् ॥ ४४ ॥

अब यदि इसे निर्विघ्न रूप से मोक्ष की प्राप्ति होनी हो, तब तो यह, योगि-कुल में ही जन्म लेता है। इसी लिए तो कहा है—'ऐसा जन्म मिलना अति कठिन है।' धनवान् घर में जन्म लेने से अवश्य ही विघ्न आ उपस्थित होते हैं और वह मोक्ष रूप सिद्धि में (बाधक) बनते हैं।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
ततो भूयोऽपि यतते संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४५॥

कुरु-नन्दन	= हे अर्जुन !	लभते	= (स्वयं) प्राप्त करता है।
तत्र	= वहां (दरिद्र योगि-कुल में) जन्म लेकर	ततो	= इसके साथ ही
तम्	= उस	भूयः अपि	= फिर पुनः
पौर्व-देहिकम्	= पूर्व शरीर में (कमाए) साधन किए हुए	संसिद्धौ	= सिद्धि की प्राप्ति के लिए
बुद्धि-संयोगम्	= समत्व-बुद्धि-योग को	यतते	= यत्न करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सन् ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४६॥

(सः)	= वह योग-भ्रष्ट, जो धनवान् घर में जन्म लेता है।	सन्	= होकर
		अपि	= भी
अवशः	= (विषयों के वश में) बेबस बना हुआ	पूर्व-अभ्यासेन	= पिछले (जन्म में किए गए) अभ्यास से
		एव	= ही
		हि	= निःसन्देह

ह्रियते	=	(परमार्थ की ओर) ले जाया जाता है। (तथा)	जिज्ञासुः	=	चाहने वाला
योगस्य	=	समत्व-बुद्धि रूप योग का	अपि	=	भी
			शब्द-ब्रह्म	=	मन्त्र-स्वाध्याय आदि चर्या पूजा को
			अति-वर्तते	=	पार कर जाता है।

अवशः—परतन्त्र एव किल तेन—पूर्वाभ्यासेन बलादेव योगाभ्यासं प्रति नीयते। न चैतत् सामान्यं, योगजिज्ञासामात्रेणैव हि शब्दब्रह्मातिवृत्तिः, मन्त्रस्वाध्यायादिरूपं च शब्दब्रह्म अतिवर्ततेन स्वीकुरुते ॥ ४६ ॥

अवश होकर—अपना बस न चलने के कारण परतन्त्र बना हुआ वह पिछले जन्मों में किए गए अभ्यास के फलस्वरूप बरबस योग-अभ्यास के प्रति लिजाया जाता है। ऐसा होना मामूली बात नहीं, योग की केवल मात्र जिज्ञासा रखने वाला भी शब्द-ब्रह्म, मन्त्र-स्वाध्याय आदि चर्या से आगे निकल जाता है। इसे स्वीकार नहीं करता।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४७॥

अनेक-जन्म संसिद्धः	=	(तब फिर) अनेक जन्मों से सिद्धि को प्राप्त हुआ	योगी	=	योगी
प्रयत्नात्	=	भरसक प्रयत्न से,	ततः तु	=	उससे भी
संशुद्ध-किल्विषः	=	सभी पापों से, शुद्ध (छूटा) हुआ	पराम्	=	आगे की (मोक्ष रूप)
यतमानः	=	यत्न-अभ्यास करने वाला	गतिम्	=	गति, अवस्था को
			याति	—	प्राप्त करता है।

ततो—जिज्ञासानन्तरम् यत्नवान्—अभ्यासक्रमेण देहान्ते वासुदेवत्वं प्राप्नोति। न चासौ तेनैव देहेन सिद्ध इति मन्तव्यम्; अपितु बहूनि जन्मानि तेन तदभ्यस्तमिति मन्तव्यम्। अत एव यस्यानन्यव्यापारतया भगवद्व्यापारानुरागित्वं स योगभ्रष्ट इति निश्चेयम् ॥ ४७ ॥

उसके बाद—अर्थात् योग सम्बन्धी जिज्ञासा के अनन्तर यत्न-पूर्वक अभ्यास करने से देह के छूटने पर वासुदेव भगवान् की (मोक्षात्मक) स्थिति को प्राप्त करता है। इस

१. परमात्मसमापत्तिलक्षणां प्रकृष्टां भूमिं प्राप्नोति।

योगी को उपयुक्त योग-अभ्यास से प्राप्त सिद्धि, उसी एक देह के द्वारा प्राप्त नहीं हुई होती है, अपितु अनेक जन्मों में अभ्यास करने से वह (मोक्षात्मक सिद्धि) प्राप्त हुइ होती है। यह तो मानी हुई बात है। अतः वही योग-भ्रष्ट (योगी) है, जिसे भगवान् में इस प्रकार निरन्तर राग हो कि अन्य कोई कार्य उसे, उस प्रकार प्रिय न प्रतीत हो। ऐसा समझना चाहिए।

योगस्य प्राधान्यमाह—

योग की विशेषता (अगले श्लोक में) कहते हैं—

तपस्विभ्योधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४८॥

योगी	= (ऐसा) ज्ञानी	**अधिकः**	= श्रेष्ठ
तपस्विभ्यः	= तपस्वियों से	**योगी**	= (यह) योगी है।
अधिकः	= उत्तम है।	**तस्मात्**	= अतः
ज्ञानिभ्यः	= पंडितों से	**अर्जुन**	= हे अर्जुन ! (तुम भी)
अपि	= भी	**योगी**	= योगी (ही)
अधिकः	= श्रेष्ठ	**भव**	= बनो।
मतः	= माना गया है। (तथा)		
कर्मिभ्यः	= सकाम-कर्म करने वालों से		
च	= भी		

तपस्विभ्योऽधिकत्वं पूर्वमेव सूचितम्। ज्ञानिभ्योऽधिकत्वं-ज्ञानस्य योगफलत्वात्। कर्मिभ्य उत्कर्षः—स एव कर्माणि कर्तुं वेत्ति ॥ ४८ ॥

तपस्वियों से, योगी की श्रेष्ठता तो पूर्व-प्रसंगों में ही कही गई है। योगी तो ज्ञानी से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि योग का फल ज्ञान है, अतः योग की ही प्रधानता है। कर्म-योगी से (भी) समत्व में ठहरा हुआ योगी ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वही, कर्मों को सम्यक् रूप से करना जानता है।

न च निरीश्वरं कष्टयोगमात्रं संसिद्धिदमित्युच्यते—

निरीश्वरभाव—ईश्वर पर श्रद्धा न रखकर योग की साधना करना केवल मात्र आयास-प्रद है, सिद्धि-प्रद नहीं है—यही कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४९॥

---

१. नित्यनिरुत्तरानन्दमयसमाधिमानित्यर्थः।

सर्वेषाम्	= सभी	माम्	= मुझे
योगिनाम	= योगियों में	भजते	— भजता है
अपि	= भी	सः	= वह (योगी)
यः	= जो	मे	= मुझे
श्रद्धावान्	= श्रद्धा से युक्त (योगी)	युक्त-तमः	= अत्याधिक(परम-श्रेष्ठ)
मत्-गतेन	= मुझ में लगे हुए	मतः	= मान्य है।
अन्तर्-आत्मना	= मन वाला होकर		

सर्वयोगिमध्ये य एव मामन्तः करणे निवेश्य भक्तिश्रद्धा—तत्परो गुरुचरणसेवालब्ध-संप्रदायक्रमेण मामेव—नान्यत भजते—विमृशते स युक्ततमः—परमेश्वरसमाविष्टः; इति सेश्वरस्य ज्ञानस्य सर्वप्राधान्यमुक्तमिति शिवम् ॥ ४९ ॥

सभी योगियों में जो इस रीति से मुझे (अपने) अन्तःकरणों में बिठा कर भक्ति और श्रद्धा से, गुरु-चरणों की सेवा से प्राप्त, गुरु-संप्रदाय क्रम से मेरा ही भजन करता है, अन्य किसी देवता का ध्यान नहीं करता—मेरा ही विमर्श करता है। वह तो युक्ततम है—परमेश्वर में ही तल्लीन बना है। अतः ईश्वर पर पूर्ण आस्था रखकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाए उस ज्ञान की ही सब में प्रधानता बतलाई है। इति शिवम्

अत्र संग्रहश्लोक

भगवन्नामसंप्राप्तिमात्रात्सर्वमवाप्यते ।
फलिताः शालयः सम्यग्वृष्टिमात्रेऽवलोकिते ॥६॥

सार-श्लोक

भगवान् का नाम लेने मात्र से ही सभी कार्य वैसे ही (स्वतः) सिद्ध हो जाते हैं जैसे धान की बालियां मेंह बरसते ही परिपक्व हो जाती हैं।

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (आत्मसंयम योगो नाम) षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमहामाहेश्वर आचार्यवर्य राजानक अभिनवगुप्तपाद रचित गीतार्थ-संग्रह का (आत्म-संयम योग नाम का) छठा अध्याय समाप्त हुआ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रितः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

भगवान् बोले

पार्थ = हे अर्जुन !		**यथा** = जैसे (तुम)	
मयि = मुझ में		**समग्रम्** = पूरी तरह	
आसक्त-मनाः = लगे हुए मन वाला		**ज्ञास्यसि** = जानोगे	
मद् आश्रितः = मेरी शरण में आया हुआ		**तत्** = उस को	
योगम् = योग में जुटा हुआ,		**असंशयम्** = संशय-रहित बन कर	
माम् = मुझ को		**शृणु** = सुनो।	

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा न पुनः किंचिज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

अहम् = मैं	**यत्** = जिस को
ते = तुम्हें	**ज्ञात्वा** = जान कर
इदम् = इस	**इह** = इस संसार में
सविज्ञानम् = विज्ञान-सहित	**भूयः** = फिर
ज्ञानम् = तत्त्व-ज्ञान को	**अन्यत्** = कुछ भी
अशेषतः = भली-भांति	**ज्ञातव्यम्** = जानना
वक्ष्यामि = कहूंगा	**न अवशिष्यते** = शेष नहीं रहता।

ज्ञानविज्ञाने ज्ञानक्रिये एव। ततो न किंचिदवशिष्यते; —सर्वस्य ज्ञेयस्य ज्ञानक्रिया-निष्ठत्वात् ॥ २ ॥

ज्ञान—विज्ञान से तात्पर्य ज्ञान और क्रिया ही है। इन्हें जान लेने के बाद तो कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है, क्योंकि सभी ज्ञातव्य विषय तो ज्ञान-क्रिया में ही टिका हुआ है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

सहस्रेषु	= हजारों	सिद्धानाम्	= योगियों में
मनुष्याणाम्	= मनुष्यों में	अपि	= भी
कश्चित्	= कोई ही विरला (भक्त)	कश्चित्	= कोई ही (विरला) साधक
सिद्धये	= मुझे मिलने के लिए	माम्	= मुझे
यतति	= यत्न करता हैं (और)	तत्त्वतः	= वास्तविक रूप में
यतताम्	= (उन) यत्न करने वाले	वेत्ति	= जानता है—मेरा साक्षात्-कार करता है ।

अस्य च वस्तुनः सर्वो न योग्यः । इत्यनेन दुर्लभत्वात् यत्नसेव्यतामाह ॥ ३ ॥

किन्तु इस (पारमार्थिक) वस्तु को प्राप्त करने के लिए सभी पात्र नहीं होते । इस प्रकार दुर्लभ होने के कारण ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने को कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

भूमिः	= पृथिवी	एव च	= और
आपः	= जल,	अहंकारः	= अहंकार
अनलः	= अग्नि,	इति	= इस प्रकार
वायुः	= वायु,	इयम्	= यह
खम्	= आकाश,	अष्टधा	= आठ
मनः	= मन,	भिन्ना	= भेदों में व्यक्त
बुद्धिः	= बुद्धि	मे	= मेरी
		प्रकृतिः	= प्रकृति है ।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

यदुक्तं—

"पूजकाः शतशः सन्ति भक्ताः सन्ति सहस्रशः ।
प्रसादपात्रमाश्वस्तः प्रभोर्द्वित्रा न पञ्चषाः" इति ।

महाबाहो = हे अर्जुन !
इयम् = यह (आठ प्रकार के भेदों वाली)
अपरा = अपरा—जड़ प्रकृति (ठहरी)
इतः = इस प्रकृति से
तु = तो
अन्याम् = भिन्न दूसरी
मे = मेरी
जीवभूताम् = जीव रूप परा अर्थात् चेतन
प्रकृतिम् = प्रकृति को
विद्धि = जान लो,
यया = जिससे
इदम् = यह (समूचा)
जगत् = जगत्
धार्यते = धारण किया जाता है ।

इयमिति—प्रत्यक्षेण या संसारावस्थायां सर्वजनपरिदृश्यमाना । सा चैकैव सती प्रकाराष्टकेन भिद्यते इति एकप्रकृत्यारब्धत्वादेकमेव विश्वमिति प्रकृतिवादेऽप्यद्वैतं प्रदर्शितम् । सैव जीवत्वं —पुरुषत्वं प्राप्ता परा ममैव नान्यस्य च । सोभयरूपा वेद्यवेदकात्मक प्रपञ्चोपरचनविचित्रा । तत एव स्वात्मविमलमुकुरतल कलितसकलभावभूमिः स्वस्वभावात्मिका सततमव्यभिचारिणीप्रकृतिः । इदं जगत्—भूम्यादि ॥ ५ ॥

यह प्रकृति—जिसे संसार दशा में सभी लोग प्रत्यक्ष देखते हैं । वह एक होकर भी आठ प्रकार से विभक्त हुई है । एक प्रकृति से बना होने के कारण विश्व भी एक ही है । इस प्रकार प्रकृतिवाद में भी अद्वैत सिद्ध है । वही प्रकृति, जीवभाव अर्थात् पुरुषत्व को प्राप्त हुई परा-प्रकृति मेरी ही है और किसी की नहीं । वह प्रकृति दोनों रूपों वाली वेद्य और वेदक (ज्ञेय और ज्ञाता) स्वरूप जगत् को बनाने के कारण, विचित्रता को प्राप्त होती है । इसी कारण वह प्रकृति, स्वात्म रूपी निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए सभी भावों की भूमि है, अपने आप में परिपूर्ण तथा नित्य निर्विकार है । इस प्रकार भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश आदि तत्वों से बना हुआ—यह जगत् है ।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

सर्वाणि = सभी
भूतानि = प्राणि-वर्ग
एतत्-यौनीनि = इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होते हैं,
इति = ऐसा (तुम)
उपधारय = समझ लो
अहम् = मैं (ही वह हूं जिसमें से)
कृत्स्नस्य = सारा
जगतः = जगत्
प्रभवः = उभरता है
तथा = और
प्रलयः = (जिसमें) लीन होता है ।

उपधारय—अभ्यासाहितानुभवक्रमेणात्मसमीपे कुरु। एवं च त्वमेवोपधारय—यदहं वासुदेवीभूतः सर्वस्य प्रभवः प्रलयश्च। अहम्—इत्यनेन प्रकृतिपुरुषोत्तमेभ्योऽव्यतिरिक्तोऽपीश्वरः सर्वथा सर्वानुगतत्वेन स्थित इति सांख्ययोगयोर्नास्ति भेदवादः इति प्रदर्शितम् ॥ ६ ॥

उपधारण करो—अभ्यास से प्राप्त किए हुए अनुभव से तुम स्वयं अपने में ही ऐसा निश्चय करो। इसी भांति समझाकर यह निश्चय करो कि वासुदेव बन कर मैं ही वह हूं जो सबों का उत्पत्ति कर्त्ता तथा संहार करने वाला हूं। 'अहं' पद यह सूचित करता है कि ईश्वर यद्यपि प्रकृति पुरुष और पुरुषोत्तम से भिन्न भी है तथापि पूर्ण रूप से इन सभी जगत् संबन्धी वस्तुओं में व्याप्त हुआ ठहरा है। अतः साँख्य और योग में कोई भी भेद नहीं है—यह बात दर्शाई गई है।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मनिगणा इव ॥७॥

धनंजय	= हे अर्जुन !	सर्वम्	= सभी (जगत्)
मत्तः	= मेरे	सूत्रे	= धागे में (पिरोये गए)
परतरम्	= अतिरिक्त (उत्कृष्ट)	मणि-गणाः	= मनकों की
किंचित्	= कोई भी	इव	= भांति
अन्यत्	= दूसरी (सत्ता)	मयि	= मुझी में
न	= नहीं	प्रोतम्	= गुथा हुआ है।
अस्ति	= है।		
इदम्	= यह		

सूत्रे मणिगणा इव—यथा तन्तुरनवध्रियमाणरूपोऽप्यन्तर्लीनतया स्थितः; एवमहं सर्वत्र ॥ ७ ॥

'सूत्र में रत्नों की भांति सभी जगत् मुझ में ही पिरोया गया है'—इस का तात्पर्य यह है कि जैसे मणिमाला का धागा (बाहर से) देखने में न आने पर भी भीतर ही भीतर स्थित है, इसी प्रकार मैं, सभी जगत् में, व्यापक रूप से ठहरा हुआ हूं।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रकाशः शशि सूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषुः ॥८॥

कौन्तेय	= हे अर्जुन !	शशि सूर्ययोः	= चन्द्रमा (और) सूर्य में
अहम्	= मैं		
अप्सु	= जल में		
रसः	= रस (तरावट) हूं।	प्रकाशः	= प्रकाश

सर्व-वेदेषु	= सभी वेदों में		नृषु	= पुरुषों में
प्रणव	= ओंकार		पौरुषम्	= पुरुषत्व
खे	= आकाश में		(अस्मि)	= हूं।
शब्द	= शब्द (और)			

अप्स्विति—सर्वत्रास्वाद्यमानो योऽनुद्भिन्नमधुरादिविभागः सामान्यः सोऽहम्। एवं प्रकाशः—मृदुत्वचण्डत्वादिरहितः। खे आकाशे यः शब्दः इति सर्वस्यैव शब्दस्य नभोगुणत्वादत्रावधारणम् य केवलं गगनगुणतया ध्वनिः संयोगविभागादिसामग्र्यन्तररहितोऽवहितहृदयैर्ब्रह्मगुहागहनगामी योगिगणैः संवेद्योऽनाहताख्यः सकलश्रुतिग्रामानुगामी, तद्भगवतस्तत्त्वम्। पौरुषं—येन तेजसा पुरुषोऽहमिति सार्वभौमं प्रतिपद्यते ॥८॥

जल में (मैं रस हूँ।)—सभी पदार्थों में आस्वाद किया जा रहा जो मधुर आदि रसों के विभाग से रहित सामान्य रस है, वह मैं हूं। इसी भांति कोमलता और प्रचण्डता के स्वभाव से रहित जो केवल मात्र प्रकाश है वह मैं हूं। खे—आकाश में जो शब्द, आकाश का गुण अर्थात् धर्म है, उसी शब्द की ओर यहां संकेत है—ऐसा जानना चाहिए। भाव यह है कि जो केवल आकाश का गुण बना हुआ, संयोग-विभाग आदि अन्य सामग्रियों की अपेक्षा से रहित ब्रह्म रूप गुहा में ठहरा हुआ, सभी श्रवणेन्द्रिय (आदि) इन्द्रियों में अनुगत अनाहत नाम वाला शब्द, सजग योगियों से जाना जाता है, वही शब्द वास्तव में भगवान् का स्वरूप है। पौरुष उस प्रकाश की शक्ति को कहते हैं, जिस तेज के आधार पर पुरुष अपने आप को सार्वभौम समझ लेता है। (पूरे विश्व में अपनी सत्ता का अनुभव करता है।)

पुण्यः पृथिव्यां गन्धोऽस्मि तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पृथिव्याम्	= पृथिवी में		जीवनम्	= जीवन हूं
पुण्यः	= पवित्र (सामान्य)		च	= और
गन्धः	= गन्ध		तपस्विषु	= तपस्वियों में
अस्मि	= मैं ही हूं		तपः	= तप
विभावसौ च	= और अग्नि में			(मैं ही)
तेजः	= तेज		अस्मि	= हूं।
अस्मि	= मैं हूं			
सर्वभूतेषु	= सभी प्राणियों में			

यो धरायां केवलधर्मतया गन्धगुणः स स्वभाव पुण्यः, पूत्युत्कटादीनि तु भूतान्तरसंबन्धात्। उक्तं च

दृढं भूमिगुणाधिक्याद्दुर्गन्ध्यग्निगुणोदयात् ।
जडमब्बुगुणौदार्यात्.........॥'

इत्यादि ॥९॥

पृथिवी में जो गन्ध, उस पृथ्वी का धर्म ही बना हुआ गन्ध का स्वाभाविक गुण है, वह स्वभाव से ही पवित्र है। दुर्गन्धि तथा सुगन्धि तो वास्तव में अन्य महाभूतों के संबन्ध से ही होती है। कहा भी है—

'पृथ्वी का अंश अधिक होने से सुगन्धि की उत्पत्ति होती है, अग्नि का अंश अधिक होने से दुर्गन्धि उत्पन्न होती है। जड़ गन्ध अर्थात् दुर्गन्धि और सुगन्धि से रहित सामान्य गन्ध मात्र का होना जल के अंश की अधिकता से होता है। इत्यादि ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

पार्थ	= हे अर्जुन !	अहं	= मैं
सर्व-भूतानाम्	= सभी जीवों का	बुद्धिमताम्	= बुद्धिमानों की
		बुद्धिः	= बुद्धि (और)
सनातनम्	= सूक्ष्म	तेजस्विनाम्	= तेजस्वियों का
बीजं	= कारण		
मां	= मुझे (ही)	तेजः	= तेज
विद्धि	= जानो।	अस्मि	= हूं।

बलं बलवतामस्मि कामराग विवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

भरत-ऋषभ	= हे भरत वंश में श्रेष्ठ अर्जुन !	(च)	= और
		भूतेषु	= सभी जीवों में
बलवताम्	= बलवानों का,		
काम-राग विवर्जितम्	= कामनाओं से रहित	धर्म-अविरुद्धः	= धर्म के अनुकूल
बलम्	= ओज,	कामः	= कामदेव (भी)
अहम्	= मैं (ही)		
अस्मि	= हूं	अस्मि	= (मैं ही) हूं।

बीजं—सूक्ष्मादिकारणम् । कामरागविवर्जितं बलं—सकल-वस्तुधारणसमर्थमर्जोरूपम् । कामः—इच्छा संविन्मात्ररूपा यस्या घटपटादिभिधर्मरूपैर्नास्ति विरोधः । इच्छा हि सर्वत्र भगवच्छक्ति तयानुयायिनी न क्वचिद्विरुध्यते, धर्मैस्तु—आगन्तुकैर्घटपटादिभिर्भिद्यते, इति तदुपासकतया शुद्धसंवित्स्वभावत्वं ज्ञानिनः । उक्तं च शिवोपनिषदि—

'इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ।'[1] (वि० भै०, ९७) इति । नव जात एव; बाह्यप्रसृते इत्यर्थः । एवं व्याख्यानं त्यक्त्वा ये 'परस्परानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत'—इत्याशयेन व्याचक्षते, ते संप्रदायक्रममजानाना भगवद्रहस्यं च व्याचक्षाणा नमस्कार्या एव ॥ ११ ॥

इस जगत् का जो सूक्ष्म आदिकारण है उसे बीज कहते हैं। काम और राग से रहित बल, मैं हूं—सभी वस्तुओं को धारण करने वाला ऊर्ज रूप सामर्थ्य हूं। काम-ज्ञान रूप इच्छा, जिसको घट, पट आदि वस्तुओं के आकृति रूप धर्म से कोई विरोध नहीं है।

(भगवान् की इच्छा शक्ति में तो घट की आकृति और वस्त्र की आकृति में कोई भी अन्तर नहीं होता। इसी को प्रथमाभास कहते हैं।) वास्तव में संविद्रूप इच्छा ही भगवान् की इच्छा का रूप होने से सभी जगत् के पदार्थों में सामान्य रूप से अनुगत है—व्यापक है। अतः इसकी अव्यापकता कदापि सिद्ध नहीं होती। केवल आगन्तुक घट, पट आदि धर्मों से ये वस्तुएं परस्पर भेद दशा को प्राप्त होती हैं। अतः ऐसी उपासना करने के फल-स्वरूप ज्ञानी, शुद्ध संवित्-स्वभाव से युक्त बनते हैं। शिवोपनिषद में भी कहा है—

(किसी भी पदार्थ की प्राथमिक) 'इच्छा या ज्ञान के प्रसर पर ही मन को एकाग्र करना चाहिए।' ऊपर के आधे श्लोक में 'जाते' का अर्थ आद्य कोटि से ही है बाह्य प्रसर अर्थात् पदार्थ के पूर्ण रूप से दिखाई देने पर प्राथमिक आलोचन का अभ्यास सिद्ध नहीं होता। यह तात्पर्य है। (बात तो यूं है—किसी वस्तु को जानने की प्राथमिक निर्विकल्प-अवस्था में ही चित्त को एकाग्र करना चाहिए क्योंकि वस्तु को विकल्पों द्वारा जान लेने पर मन को एकाग्र करने का कोई भी लाभ नहीं है। इस प्रकार के व्याख्यान को एक ओर रख कर (धर्माविरुद्धो भूतेषु) का अर्थ करते हुए जो यह कहते हैं—परस्पर हानि न पहुंचाने वाले 'धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गों का पालन करें' (इस प्रकार काम का अर्थ निर्विकल्प इच्छा न लेकर सामान्य विषय-सम्बन्धी कामनाओं का अर्थ लेते हैं) वे एक ओर तो गुरु-जनों के संप्रदाय-क्रम को नहीं जानते हैं (और दूसरी ओर व्यर्थ ही) भगवान् के रहस्य की व्याख्या करने लग जाते हैं। ऐसे जन तो नमस्कार के योग्य ही हैं। (वे वास्तव में कुछ नहीं जानते।)

---

१. इच्छायां जातमात्रायाम्, अथवा ज्ञाने जातमात्रे, सति, विषय-संकल्पं विहाय आत्मनि चित्तं निक्षिपेदित्यर्थः।

येॱ चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

ये च एव	=	और जो भी
सात्त्विकाः	=	सत्तोगुण से उत्पन्न होने वाले
भावाः	=	भाव हैं,
ये च	=	और जो
राजसाः	=	रजोगुण से,
तामसाः	=	तमोगुण से (उत्पन्न होने वाले भाव हैं)
तान्	=	उन सबको (तुम)
मत्तः	=	मुझसे
एव	=	ही (उत्पन्न हुआ)
इति	=	ऐसा
विद्धि	=	जान लो
तु	=	किन्तु
अहम्	=	मैं
तु	=	तो
न	=	(उन पर आश्रित) नहीं हूं
ते	=	वे
मयि	=	मुझ पर आश्रित हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

---

१. 'ये चैव सात्त्विका भावाः'—इत्यनेन सर्वमिदं वेद्यरूपं वेदकरूपं च प्रकाशतदभाव-तदुभयसंवलनामयेतया विचित्रमहमिति शुद्धस्वभावादेव संवेदनात्प्रसृतमित्यभिधाय, प्रसरस्य भेदावभासप्राधान्यादहंप्रकाशस्य च भिन्नस्वरूपदेशकालोत्तरत्वात् तत्र प्रसरे रूढो मयि न रूढो भवति; प्रसरस्य हि मद्रूपताच्छादनभाग एव प्राणः। मयि तु रूढिं विना ते न किंचन स्युरप्रकाशत्वापत्तेः, न तु तैर्विना स्वतन्त्राहंप्रकाशस्य खण्डना काचित्। संसारमोक्षाभिप्रायेणैव च सर्वब्रह्मणोः किं विधेयं, किमनुवदितव्य-मिति विचारयितव्यम्। तत्र यद्यपि पूर्वसिद्धं ब्रह्म तदनूद्यापूर्वत्वेन सर्वं त्वस्य वेद्यवेदकरूपं विधेयं ब्रह्मैव सर्वं भवति नान्यत्किंचन सर्वम्, ब्रह्म किल सर्वशक्ति इति विध्यनुवादौ, तथापि परस्योपदेश्यस्य ब्रह्म न किंचित्सिद्धम् येनानूद्यते। सर्वं त्वस्य वेद्यवेदकरूपं सिद्धमिति तदनूद्यास्य ब्रह्मतादात्म्यमुच्यते। यत्सर्वमिदं दृश्यते तस्यान्तस्तमां स्वरूपमनुप्रविश्य विचार्यमाणं प्रकाशपरामर्शरूपमेवावशिष्यते। तत उक्तं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म इति। तत एव सर्वभागस्य यदिदं दृश्यते नानारूपं तन्निषेधति 'नेह नानास्ति किंचन' इति। इह—दृश्यमाने सर्वशब्दस्य व्यपदेश्ये नाना—यत्प्रकाशेन सह न भवति—प्रकाशतादात्म्येन न वर्तते तत्किमपि रूपं नास्ति,—अप्रकाशमानस्य शपथैरप्यप्रत्येयत्वादित्यभिप्रायः। इति विवृतमाचार्य-पादैरेव विवृतिविमर्शिन्याम्।

गुण-मयै:	=	(सत्त्व, रज और तम) गुणों के कार्य रूप
एभि	=	इन
त्रिभि:	=	तीनों प्रकार के
भावै:	=	भावों से
इदम्	=	यह
सर्वम्	=	सभी
जगत्	=	संसार
मोहितम्	=	मोहित हो रहा है (अत:)
एभ्य:	=	इन तीनों गुणों से
परम्	=	उल्लंघित (परे)
माम्	=	मुझ
अव्ययम्	=	अविनाशी (परमात्मा) को
न	=	नहीं
अभिजानाति	=	जानता है।

सत्त्वादीनि मन्मयानि नत्वहं तन्मयः। अत एव च भगवन्मय: सर्वं भगवद्भावेन संवेदयते। ननु नानाविधपदार्थविज्ञाननिष्ठो भगवत्तत्त्वं प्रतिपद्यते, इति सकलमानसावर्जक एष क्रम:। अनेनैव चाशयेन वक्ष्यते 'वासुदेव: सर्वमिति' इति ज्ञानेन यो बहुजन्मोपभोगजनित-कर्मसमतासमनन्तरसमुत्पन्नपरशक्तिपातानुगृहीतान्त:करणोऽसौ प्रतिपद्यते भगवत्तत्त्वं 'सर्वं वासुदेव:'—इति बुद्ध्या, स महात्मा, स च दुर्लभ इति। एवं ह्यबुद्ध्यमानं प्रत्युत सत्त्वावि-भिर्गुणैर्मोहितमिदं जगत् गुणातीतं वासुदेवतत्त्वं नैवोपलभते ।। १३ ।।

सत्त्व (सत्ता या सत्तोगुण प्रधान) पदार्थ तो मुझ में ही ठहरे हैं। पर मैं उनमें नहीं हूँ। (मैं उनका आश्रय हूँ वे मेरे आश्रय नहीं है।) इसलिए भगवान् की विश्वमय भावना करने से सभी जगत् भगवान् का रूप ही प्रतीत होता है। किन्तु अनेक प्रकार के परिमित पदार्थों के विज्ञान में भगवान् का स्वरूप संनिविष्ट नहीं है। भाव यह है कि पदार्थ को भेद रूप से देखने पर तो भगवान् का स्वरूप स्वयं गौण हो जाता है। इस रीति से सभी व्यावहारिक व्यक्तिओं को यह अर्थ रोचक प्रतीत होता है। इसी भाव को लेकर आगे भी कहेंगे—'वासुदेव भगवान् ही सब कुछ है' इस ज्ञान के द्वारा, अनेक जन्मों में ईश्वर की आराधना करने के फलस्वरूप उत्पन्न बने हुए कर्म-साम्य के बाद ही प्राप्त हुए ईश्वर के शक्ति-पात से अनुगृहीत बने हुए अन्त:करणों वाला ही ईश्वर के स्वरूप को ऐसी बुद्धि से जानता है कि यह सभी जगत् वासुदेव का स्वरूप ही है। अत: ऐसी बुद्धि होने से वह महात्मा है और वह विरला ही है। (इसके उलट) इस उपर्युक्त रीति से न जानता हुआ, व्यक्ति सत्त्व आदि गुणों से मोहित बना हुआ यह जगत् गुणातीत वासुदेव के स्वरूप को जान नहीं पाता।

कथं खलु सत्त्वादिमात्रस्थिता भगवतस्तत्त्वं न विदु: ? इत्याह

यह तो बताइए कि सत्त्वादि गुणों में ठहरे हुए जन, क्यों कर भगवान् के स्वरूप को नहीं जानते ? यही कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।१४।।

एषा	=	यह	**ये**	=	जो (साधक)
दैवी	=	अलौकिक	**माम्**	=	मेरी
गुणमयी	=	तीन गुणों वाली	**एव**	=	ही
मम	=	मेरी	**प्रपद्यते**	=	शरण आते हैं
माया	=	माया	**ते**	=	वे ही
हि	=	तो	**मायाम्**	=	माया को
दुर्-अत्यया	=	दुस्तर है (कठिनाई से पार की जा सकती है ।)	**तरन्ति**	=	पार कर जाते हैं ।

देवः—क्रीडाकरः, तत्र भवा दैवी क्रीडा ममैयमित्यर्थः । तेन सत्त्वादीनां वस्तुतः संविन्मात्रपरब्रह्मानतिरिक्ततायामपि यत्तदतिरिक्तावगमनं तदेव गुणत्वं—भोक्तृतत्त्वपारतन्त्र्यं भोग्यत्वम् । तच्च भेदात्मकं रूपं संसारिभिरनिर्वाच्यतया, तान् प्रति मायारूपम् । अतो ये परमार्थब्रह्मप्रकाशविदस्ते तदनतिरिक्तं विश्वं पश्यन्तो गुणानां-सत्त्वादीनां गुणतालक्षणां भेदावभासस्वभावां मायामतितरन्तीति मामेव- इत्येवकारस्याशयः । ये तु यथास्थितं भेदावभासमात्रं विदुस्ते मायां नातिक्रामन्ति । तद्युक्तमुक्तं 'नत्वहं तेषु'— इति ।। १४ ।।

देव—क्रीडा करने वाला । उस देव से सम्बन्ध क्रीडा, दैवी कहलाती है—वह माया मेरी ही क्रीडा है । अतः सत्त्व आदि पदार्थ, वास्तव में संवित् परब्रह्म से अभिन्न होने पर भी उस संवित् से भिन्न हुए जैसे ठहरे हैं । उन पदार्थों का (भेद रूप में ठहरना ही तो उनका गुण है—भोक्ता के अधीन भोग्यता यही है । उसके भेदात्मक रूप को ही संसारियों ने 'अनिर्वचनीय' शब्द से कहा है । अतः उनके प्रति वह ईश्वर, माया रूप से ठहरा है । अब जो परमार्थ रूप ब्रह्म-प्रकाश के पारखी हैं वे उस जगत् को पर-ब्रह्म से अभिन्न ही देखते हैं तथा सत्त्व आदि गुणों के भेद को दिखाने वाली माया को पार कर जाते हैं । 'मामेव'—पद में यही एव शब्द का अर्थ है । अब जो अपने-अपने स्थान में ठहरे हुए पदार्थों को भेद रूप दृष्टि से ही जानते हैं वे माया को पार नहीं कर पाते । अतः ठीक ही कहा है कि मैं उन सत्त्व आदि भावों में नहीं हूं ।

---

१. अथ च । एषा—परिदृश्यमाना व्यवहार्या गुणमयी दैवी गुणत्रयात्मकविश्वरूपा क्रीडा ममैव माया स्वभावः—स्वरूपमस्तीत्यन्वयः, परन्तु दुरत्ययाभेदावभासप्राण-गुणत्रयरूपं चित्तत्त्वव्यतिरिक्तं जानतां प्रमातॄणामनुल्लङ्घ्या । ये मदनुग्रहभावितचित्ता एतां मायां मत्स्वभावभूतां गुणमयीं क्रीडां मामेव प्रपद्यन्ते—मामेव जानन्ति मत्स्वरूपादव्यतिरिक्तां पश्यन्ति; तेऽतितरन्ति, संसारादिति शेषः ।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

मायया = माया से
अपहृत-ज्ञानाः = हरन किए हुए ज्ञान वाले,
आसुरम् = आसुरी (राक्षसी)
भावम् = स्वभाव को
आश्रिताः = धारण करने वाले
नर-अधमाः = मनुष्यों में नीच

दुष्कृतिनः = पापी
मूढाः = मूढ (नास्तिक) लोग (तो)
माम् = मेरी
न प्रपद्यन्ते = शरण में नहीं आते हैं ।

ये च मां सत्यप्यधिकारिणी काये नाद्रियन्ते, ते दुष्कृतिनो नराधमाः, मूढाः—आसुरास्तामसाः । इति मायामहिमैवायम् ॥ १५ ॥

जो (जन) इस मोक्ष-प्राप्ति के अधिकारी बने हुए मनुष्य शरीर के होने पर भी मेरी ओर नहीं आते—(इसमें रहने वाले) मेरा आदर नहीं करते, वे पापी हैं, मनुष्यों में अधम हैं, मूर्ख, आसुरी और तामस स्वभाव वाले हैं । उनका ऐसा होना माया का ही प्रभाव है ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनः सदा ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

भरतर्षभ = हे अर्जुन !
मां = मुझे (तो)
सुकृतिनः = पुण्यवान्
चतुर्विधा = चार प्रकार के
जनाः = भक्त
सदा = सदा
भजन्ते = भजते रहते हैं ।

आर्तः = (एक तो) विपत्ति में पड़ा हुआ आर्त्त,
जिज्ञासुः = (दूसरा) कुछ सीखने की लालसा रखने वाला जिज्ञासु,
अर्थ-अर्थी = (तीसरा) धन ढूंढ़ने वाला धन का इच्छुक,
च = और
ज्ञानी = (चौथा) ज्ञानवान्

---

१. दुःखनिराकरणकारणतानिश्चयेन वा, सुखसंपत्तिहेतुतानिश्चयेन वा, तदुभयविषयार्थसंशयेन वा जिज्ञासाशब्दवाच्येन, तत्त्वज्ञाननान्तरीयकतया वा परमेश्वर विषयः प्रह्वीभावो जायते । तदाह चतुर्विधा इति । मामिति—अविच्छेदेन प्रकाशमानं परमात्मानं सोपाधि पूर्वे, चरमे निरूपाधि भजन्ते-सेवन्ते उत्कर्षयन्ति । तेन इभक्ताश्चतुर्विधास्तेषां मध्ये अन्त्यो नित्ययुक्तो—नित्यं 'मय्यावेश्य मनो ये माम्'—इत्युक्तेन समावेशयोगेन युक्तो नित्यं च भक्त्या युक्तः नत्वादित्रितयवत्फलप्राप्तौ विवर्तमानभक्तिः । तथा एकत्र परमेश्वरे एव भक्तिर्यस्य, नतु प्राधान्येनफले, स विशिष्टतरः ।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

तेषाम् = उनमें भी
नित्य-युक्तः = सदा मुझ में लगा हुआ
एक-भक्तिः = अनन्य प्रेम रखने वाला ज्ञानी (ही)
विशिष्यते = (सब में) श्रेष्ठ है ।
ज्ञानिनः = ज्ञानी को (तो)
हि = सत्यतः
अहम् = मैं
अति-अर्थम् = अत्यन्त
प्रियः = प्यारा हूं (और)
सः = वह (ज्ञानी)
च = भी
मम = मुझे
प्रियः = (बहुत ही) प्यारा है ।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः ।
आस्थितः सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

एते = ये
सर्वे = सभी
एव = ही
उदाराः = उदार हैं । (क्योंकि अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए मेरी ही उपासना करते हैं ।)
तु = किन्तु
ज्ञानी = ज्ञानी तो
मे = मेरा
आत्मा = आत्मा
एव = ही है।
मतः = (ऐसा मैंने) माना है । (क्योंकि)
सः = वह
युक्त-आत्मा = स्थिर-बुद्धि वाला (भक्त)
हि = तो
माम् = मुझ
एव = ही
अन-उत्तमाम् = अति उत्तम
गतिम् = गति-स्वरूप में
आस्थितः = आस्था-विश्वास रखता है ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

इति प्रकृष्टतां निरूप्य परमेश्वरावेशरूपतया समस्तसंपन्निमित्तीभावं संवादयति—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः'—इति ।
इति विवृतिविमर्शिन्यामाचार्यपादैर्विवृतम् ।

ज्ञानवान्	=	ज्ञानी	इति	=	ऐसा जानता हुआ
बहूनाम्	=	बहुत से	माम्	=	मेरी ही
जन्मनाम्	=	जन्मों के	प्रपद्यन्ते	=	शरण लेता है
अन्ते	=	बाद ही	सः	=	ऐसा
वासुदेवः	=	'वासुदेव ही	महात्मा	=	महात्मा (तो)
सर्वम्	=	सब कुछ है'	सुदुर्लभः	=	कोई ही होता है।

ये तु मां भजन्ते ते सुकृतिनः। ते च चत्वारः। सर्वे चैते उदाराः, यतोऽन्ये कृपणबुद्धयः, आर्तिनिवारणमर्थादि च तुल्यपाणिपादोदरशरीरसत्त्वेभ्योऽधिकतरं वा आत्मन्यूनेभ्यो मार्गयन्ते। ज्ञान्यपेक्षया तु न्यूनसत्त्वाः। यतस्तेषां तावत्यपि भेदोऽस्ति; 'भगवत इदमहमभिलष्यामि'—इति भेदस्य स्फुटप्रतिभासात्। ज्ञानी तु मामेवाभेदतयावलम्बते इति ततोऽहमभिन्न एव। तस्य चाहमेव प्रियो न तु फलम्। अत एव स 'वासुदेव एव सर्वम्'—इत्येवं दृढप्रतिपत्तिपवित्रकृतहृदयः ॥१६॥

अब जो ये मेरी उपासना करते हैं, वे पुण्यवान् हैं। वे चार प्रकार के हैं। ये सभी उदार प्रकृति के हैं, क्योंकि अन्य उपासक जो सीमित बुद्धि वाले हैं, अपनी पीड़ा को दूर करने के लिए और धन प्राप्ति के लिए अपने ही समान हाथ, पैर, पेट से युक्त शरीर वाले, अपने में बढिया या घटिया व्यक्तियों का आश्रय ढूंढते हैं—तात्पर्य यह है कि ऐसे लोग उदार नहीं हैं अपितु कृपण वुद्धि वाले हैं। इत्यत: जो सांसारिक सुख-प्राप्ति के लिए मेरी शरण में आते हैं वे ही उदार हैं फिर भी वे जन ज्ञानी की अपेक्षा निम्न स्वभाव वाले हैं। कारण यह है कि उन्हें तो इतने में भी भेद की ही भावना बनी रहती है कि मैं भगवान् से अमुक कामना का अभिलाषा करता हूं। इस प्रकार भेद ही प्रत्यक्ष देखने में आता है। (इस के उलट) ज्ञानी तो अभेद रूप से मेरा ही पल्ला पकड़ता है। अतः मैं उससे अभिन्न ही तो हूं। उसे तो मैं ही केवल प्यारा हूं, फल नहीं। इस भांति उसे 'वासुदेव ही सब कुछ है' इस प्रकार वह दृढ़ विश्वास से पवित्र बने हुए हृदय वाला है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

स्वया	=	अपने	तम् तम्	=	उन युक्तियों का
प्रकृत्या	=	स्वभाव से	आस्थाय	=	सहारा लेते हुए
नियताः	=	बेबस होकर	अन्य देवताः	=	दूसरे (निम्न कोटि के) देवताओं की
तैः तैः	=	भिन्न भिन्न	प्रपद्यन्ते	=	उपासना करते हैं।
कामैः	=	कामनाओं से (जिनका)			
हृत-ज्ञानाः	=	ज्ञान हरा गया है (ऐसे व्यक्ति)			

यो यो यां यां तनुं भक्त: श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

य: य:	=	जो जो	अहम्	=	मैं
भक्त:	=	कामनाओं को चाहने वाला भक्त	ताम् एव	=	उसी देवता के प्रति
याम् याम्	=	जिस जिस	श्रद्धाम्	=	श्रद्धा को
तनुम्	=	देवता के स्वरूप को			
श्रद्धया	=	लगन से			
अर्चितुम्	=	पूजना	अचलाम्	=	स्थिर
इच्छति	=	चाहता है			
तस्य तस्य	=	उस उस (भक्त) की	विदधामि	=	करता हूं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च तत: कामान् मयैव विहितान्हितान् ॥२२॥

स:	=	वह पुरुष,	तत: च	=	और उस (देवता) से
तया	=	उस (देवता के प्रति)	मया	=	मेरे द्वारा
श्रद्धया	=	श्रद्धा से	एव	=	ही
युक्त:	=	लिपटा हुआ	हि	=	नि:सन्देह
तस्य	=	उसी देवता के	विहितान्	=	विधान किए गए
आराधनम्	=	पूजने की	तान्	=	उन
ईहते	=	चेष्टा करता है	कामान्	=	इच्छित भोगों को
			लभते	=	प्राप्त करता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

तेषाम्	=	उन	देवयज:	=	देवताओं को पूजने वाले
अल्प-मेधसाम्	=	परिमित बुद्धि वालों का	देवान्	=	देव-लोक (स्वर्ग) को
तु	=	तो	यान्ति	=	प्राप्त होते हैं।
तत्	=	वह	अपि	=	और
फलम्	=	फल			
अन्तवत्	=	कुछ काल के बाद समाप्त होने वाला	मत्-भक्ता:	=	मेरे भक्त
			माम्	=	मुझे (ही)
भवति	=	होता है। (अत:)	यान्ति	=	प्राप्त होते हैं।

ये पुनः स्वेन स्वेनोत्तमादिकामनास्वभावेन विचित्रेण परिच्छिन्नमनसस्ते कामनापहृतचेतसस्तत्सम्मुचितामेव ममैवावान्तरतनुं देवताविशेषमुपासते। अतो मत्त एव कामफलमुपादते। किन्तु तस्य अन्तोऽस्ति;—निजयैव वासनया परिमितीकृतत्वात्। अत एवेन्द्रादिभावनातात्पर्येण यागादि कुर्वन्तस्तथाविधमेव फलमुपाददते। मत्प्राप्तिपरास्तु मामेव ॥२३॥

अब जो अपने प्रयोजन के अनुसार उत्तम, मध्यम आदि अनेक कामनाओं को लेकर मन का संकुचित बना कर तथा कामनाओं के कारण अपनी बुद्धि को संकुचित परिधि में लाकर, कामनाओं की पूर्ति के अनुरूप मेरे ही दूसरे स्वरूप बने हुए अन्य किसी देवता की उपासना करते हैं, वे वास्तव में मुझ से ही कामना के फल को प्राप्त करते हैं। किन्तु वह फल, अन्त वाला—नश्वर होता है। (ऐसे जन तो) स्वयं ही सांसारिक वासनाओं की इच्छा करने से फल को भी परिमित—सीमित बनाते हैं। अतः इस प्रकार से इन्द्र आदि देवताओं की भावना करते हुए यज्ञ आदि करने वाले जन, उसी प्रकार के परिमित फल को प्राप्त करते हैं और मुझे मिलने के लिए प्रयत्न करने वाले मुझे ही प्राप्त करते हैं।

ननु सर्वगते भगवत्तत्त्वे किमिति देवतान्तरोपासकानां मितं फलम? उच्यते—

प्रश्न उठता है कि यदि भगवान्, इन्द्र आदि देवताओं में भी व्यापक है तो अन्य देवताओं की उपासना करने वालों को परिमित फल की प्राप्ति क्यों कर होती है। इस पर कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

अबुद्धया = अल्प बुद्धि वाले (साधक)
मम = मेरे
अनुत्तमम = अलौकिक
अव्ययम् = अविनाशी
परम = उत्तम
भावम् = स्वरूप को
अजानतः = न जानते हुए
माम् = मुझ
अव्यक्तं = निराकार को
व्यक्तिम्-आपन्नम् = साकार बना हुआ।
मन्यन्ते = मानते हैं।

ते खलु अल्पबुद्धित्वात् मत्स्वरूपं पारमार्थिकमविद्यमानव्यक्तिकं न प्रत्यभिजानते। अपितु निजकामनासमुचिताकारविशिष्टज्ञानस्वभावं व्यक्तिमेवापन्नं विदन्ति नान्यथा। अत एव न नाम्नि आकारे वा कश्चिद्ग्रहः। किन्तु सिद्धान्तोऽयमत्रयः कामनापरिहारेण यत्किंचि देवतारूपमालम्बते तस्य तत् शुद्धमुक्तभावेन पर्यवस्यति। विपर्यात्तु विपर्ययः ॥२४॥

१. तदुक्तं परमार्थसारे
'सर्वाकारो भगवानुपास्यते येन येन भावेन।
तं तं भावं भूत्वा चिन्तामणिवत्समभ्येति ॥ इति।

वे सकामी व्यक्ति तो कच्ची बुद्धि के कारण मेरे वास्तविक, अव्यक्त तथा निराकार रूप को नहीं जानते हैं अपितु अपनी कामना की पूर्ति के लिए उसी के अनुसार किसी विशेष देवता के रूप में मुझे ही साकार बना हुआ जानते हैं। मुझे निराकार नहीं जानते। अतः नाम तथा आकार के भिन्न होने में तो कोई झगड़ा ही नहीं है। यहां (त्रिक-शास्त्र) का सिद्धान्त तो यह है कि जो कोई कामना की लालसा को छोड़कर किसी भी देवता की शरण लेता है, उसे वह देवता-विशेष शुद्ध तथा मुक्त रूप से ही मोक्ष ही दिलाता है। इस के उलट फल की भावना करने से उल्टा फल (संसार) ही मिलेगा।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

योग-माया-सम्-आवृतः	= अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से घिरा हुआ	अयम्	= यह
अहम्	= मैं	मूढः	= मोह में पडा हुआ
सर्वस्य	= सब को	लोकः	= मनुष्य
प्रकाशः	= प्रत्यक्ष	माम्	= मुझ (अविनाशी) को
न	= नहीं होता हूं (अतः)	न	= नहीं
		अभि-जानाति	= जान पाता।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्यन्ति च भूतानि माँ तु वेद न [illegible] [illegible]श्चन ॥२६॥

अर्जुन	= हे अर्जुन !	[illegible]	
सम-अतीतानि	= बीते हुए काल के	[illegible]	= मैं
वर्तमानानि च	= और [illegible] [illegible]तमान काल के	वेद	= जानता हूं (किन्तु)
भ[illegible] [illegible]ष्यन्ति च	= और आने वाले काल के	मां	= मुझ (अविनाशी) को
भूतानि	= सभी प्राणियों को	तु	= तो
		कश्चन	= कोई भी
		न	= नहीं
		वे[illegible]	= जान पाता

सर्वेषां नाहं गोचरतां प्राप्नोमि ॥ २६ ॥
सभी मनुष्यों की पकड़ में मैं आ नहीं सकता।

ननु च कर्माण्येव क्रियमाणानि प्रलयकाले मोक्षं विदधते। अन्यथा किमिति महाप्रलय उपजायते? इत्याशङ्कायामारभते—

प्रश्न उठता है कि (सांसारिक विषय भोगों के) कर्मों को करने पर भी अवश्य प्रलयकाल में मोक्ष की ही प्राप्ति होगी। नहीं तो महाप्रलय का होना मोक्ष-फल को देने के अतिरिक्त क्या प्रयोजन रखता है। (अतः मोक्ष के लिए विशेष साधन से क्या फल है।) इस प्रकार का शंका उठने पर कहते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥

भारत = हे भरतवंशीय
परंतप = अर्जुन !
इच्छा-द्वेष-सम् उत्थेन = राग और द्वेष से उत्पन्न हुए
द्वन्द्व-मोहेन = सुख-दुःख आदि द्वन्द्व रूप मोह से
सर्व-भूतानि = सभी प्राणि
सर्गे = सृष्टि के (अन्त में)
संमहोम् = संमोह (बेसुध) अवस्था को
यान्ति = प्राप्त होते हैं। (किंतु सृष्टि के प्रारम्भ में पुनः संस्कारों को लेकर उत्पन्न होते हैं। मुक्त नहीं होते)

इच्छाद्वेषक्रोधमोहादिभिस्तावन्मोहात्मक एव स परं स्फीतीभावमुपनीयते। येन प्रकृतिजठरान्तर्वर्ति समग्रमेव जगत् निजकार्यकरणमात्राक्षममेव प्रसुप्तामवलम्ब्यते। आमोहं-वासनानुभवात्प्रतिदिनम् रात्रिसमये सौषुप्तवत्। न तु तावता विमुक्तरूपता; —मोहानुभव-समाप्तौ पुनर्विचित्रव्यापार संसार दर्शनात् ॥२७॥

राग, द्वेष, क्रोध और मोह के कारण मोहित बना हुआ जीव, प्रलयकाल में भी अपने स्फीतभाव —जीवत्व को प्राप्त हुआ होता है। या यूं कहें—राग, द्वेष, क्रोध और मोह आदि मानसिक (कामनाओं के) ताप से, मोह स्वरूप होने से ही उस का मोह बहुत ही गाढा हो जाता है। जिस के फल-स्वरूप प्रकृति के भीतर ठहरा हुआ सारा जगत् (प्रलयकाल में) अपनी सक्रियता में असमर्थ बना हुआ सुषुप्तता को प्राप्त होता है। आमोह वह अवस्था है जिस में रात्रि के समय प्रतिदिन (सभी प्राणि) वासना के रहते हुए ही सुषुप्ति की सी अवस्था में चले जाते हैं, किन्तु सुषुप्ति की प्राप्ति, मुक्ति थोडे ही मानी जाती है। (इसी भांति महाप्रलय में ठहरने पर भी) उस मोह के समाप्त होने पर फिर विचित्र व्यापार रूप संसार का प्रारम्भ होता है।

येषां त्वन्तं गतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

पुण्य-कर्मणाम् = निष्काम भाव से मेरा भजन करने वाले पुण्यवान्
येषाम् = जिन
जनानाम् = साधकों का
पापम् = पाप
तु = सत्यतः
अन्तं-गतम् = नष्ट हो गया है
ते = वे
द्वन्द्व-मोह निर्मुक्ताः = राग, द्वेष, आदि द्वन्द्वों के मोह की पकड़ से छूटे हुए

दृढ-व्रताः	= दृढ निश्चय वाले (साधक)		माम्	= मुझे ही
			भजन्ते	= भजते हैं (अर्थात् मेरी शरण में रहते हैं।)

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

ये	= जो	ते	= वे (साधक)
माम्	= मुझे	तत्	= उस
आश्रित्य	= अपना बना कर	ब्रह्म	= ब्रह्म को
जरा-मरण	= बुढापे और मृत्यु से	कृत्स्नम्	= सम्पूर्ण
मोक्षाय	= छुटकारा पाने के लिए	अध्यात्मम्	= अध्यात्म को (तथा)
यतन्ति	= यत्न करते हैं	अखिलम्	= सभी
		कर्म	= कर्मों को
		च	= भी
		विदुः	= जानते हैं।

ये तु विनष्टतामसाः पुण्यापुण्यपरिक्षयक्षेमीकृतात्मानस्ते विपाटितमहामोहवितानाः सर्वमेव भगवद्रश्मिखचितं जरामरणमयतमिस्रस्तु तं ब्रह्म विदन्ति ॥२९॥

अब जिनका तमोगुण समाप्त हो गया है, जो पुण्य और पाप की परिधि को समाप्त करके कल्याण को प्राप्त हुए हैं, (तथा) जिनका भेद-भावना के महामोह का जाल टूट गया है, उनके लिए सभी (व्यवहार) भगवान् की (शक्ति) किरणों से रंजित है। वे बुढापे और मृत्यु के घने अन्धकार से छूट कर ब्रह्म को ही जानते हैं—प्राप्त करते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

ये	= जो (साधक)	ते	= वे
साधि-भूत	= अधिभूत,	युक्त-चेतसः	= सजग मन वाले साधक
अधि-देवम्	= अधिदैव	प्रयाण-काले	= मरने के समय
साधि-यज्ञम् च	= और अधियज्ञ को (भी)	माम्	= मुझ को
माम्	= मेरा ही रूप	अपि च	= ही तो
विदुः	= जानते हैं	विदुः	= जानते हैं। (प्राप्त होते हैं)

आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकाधियज्ञिकानि च ममैव रूपान्तराणि । प्रयाणकाले च नित्यं भगवद्भावितान्तःकरणत्वान्मां जानन्ति, यतो येषां जन्मपूर्वमेव भगवत्तत्त्वं; तेऽन्तकाले परमेश्वरं संस्मरेयुः । किं जन्मासेवनया'—इति ये मन्यन्ते; तेषां तूष्णीभाव एव शोभन इति शिवम् ॥३०॥

आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक और अधियज्ञ तो मेरे ही अन्य रूप हैं। मृत्यु के समय भी निरन्तर भगवान् की भावना करने में जिनके अन्तःकरण लगे होते हैं वे ही मुझे जानते हैं। जो (साधक) जन्म से ही पहिले भी अर्थात् अनेकों जन्मों में भगवत् संस्कार के कारण भगवान् के स्वरूप में लौ लगाए रहते हैं, वे ही मृत्यु समय में ईश्वर को स्मरण कर पाते हैं। 'आजन्म ईश्वर का भजन करने से क्या लाभ ?' ऐसा जो मानते हैं उनके प्रति तो चुप्पी साधना ही ठीक है। (क्योंकि ऐसी उनकी धारणा असत्य और आधार रहित है।) इति शिवम् ।

अत्र संग्रहश्लोकः

स्फुटं भगवतो भक्तिराहिता कल्पमञ्जरी ।
साधकेच्छासमुचितां येनाशां परिपूरयेत् ॥७॥

सार—श्लोक

भगवान् की भक्ति तो वह कल्प-लता है, जिसका आश्रय लेने से साधक की इच्छा के अनुकूल (सभी) अभिलाषा पूरी हो जाती है।

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (ज्ञानविज्ञानयोगो नाम) सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपाद द्वारा रचित श्रीमद्भगवद्गीतार्थ संग्रह का (ज्ञानविज्ञान योग नाम का) सातवां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ
अष्टमोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अर्जुन बोला

पुरुषोत्तम	= हे पुरुषों में श्रेष्ठ कृष्ण!	किम्	= क्या है
तत्	= वह	च	= और
ब्रह्म	= ब्रह्म	अधिभूतम्	= अधिभूत
किम्	= क्या है (और)	किम्	= किसे
अध्यात्मम्	= अध्यात्म	प्रोक्तम्	= कहते हैं
किम्	= क्या है, (तथा)	अधिदैवम्	= अधिदैव (नाम से)
कर्म	= कर्म	किम्	= क्या
		उच्यते	= कहा जाता है।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

मधु-सूदन	= हे मधु नाम वाले राक्षस को मारने वाले कृष्ण!	च	= और
अत्र	= यहां	नियत-आत्मभिः	= जीते हुए मन वाले साधक से (आप)
अधियज्ञः	= अधियज्ञ	प्रयाण-काले	= अन्त समय में
कः	= कौन है (और वह)	कथम्	= कैसे
अस्मिन्	= इस	ज्ञेयः	= जाने जा सकते
देहे	= शरीर में	असि	= हैं।
कथम्	= कैसे (ठहरा) है।		

'ते ब्रह्म तद्विदुः' इत्यादिना यद्भगवतोपक्षिप्तं, तत्प्रश्ननवकपूर्वकं निर्णयति। कथं, कोऽत्र देहे, तिष्ठतीति शेषः ॥२॥

(सातवीं अध्याय में कहे गए) 'ते ब्रह्म तद्विदुः'—'वे ब्रह्म को जानने वाले हैं—इस श्लोक में जिस विषय का सूत्रपात भगवान् ने किया है उसी को नव प्रश्नों के रूप में अर्जुन बांचता है। 'अधियज्ञ किसे कहते हैं' इस देह में कौन ठहरा है। ऊपर के श्लोक में 'तिष्ठति' यह पद अपनी ओर से मिलाना चाहिये।

श्रीभगवानुवाच।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

भगवान् बोले

परमम् = परम
अक्षरम् = जिस का कभी नाश नहीं होता वह अक्षर तो
ब्रह्म = ब्रह्म—ईश्वर है (उसका)
स्वभावः = स्वभाव (जीवात्मा)
अध्यात्म = अध्यात्म (नाम से)
उच्यते = कहा जाता है। (तथा)
भूत-भाव-उद्भवकरः = भूतों के भावों को उत्पन्न करने वाला
विसर्गः = (शास्त्रों में कहे गए यज्ञ, दान और होम आदि के प्रति) निष्काम रूप से जो कार्य करना है वह
कर्म = कर्म नाम से
संज्ञितः = कहा गया है।

बृहत्वाद्बृंहकत्वाच्च परं ब्रह्म। अत एव अध्यात्मशब्दवाच्यम्। यतः स्वः—अनिवृत्त धर्मा चैतन्याख्यो भावः। तस्य च चैतन्यस्वभावस्य ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नबाह्यलक्षणतया क्रोडीकृतविश्वशक्तेरैश्वर्यलक्षणात्स्वातन्त्र्यात् बहिर्भावभासनात्मा बहिर्भूतभावान्तरावभासनात्मा च यो विसर्गः क्रमेण भूतानांब्रह्मादि प्रमातॄणां भावानां—जडानाम् उद्भवकारी—जडाजडवैचित्र्यनिर्भासकः। तथा भूतभावस्य—विगलितसकलवितथप्रपञ्चस्य सत्यत्वस्य उद्भवं करोतीति ॥३॥

स्वयं महान् होने से तथा जगत् को महान् बनाने से ईश्वर को ब्रह्म कहते हैं। अतः इसे अध्यात्म ही समझा जाय। क्योंकि सदा प्रवर्तन में आया हुआ चैतन्य नाम वाला स्वरूप ही स्वभाव कहलाता है। वह चेतन-स्वरूप ब्रह्म का स्वभाव, अपरिच्छिन्न बाह्य जगत् का रूप होने से भीतर ठहरी हुई विश्व-शक्ति है, एवं अपने ऐश्वर्य रूप स्वातन्त्र्य से बाह्य पदार्थों का प्रकाशक तथा बाहर ठहरे हुए पदार्थों के भीतरी रूप में अवस्थित जो प्रकाश रूप सत्ता विद्यमान् है वही विसर्ग है। यह विसर्ग ही क्रमशः ब्रह्म आदि (कारण रूप)

प्रमाताओं को तथा भाव—जड़-चेतन रूप जगत् सम्बन्धी वैचित्र्य को दिखलाता है। उसी को वास्तव में विसर्ग कहते हैं। इसके अतिरिक्त इस श्लोक का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—जो ईश्वर सभी विस्तृत भेदात्मक जगत् को नष्ट करके पारमार्थिक सत्य स्वरूप को दर्शाता है—उसे विसर्ग कहते हैं।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

देहभृतां वर	=	हे मनुष्यों में श्रेष्ठ अर्जुन !
अधिभूतम्	=	अधिभूत (तो)
क्षरः	=	नष्ट होने वाले
भावः	=	घट आदि पदार्थ हैं
अधिदैवतम्	=	अधिदैव
पुरुषः	=	आत्मा
(अस्ति)	=	है।
(च)	=	और
अधियज्ञः	=	अधियज्ञ
अत्र	=	इस
देहे	=	शरीर में
अहम्	=	मैं (प्रभु)
एव	=	ही हूँ।

क्षरति—स्रवति परिणामादिधर्मेणेति क्षरः—घटादिः पदार्थग्राम उच्यते। पुरुषः—आत्मा स चाधिदैवतम्; :—तत्र सर्वदेवतानां परिनिष्ठितत्वात्। अतएवाशेषयज्ञभोक्तृत्वेन यज्ञान्—अवश्यकार्याणि कर्माणि अधिकृत्य यः स्थितः पुरुषोत्तमः, सोऽहमेव। अहमेव च देहे स्थिता इति प्रश्नद्वयमेकेन यत्नेन निर्णीतम् ॥ ४ ॥

क्षरति-परिणाम आदि धर्मों के कारण जो परिवर्तन को प्राप्त होता है वह घट आदि पदार्थों का समूह 'क्षर' खिसकने वाला नाशवान् कहलाता है। पुरुष—आत्मा है वही अधि-देवता है। उसी जीवात्मा में ही सभी देवताओं का वास है। अतः सभी यज्ञों के भोक्तृ-भाव से यज्ञों का अर्थात् अवश्य कर्त्तव्य रूप कर्मों का अधिकार प्राप्त करके, जो पुरुषोत्तम ठहरा है, वह मैं ही हूं और मैं ही इस देह में भी स्थित हूं। इस प्रकार 'अधियज्ञ' कौन है और देह में कौन ठहरा है—इन दोनों प्रश्नों का निर्णय एक ही उत्तर के द्वारा किया गया।

अथ योऽवशिष्टः प्रश्नः 'कथं प्रयाणकाले ज्ञेयोऽसि' इति; तं निर्णयति—

अब जो यह शेष प्रश्न है कि मरने के समय आप कैसे जाने जाते हैं—इसको स्पष्ट करते हैं—

अन्तकालेऽपि मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

यः = जो व्यक्ति
अन्तकाले = मरने के समय
अपि = भी
माम् = मुझे
एव = ही
स्मरण = ध्यान में लाता है
कलेवरम् = शरीर से
मुक्त्वा = छूट कर
प्रयाति = (परलोक) सिधारता है
सः = वह (तो)
मत्-भावम् = मेरे स्वरूप को
याति = प्राप्त होता है।
अत्र = इसमें (तनिक भी)
संशय = सन्देह
न = नहीं
अस्ति = है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।६।।

सदा तद्भावभावितः = सदा उसी भाव में रमा हुआ
(पुरुषः) = साधक
यम् यम् = जिस किसी भी
भावम् विचार को
स्मरन् = स्मरण करता हुआ
(अस्मरन्) वा अपि } = अथवा (न करता हुआ)
अन्ते = अन्त समय में
कलेवरम् = शरीर को छोड़ता है
तम् तम् = उसी-उसी (दशा) को
एव = ही
एति = प्राप्त होता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मर्दपितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।७।।

तस्मात् = इसलिए (हे अर्जुन ! तुम)
सर्वेषु = हर
कालेषु = समय (निरन्तर)
माम् = मेरा
अनुस्मर = बार-बार स्मरण करो
च = और
युध्य = युद्ध भी करो
मयि = मुझ में
अर्पित = टिकी हुई
मनः बुद्धि = मन-बुद्धि वाले (तुम)
असंशयम् = निःसन्देह
माम् = मुझी
एव = को
एष्यसि = प्राप्त करोगे।

न केवलं स्व[1]स्थावस्थायां यावदन्तकालेऽपि, मामेवेतिव्यवच्छिन्न सकलोपाधिकम्।

1. अन्तावस्थायामिति घ० पाठः।

कथं चास्वस्था[1]वस्थायां विनिवृत्तसकलेन्द्रियचेष्टस्य भगवान् स्मृतिपथमुपेयात्:—इत्युपाय-मपि उपदिशति—सर्वावस्थासु व्यावहारिकीष्वपि यस्य भगवत्तत्त्वं न हृदयादपयाति, तस्य भगवत्येव सकलकर्म-संन्यासिनः सततं भगवन्मयस्यावश्यं स्वयमेव भगवत्तत्त्वं स्मृतिविषयतां यातीति। सदा तद्भावभावितत्वं चात्र हेतुः। अत एवाह—येनैव वस्तुना सदा भावितान्तः[2] करणः; तदेव मरणसमये स्मर्यते—तद्भाव एव च प्राप्यते, इति सर्वथा मत्परम एव मत्प्रेप्सुः स्यादित्यत्र तात्पर्यम्। ननु यदेवान्ते स्मर्यते तत्तत्त्वमेवावाप्यते—इति। एवं हि सति ज्ञानिनोऽपि यावच्छरीरभाविधातुदोषविकलितचित्तवृत्तेर्जडतां प्राप्तस्य तामसस्येव गतिः स्यात्। न चाभ्युपगमोऽत्र युक्तः—प्रमाणभूतश्रुतिविरोधात्। अस्ति हि—

'तीर्थे[3] श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥' (प०सा०श्लो० ८३)

इति। तस्मादेवं विध्यनुवादी। सदा येन भावितमन्तःकरणं तदेवान्ते-प्रयाणानन्तरं प्राप्यते। तच्च स्मर्यते न वा—इति नात्र निर्बन्धः। अन्वाचयश्चायमपिशब्देन सूचितः। स्मरणस्यासर्वथाभावं वा[4] शब्दः स्फुटयति। 'सदा च मत्परमो जनः सर्वथा स्यात्'—इति तात्पर्यं मुनिरेव प्रकटयति; यदाह 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' इति। तेनेत्थमत्र पदसङ्गतिः;—सदा यं यं[4] भावं स्मरन् कलेवरं त्यजति अन्तेऽपि वा स्मरन्, वाग्रहणादस्मरन्वा तं तमेवैति। यतोऽसौ सदा तद्भावेन भावितः अन्ये तु—कलेवरं त्यजति सति अन्ते—कलेवरत्यागक्षणे बन्धुपुत्रादिप्रमात्रगोचरे[5] श्वासायासहिक्कागद्गदिकादिचेष्टाचरम-भाविनानि क्षणे शरीरदार्ढ्यबन्धप्रतनूभावाद्देहकृतसुखदुःखमोहवन्ध्ये कालांशे देहत्यजनशब्द-वाच्ये यदेव स्मरति तदेव प्रथम संविदनुगृहीतमस्य रूपं संपद्यते। तादृशे च काले स्मरणस्य कारणं—सदा तद्भावभावितत्वमिति। त्यजति—इति सप्तमी योज्या—इति प्राक्तन एवार्थः। ननु एवमन्तकाले, किं प्रयोजनं तत्स्मरणेन ? क एवमाह—प्रयोजनमिति; किन्तु वस्तुवृत्तोपनतमेव तद्भवति तस्मिन्नन्त्ये क्षणे। ननु पुत्रकलत्रबन्धुप्रभृतेः शिशिरोदकपानादेर्वा अन्त्ये क्षणे दृष्टं स्मरणम् इति तद्भावापत्तिः स्यात् ? मैवम्। नहि सोऽन्त्यः क्षणः—

---

१. अन्तावस्थायामिति घ० पाठः।

२. अन्तःकरणभाव इति क० पाठः।

३. एवं परिशीलितस्वरूपो योगी 'तीर्थे'—प्रयागपुष्करकुरुक्षेत्रादौ महापुण्ये स्थाने, अथवा 'श्वपचसदने'—अन्त्यजनगृहोपलक्षिते अतिपापीयसि शरीरं मुञ्चन्,—'कैवल्यं याति'—कलेवरपरिक्षयात् प्रधानादिकार्यकारणवर्गेभ्योऽन्यां चिदानन्दैकघनां तुर्यातीतरूपां केवलतां यातीति यावत्। यतोऽस्य सर्वमिदं विश्वं स्वात्मना पूर्णं समदृशा परमेश्वराधिष्ठितं पश्यतो न क्षेत्राक्षेत्रप्रविभागः, अत एव हतशोकः। नापि अस्य देहपातावसरे स्मृत्युपयोगः—इत्याह 'नष्टस्मृतिरपि'—इति।

४. 'यं यं वापि' इत्यत्र।

५. प्रमात्रन्तरागोचरे इति ग० पाठः।

स्फुटदेहावस्थानात्। नह्यसावन्त्यः क्षणोऽस्मद्विवक्षितो भगवद्‌भिर्लक्ष्यते। तत्र त्वन्त्ये क्षणे येनैव रूपेण भवितव्यं, तत्संस्कारस्यदूरवर्तिनोऽपि

'जातिदेशकालव्यवहितानामपि आनन्तर्य्यम्।
स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वाद्॥' (यो० सू० ४, ६)

इति न्यायेन प्रबोधेन भाव्यम्। तद्वशात्तत्स्मरणं तत्स्मृत्या तद्भाव प्राप्तिः। कस्य-चित्तु देहस्य[1] स्वस्थावस्थायामपि तदेव काकतालीयवशाद्वयज्यते। यथा मृगादेः पुराणे वर्णनम् तत्कृतं तु मृगत्वम्। अत एव 'प्रयाणकालेऽपि च माम्'—इत्यादौ 'अपि च'—इति ग्रहणम्। ये हि सदा भगवन्तं भावयन्ति—'एवंभूता भविष्यामः'—इति। तेषां

'तज्जः संस्कारोऽन्यसँस्कार प्रतिबन्धी।' (यो० सू० १।५०)

इति न्यायेन तस्यामलक्ष्यायामन्तदशायां संस्कारान्तरापहस्तनेन तत्संस्कारकृते तत्तत्त्वस्मरणे देहसद्भावक्षणकृते च तस्य स्मरणेऽनन्तरं देहविनिपातक्षण एव काल संस्कारनि-वृत्तेस्तदिदमित्यादिवेद्यत्रिभागानवभासात् संविन्मात्रसतत्त्वपरमेश्वरस्वभावतैव भवति;—इति श्रीमदभिवगुप्तगुरूणां संमतम्, इत्यलम्। असंशयमिति—नात्र सन्देग्धव्यमिति ॥ ७ ॥

शरीर के स्वस्थ होने पर ही केवल मेरा स्मरण न करे अपितु मरने के समय भी मुझे ही ध्याये। यहां 'मामेव'—केवल मेरा ही ध्यान करे, इससे अन्य देवी-देवताओं के बखेड़े को काट कर केवल मेरे परायण ही रहे। (ऐसा होना कैसे संभव हो सकता है जब कि अंतिम समय में) शरीर के अस्वस्थ होने पर सभी इन्द्रियों के कार्य ढीले पड़ जाते हैं, तो उस समय भगवान कैसे ध्यान में आ सकते हैं? इसका उपाय भी सुझाते हैं—(जिस साधक को) आजन्म सभी व्यवहार की अवस्था में भी भगवान् का स्वरूप हृदय से नहीं हटता, जो भगवान् को ही सभी कार्य सौंपता है तथा जो सदा भगवान् में ही लौ लगाए रहता है, उसे तो अवश्य ही स्वयं (मरने के समय भी) भगवान् याद आ ही जायेंगे। भगवान् में रमे रहना ही यहां (मरने के समय) स्मृति के होने का कारण है। इसीलिए कहते हैं—जन्मभर जिस किसी वस्तु में भावना बनी रहती है, उसी को मरने के समय भी स्मरण करता है और उसी स्वरूप को प्राप्त भी होता है। अतः इस कथन को हृदय में रख कर मेरे स्वरूप-प्राप्ति के इच्छुकों को सदा मुझ में ही लीन होना चाहिए। यही यहां कहने का अभिप्राय है। यह तो कहने की बात ही नहीं कि मरने के समय ही जिस का ध्यान करेगा उस तत्त्व को प्राप्त होगा। यदि यही बात मानी जाती तो ज्ञानी को भी मरने के समय जहां तक शरीर का सम्बन्ध है, शरीर में कफ, पित्त आदि धातुओं के बिगड़ने पर व्याकुल बने हुए चित्त-वृतियों के रुकने पर तमोगुण की वृत्ति ही आ उपस्थित होगी। किन्तु यह बात मानी कैसे जायेगी, जब कि अनुभव और शास्त्र इसके विरोधी हैं। बात तो यों है—"ज्ञानवान् पुरुष इस शरीर को, तीर्थ-स्थान में, चमार के घर में अथवा स्मृति के न होने पर भी त्यागता हुआ

---

१. देहस्थावस्थायामपीति क० पाठः।

ईश्वर-स्थिति की प्राप्ति के समय ही मुक्त हुआ है और इस प्रकार शोक से छूट कर कैवल्य-धाम को ही प्राप्त होता है।' प॰, स॰, श्लो॰ ८३॥

इस भाँति इस अवस्था के दो रूप हैं या यूं कहें कि इस श्लोक में विधि तथा अनुवाद इन दोनों की ओर संकेत है। जो सदा प्रभु में अन्तःकरण को लगाए ही रहता है वही मरने के बाद मोक्ष को प्राप्त करता है। (ऐसे साधक के लिए) मरने के समय भगवान् की स्मृति का होना या न होना कोई माने नहीं रखता। ऊपर के श्लोक में 'अपि' शब्द अन्वाश्चय है और गौण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'वा' शब्द ज्ञानी और अज्ञानी की अन्तिम स्मृति के स्थिर रहने का पूर्ण रूप से निषेध करता है। क्योंकि (मृत्यु के समय शरीर के रोगी होने के कारण) भगवत् स्मृति का होना अति असंभव है। मुनि व्यास जी ने तो स्वयं इस भाव को जतलाया है कि मेरे ध्यान में पूर्ण रूप से लगना ही सब कुछ है। इसीलिए तो कहा है कि हर समय मेरा स्मरण करते रहो। इस भाव के आधार पर इस श्लोक के पदों की व्याख्या यों है— जिस-जिस भाव को आजन्म ध्यान में रखता है शरीर को छोड़ते समय भी उसी का स्वभावतः ध्यान करता है। 'वा' से स्मरण करे या न करे (आजन्म किए हुए कार्य का संस्कार स्वयं उसे मृत्यु के समय आ उपस्थित होता है) अतः प्रबल संस्कार से उसी स्वरूप को प्राप्त होता है क्योंकि यह तो उसी भाव में सदा अनुरक्त रहता है।

दूसरे टीकाकार यह कहते हैं कि शरीर को छोड़ने के समय ही (यदि प्रभु को याद करेगा, तब भी) मुक्त होगा। किंतु वे यह नहीं विचारते कि अन्त समय में जबकि सगे-सम्बन्धी, पुत्र आदि को न देख पाने पर और सांस के उतार-चढ़ाव में भी दिक्कत होने पर, हिचकियों के लगने के कारण, वाणी में हकलाहट के आ जाने पर और शरीर से उत्पन्न हुए सुख, दुःख और मोह की भी सुध-बुध न रहने पर शरीर छोड़ते हुए, जो कुछ भी स्मरण करता है वह तो जीवन भर जैसी संवित्ति का अभ्यास होता है वैसी ही भावना इसकी मृत्यु समय में भी बनती है। ऐसे (संकट के) समय भगवत् स्मृति का हो आना, सदा उसी में लगे रहने का ही फल है। 'त्यजति'—छोड़ने पर—इस प्रकार सप्तमी का अर्थ ही लगाना चाहिए। यह तो हम कह ही आये हैं और इस अर्थ के द्वारा भी पूर्व अर्थ की ही पुष्टि हुई। प्रश्न यह है कि जब जन्म भर प्रभु को स्मरण किया हो तो मृत्यु के समय भगवान् का स्मरण करने से क्या प्रयोजन है? (उत्तर देते हैं) हमने कब कहा कि इससे कुछ प्रयोजन है। बात तो यह चली है कि जन्मभर जिस किसी भी विशेष कार्य में तल्लीन रहेगा वही (भाव) उस अन्तिम क्षण में भी याद आयेगा। प्रश्न पुनः होता है कि पुत्र, स्त्री, बंधु और सेवक से ठंडा जल मांगने के समय उसकी स्मृति बनी हुई हम देखते हैं अतः जो भी पदार्थ वह देखेगा उसी का स्मरण भी करेगा। (इस बात को टालते हुए कहते हैं) ऐसा न कहो। वह तो अन्तिम क्षण है ही नहीं। क्योंकि उसका आत्मा तो अभी शरीर में ही अटका है। (तभी तो जल आदि मांग सकता है)। हमारा अभिप्राय जिस मृत्यु-क्षण से है उसे तो तुम लक्ष्य में नहीं ला रहे हो। वह तो मृत्यु का क्षण है ही नहीं। उस अन्तिम क्षण में जिस योनि में जाना बधा

होगा, वह संस्कार यदि कई जन्मों का पुराना भी क्यों न हो, या यूं कहें कि उस प्राणी की स्वाभाविक जन्म सिद्ध चेष्टाओं के विस्मृत होने पर भी इस नीचे कहे गये सूत्र के अनुसार वह संस्कार फिर से जाग्रत होता है।

'जातिदेशकालव्यवहितानामपि आनन्तर्यम्।
स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।' (यो सू० ४, ९)

पतंजल मुनि कहते हैं कि जाति—ब्राह्मण या पशु, देश कोई भी देश तथा काल—सौ साल पूर्व के व्यवधान होने पर भी (यदि मृत्यु के अन्तिम क्षण में) उन पूर्व जन्मों के किसी भी स्मृति या संस्कार का ध्यान आ जायेगा तो एकदम उसी रूप के साथ सम्बन्ध होगा। क्योंकि स्मृति और संस्कार की एकरूपता होने के कारण उसी जन्म के अनुभव में आये हुए संस्कारों की समीपता तत्काल ही प्रतीत होती है।

इस न्याय से वे संस्कार एकदम जाग्रत हो जायेंगे। उस संस्कार से उस जाति का स्मरण हो आयेगा और स्मृति के आने पर उसी जन्म की प्राप्ति होगी। (किन्तु यह भी देखने में आया है कि) देह के स्वस्थ होने पर यदि किसी पुरुष की अचानक मृत्यु हो जाये तो किसी भी प्राणी का उस समय विचार करने से वह 'काकतालीय' न्याय के अनुसार उसी स्वरूप को धारण करता है। जैसे पुराणों में राजा भरत की कथा से ज्ञात होता है कि वे कैसे हिरण के बच्चे को पालते-पालते मरने के बाद हिरण ही बन गए। इसीलिए कहा है कि 'मरने के समय भी मुझे ही स्मरण करे' इत्यादि। 'प्रयाणकालेऽपि च माम्' इस श्लोक में 'अपि च' पद पर ध्यान देना आवश्यक है। जो जन सदा भगवान में लौ लगाए रहते हैं (और विचारते हैं कि) 'आज हम ऐसे हैं कल ऐसे बनेंगे' इति। उनके लिए—

'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी'
(यो० सू० १/१५)

उस विशेष संस्कार के उत्पन्न होने पर अन्य गौण संस्कार स्वयं दब जाते हैं।

इस न्याय से वह अन्तिम मरने का क्षण जो किसी से भी देखा नहीं जाता, उस समय अन्य संस्कार तो दबे होते हैं केवल जीवन भर देह के स्वस्थ होने पर, भगवान् में रमे रहने से, मृत्यु समय में जब कि देह छूटने वाला होता है और जीवन-काल में किये हुए अभ्यास की भी सुध नहीं रहती तथा यह और वह आदि वेद्य विभाग की कल्पना भी धुँधली हो जाती है, ऐसे (संकट के) समय में भगवान् के अनन्य भक्तों को प्रभु का अनुसन्धान स्वतः आ उपस्थित होता है। यह तो श्री अभिनवगुप्त के गुरुजनों की सम्मति है—उन्होंने अनुभव द्वारा यह बात पक्की की है। इसके अतिरिक्त हम क्या कहें। असंशयमिति—इसमें शंका नहीं करनी चाहिए।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसानन्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

पार्थ	=हे अर्जुन ! (यह तो मानी हुई बात है कि)
अभ्यास-योग-युक्तेन	=अभ्यास की साधना में जुटा हुआ
न-अन्य-गामिना	=किसी और विषय में न भटके हुए
चेतसा	=मन से
अनु-चिन्तयन्	=निरन्तर चिन्तन करता हुआ (साधक)
परमम्	=परम-श्रेष्ठ
दिव्यम्	=अलौकिक
पुरुषम्	=परमेश्वर को
याति	=प्राप्त होता है।

अनुचिन्तयन्निति, शरीरभेदानन्तरं निवृत्तकलेवरकृतव्यथः पश्चाद्भगवन्तं चिन्तयन्निति ॥८॥

अनुचिन्तन करे— शरीर-संबंध से छूटने के बाद ही जिस समय मरने की व्यथा समाप्त हुई हो, उसी क्षण भगवान् का चिन्तन करना चाहिए। (तभी दिव्य परम-पुरुष को प्राप्त कर पायेगा)

कविं पुराणमनुशासितार—
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप—
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

यः	=जो (साधक)
कविम्	=सर्वज्ञ (पारदर्शी)
पुराणम्	=सनातन
अनु-शासितारम्	=सबका नियमन करने वाले
अणोः	=सूक्ष्म से भी
अणीयांसम्	=अति सूक्ष्म
सर्वस्य	=सब को
धातारम्	=धारण करने वाले
अचिन्त्य-रूपम्	=जिसके विषय में कोई सोच भी न सके (ऐसे)
आदित्य-वर्णम्	=सूर्य के समान तेजस्वी
तमसः	=अविद्या (के अंधेरे) से
परस्तात्	=बिल्कुल परे ठहरे हुए (प्रभु को)
अनु-स्मरेत्	=बार-बार स्मरण करे।

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

सः	=वह	**अचलेन च**	=तथा टिके हुए
भक्त्या युक्तः	=भक्ति करने वाला (साधक)	**मनसा**	=मन से
प्रयाण-काले	=मरने के समय	**(स्मरन्)**	=(प्रभु का स्मरण करता हुआ)
योग-बलेन	=योग के द्वारा	**तम्**	=उस
भ्रुवोः	=दो भौंहों के	**दिव्यम्**	=अलौकिक
मध्ये	=बीच में	**पुरुषम्**	=प्रभु को
प्राणम्	=प्राण को	**एव**	=ही
सम्यक्	=ठीक-ठीक	**उप-एति**	=प्राप्त होता है ।
आवेश्य	=ठहरा कर		

एवमनुस्मरेदिति । आदित्यवर्णमिति—आदित्यवर्णत्वं वासुदेवतत्त्वस्य परिच्छेदकम्; आकृतिकल्पनादिविभ्रान्तिमयमोहतमसोऽतीतत्वात् रवित्वेन उपमानमित्याशयः । भ्रुवोर्मध्ये —इति प्राग्वत् ॥१०॥

इसी भांति अनुस्मरेद्—स्मरण करे । आदित्य-वर्णम्—सूर्य की नीलिमा के साथ समानता देने से वासुदेव (कृष्ण) के स्वरूप का विभाजन किया गया (वास्तव में) साकार की कल्पना करना ही भ्रान्तिदायक अंधकार है अतः उस अंधकार से परे होने से भगवान् की आकृति को सूर्य के साथ उपमा दी गई है । यह अभिप्राय है । दो भौंहों के मध्य में—(ज्ञान और क्रिया के बीच में अपनी संवित्ति का विकास देखना चाहिये ।) यह तो हम पहले कह ही आये हैं ।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेणाभिधास्ये ॥ ११ ॥

वेद-विदः	=वेद को जानने वाले (विद्वान्)	**यत्**	=जिस धाम को
यत्	=जिस (संवित्) को	**इच्छन्तः**	=चाहने वाले
अक्षरम्	=नाश न होने वाला	**ब्रह्मचर्यम्**	=ब्रह्मचर्य (का कड़ा व्रत)
वदन्ति	=कहते हैं (और)	**चरन्ति**	=धारण करते हैं
वीत-रागाः	=लगाव से रहित (विरक्त)	**तत्**	=वह
यतयः	=यत्न करने वाले (साधक)	**पदम्**	=परम पद
यत्	=जिस (परम-धाम) में	**ते**	=तुम्हें
विशन्ति	=प्रवेश करते हैं	**संग्रहेण**	=नपे-तुले शब्दों में
		अभिधास्ये	=कहूंगा ।

सम्यग् गृह्यते—निश्चीयतेऽनेनेति संग्रहः—उपायः । तेनोपायेन तत्पदम् अभिधास्ये—उपायमत्र सतताभ्यासाय वक्ष्ये ॥११॥

सम्यग् गृह्यते (जिस से कोई वस्तु) भली-भांति निर्धारित की जाये । संग्रह—उपाय को कहते हैं । उस उपाय से (मैं तुम्हें) वह परम पद कहूंगा । उपाय तो यहां सदा अभ्यास करना ही कहा जायेगा ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

सर्व-द्वाराणि	=सभी इन्द्रियों के द्वारों को	**आत्मनः च**	=और अपने
संयम्य	=बंद करके	**प्राणम्**	=प्राणों (इच्छा-शक्ति) को
मनः	=मन को	**मूर्ध्नि**	=(सभी तत्वों से परे) शिव-तत्त्व में
हृदि	=हृदय में	**आधाय**	=ठहरा कर
निरुध्य	=रोक कर (विषयों से हटा कर)	**योग-धारणाम्**	=स्थिर योग में जुटा हुआ

द्वाराणि—इन्द्रियाणि । हृदि—इत्यनेन विषयसंगाभाव उच्यते, नतु विष्ठास्थानाधिष्ठानम् । आत्मनः प्राणम्; आत्मसारथिम् इच्छाशक्त्यात्मनि मूर्ध्नि—सकलतत्त्वातीते, धारयन्निति—कायनियमः ॥१२॥

द्वार इन्द्रियों को कहते हैं । हृदय में—इस शब्द का अभिप्राय मल-मूत्र का स्थान बने हुए हृदय से नहीं है । यह पद तो विषय-संग का अभाव जतलाता है । आत्मा का जो रथ हांकने वाला इच्छा रूपी मूर्धा (शिर) है, जो सभी तत्वों से परे (शिव-तत्व) है, उसी में इच्छा को ठहराये । इस प्रकार यह तो शारीरिक साधना है ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

यः	=जो (साधक)	**अनु-स्मरन्**	=निरन्तर स्मरण करता हुआ
ओम्	=ओम्	**देहम्**	=शरीर को
इति	=इस नाम से जतलाए जाने वाले	**त्यजन्**	=छोड़ कर
एक-अक्षरम्	=एक अक्षर से निर्दिष्ट (अद्वितीय तथा सनातन)	**प्रयाति**	=जाता है
ब्रह्म	=ब्रह्म का	**सः**	=वह
व्याहरन्	=उच्चारण करता हुआ (और)	**परमाम्**	=सब से उत्तम
माम्	=मुझे	**गतिम्**	=गति को
		याति	=प्राप्त होता है ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

पार्थ	=हे अर्जुन !	**स्मरति**	=याद करता है
यः	=जो (साधक)	**तस्य**	=उस
अनन्यचेताः	=एकाग्र मन से	**नित्य-युक्तस्य**	=सदा मुझ में लौ लगाने वाले
नित्यशः	=सदा ही	**योगिनः**	=योगी के (लिए)
सततम्	=निरन्तर	**अहम्**	=मैं
माम्	=मुझे	**सुलभः**	=सहज में प्राप्य हूं ।

ओमिति जपन्निति वाङ्नियमः । मामनुस्मरन्निति चेतसोऽनन्यगामिता । यः प्रयाति—दिनाद्दिनमपुनरावृत्तये गच्छति । तथा च—देहं त्यजन्—'कथं मे पुनरिदं सकलापत्स्थानं शरीरं मा भूयात्'—इत्येवं यो मामनन्यचेताः स्मरति सततमेव; याति – जानाति स मद्भावम् । नत्वत्र मुनेः परंब्रह्माद्वैतपदोपक्षेपविरोधी[1] उत्क्रान्तौ भरः । तथा चोक्तं—

'व्यापिन्यां शिवसत्तायामुत्क्रान्तिर्नाम निष्फला ।
अव्यापिनि शिवे नाम नोत्क्रान्तिः शिवदायिनी ॥'

इति । यदि वा सतताभ्यासोऽपि यैर्न कृतस्तथापि कुतश्चित्स्वतन्त्रेश्वरेच्छादेर्निमित्तादन्त्ये एव क्षणे यदा तादृग्भावो जायते, तदायमुत्क्रान्तिलक्षण उपायः संस्कारान्तरप्रतिबन्धक उक्तः । अत एव 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' इत्यादिना 'अभिधास्ये' इत्यन्तेन प्रतिज्ञा कृता क्षणमात्रस्यापि भगवदनुचिन्तनस्य सकलसंस्कारविध्वंसनलक्षणामद्भुतवृत्तिं प्रतिपादयितुम् । यदाहुराचार्यवर्याः

'निमेषमपि[2] यद्येकं क्षीणदोषे करिष्यसि ।
पदं चित्ते तदा शंभो किं न संपादयिष्यसि ॥'

(स्त० चिं० श्लो० ११४)

इति । अतएव 'प्रयाणकाले स्मरणेन विना खण्डना'—इति येषां शङ्का तान् वीतशङ्कान्कर्तुमुक्तम्-अनन्यचेताः सततमिति; —अन्यत्र फलादौ साध्ये यस्य न चेत इत्यर्थः । तस्याहं सुलभ इति;—तस्य न किंचित्प्रयाणकालौचित्यपर्येषणम्—तीर्थसेवा, उत्तरायणम्, आयतनसंश्रयः, सत्त्वविवृद्धिः[3], सचिन्तकत्वं[4], विषुवदादिपुण्यकालः, दिनम्, अकृत्रिमपवित्रभूपरिग्रहः, स्नेह-

---

१. विरोधीति उत्क्रान्तौ भर इति घ० पाठः ।

२. हे शंभो ! त्वदिच्छयैव 'क्षीणदोषे'—निवृत्तकुप्राचीनसंस्कारे चित्ते, मादृशाम् अनुग्राह्याणां यदि क्षणमेकमपि 'पदम्'—अनुग्रहीतृत्वेन अधिष्ठानं करिष्यसि, तदा 'किं न संपादयिष्यसि'—सर्वाः प्रार्थनाः तत्क्षणं पूरयस्येवेत्यर्थः ।

३. विशुद्धि इति क० पाठः ।

४. सचित्तकत्वमिति घ० पाठः ।

मलविहीनदेहता, शुद्धवस्त्रादिग्रहः—इत्यादिक्लेशोऽभ्यर्थनीय इत्यर्थः। यत्प्रागुक्तं—

'तीर्थे श्वपचगृहे वा'—इत्यादि ॥१४॥

ओम् शब्द का जप करना वाणी का नियमन है। मुझे ही सदा स्मरण करता रहे—(इससे) मन की एकाग्रता का उपदेश किया है। जो जाता है—दिनों दिन मोक्ष की ओर ही जाता है। इसी प्रकार जो देह को छोड़ता है (और यह विचारता है कि) "मैं कैसे इस सभी विपत्तियों के स्थान बने हुए शरीर को पुनः न प्राप्त करूं" इस भांति जो मुझ में लौ लगाए रह कर सदा मेरा ही स्मरण करता है, वही मेरे स्वरूप को जानता है। इस श्लोक में व्यास मुनि का अभिप्राय—परं ब्रह्म का जो अद्वैत-पद है उसके बारे में जो 'उत्क्रांति' करनी कही गई है वह तो अद्वैत की व्यापकता का विरोध करती है (अतः) यहां उस उत्क्रांति पर जोर नहीं दिया है। कहा भी है—

"व्यापक शिव-सत्ता में उत्क्रांति (मृत्यु के समय शरीर के छूटने के लिए अभ्यास) नामक क्रिया की उपासना करना बेकार है। (क्योंकि जब शिव की सत्ता सदा व्यापक है और सदा प्राप्त ही है तो उत्क्रांति की उपासना व्यर्थ ही है) और यदि शिव की सत्ता अव्यापक है तो उत्क्रांति कैसे शिव को प्राप्त करा पायेगी।

नहीं तो दूसरा अर्थ 'उत्क्रांति' का यों भी हो सकता है—यदि (साधक ने) लगातार (जीवन-काल में) अभ्यास न किया हो—उसे फिर भी शक्तिपात के कारण—ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा के फल-स्वरूप अन्तिम क्षण में ईश्वर सम्बन्धी भावों के उत्पन्न होने से 'उत्क्रांति-क्रिया' जो अन्य (जागतिक) संस्कारों का प्रतिबन्धक होने से उपाय कही गई है (मरने के समय फलीभूत बनती है।) इसी लिए 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' इस श्लोक से लेकर 'अभिधास्ये' इस श्लोक तक यही प्रतिज्ञा प्रकट की है कि जीवन के क्षण-मात्र में भी भगवान् का मन लगा कर चिन्तन करने वाले के सभी व्यावहारिक संस्कार नष्ट होते हैं और स्वरूप-लाभात्मक अद्भुत वृत्ति सिद्ध होती है। यही बात श्रेष्ठ आचार्य (भट्टनारायण) ने (स्तव-चिंतामणि नामक ग्रन्थ में) कही है—

'(हे भगवन्!) यदि आप एक क्षण के लिए भी (मेरे मन को) संकल्प रूपी दोषों से रहित बनाएंगे, तब आप (मेरे मन को) अभेद रूप पद में ठहरा कर भला क्या कुछ नहीं प्राप्त करा सकते हैं।'

इसीलिए 'मरने के समय ईश्वर का स्मरण न होने से अधोगति होती है' जिनकी यह शंका है, उनकी शंका को दूर करने के लिए ही कहा है—एकाग्र मन से (आजीवन) सदा अनन्यचित्त होकर अर्थात् अन्य फल आदि की आकांक्षा से रहित बन कर ही जो मेरा स्मरण करता है उसको मैं सहज ही प्राप्त होता हूं। ऐसे योगी के लिए तनिक भी मृत्यु समय में उपयोगी सिद्ध होने वाले शास्त्रों में कहे गये इन नियमों की सामान्यरूपतया पूछ-ताछ (आव-

श्यकता) नहीं रहती — जैसे तीर्थों में जाकर दान, तपस्या आदि का करना, उत्तरायण का होना, देव-मंदिर का आश्रय लेना, सत्त्वादि भावों की वृद्धि के लिए उपायों का प्रयोग करे, भगवान् का चिन्तन करे, विषुवद् आदि पुण्यकाल का आश्रय ले, दिन में मरे, पलंग आदि कृत्रिम (बनावटी) भूमि न होकर पवित्र अकृत्रिम (स्वाभाविक) पवित्र भूमि पर प्राण-त्याग करे, चिकनाई के मैल से रहित स्वच्छ देह का होना तथा साफ-सुथरे वस्त्र आदि को धारण करने का जितना भी वखेड़ा है, वह उस सदा अभ्यास करने वाले योगी के लिए वांछनीय नहीं है। यह तात्पर्य है। यह तो हमने पहले भी कहा है—तीर्थ हो या चंडाल का घर ही क्यों न हो (परम योगी के लिए मरने के समय एक जैसी बात है।)

ननु 'मद्भावं याति'—इत्युक्तम्। तत्किं प्राप्तेऽपि पुनरावृत्तिरस्ति? इत्याशङ्क्याह—

प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है'—यह तो आपने कहा—तो फिर क्या स्वरूप को प्राप्त करने के बाद भी जन्म लेना पड़ता है? इस शका को सुलझाते हुए कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

परमाम्	= अति उत्तम		**अशाश्वतम्**	= स्थिर न रहने वाले
संसिद्धिम्	= (प्रभु की प्राप्ति रूप) सिद्धि को		**दुःख-आलयम्**	= दुःख का घर बने हुए
गताः	= प्राप्त हुए		**पुनः जन्म**	= पुनर्जन्म को
महात्मानः	= महात्मा जन		**न आप्नुवन्ति**	= प्राप्त नहीं करते। (मुक्त हो जाते हैं।)
माम्	= मुझे			
उपेत्य	= प्राप्त करके			

अन्यतस्तु सर्वत्र एव पुनरावृत्तिरस्तीति समनन्तरेण श्लोकेन प्रतिपादयिष्यते। मां तु प्राप्य न पुनर्योगिनो जन्मादित्रासमाप्नुवन्ति[1] ॥१५॥

(मुझ से) अन्य सभी स्वर्ग आदि लोकों में जाकर फिर जन्म लेना पड़ता है। यह बात तो हम अगले श्लोक में स्पष्ट रूप में कहेंगे। बात तो यों है कि मुझे प्राप्त करके योगी-जन पुनः होने वाले जन्म आदि के भय को नहीं प्राप्त करते हैं।

१. 'न स पुनरावर्तते इति श्रुतेः' 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते'—इत्यग्रेऽपि—इति ग० पुस्तके अधिकः पाठः।

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

अर्जुन	= हे अर्जुन !	**(किन्तु)**	= पर
आ-ब्रह्म	= ब्रह्म-पदवी की प्राप्ति तक	**कौन्तेय**	= हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन !
भुवनात्	= जितने भी	**माम्**	= मुझे
लोकाः	= लोक हैं (उनमें जाकर तो)	**उपेत्य**	= प्राप्त करके (फिर)
पुनर्-आवर्तिनः	= फिर से जन्म लेना ही पड़ता है ।	**पुनः जन्म**	= पुनर्जन्म
		न विद्यते	= नहीं होता ।

ब्रह्मलोकमाप्तानामपि पुनरावृत्तिरस्ति—इति सर्वैर्व्याख्यातम् । एतदभ्युपगमे च 'तदुपरितनलोकगतिर्मुक्तिः'—इत्यभिहितं स्यात् । तच्च न हृदयंगमम्; इति संशयमहामोहकलुषीकृतान्तर्द्दशामस्माकं प्रति भातीयमागमाधिगता व्याख्यावर्त्तिः; आब्रह्म—यावत् ब्रह्मपदं प्राप्तं तावत् यस्मात्कस्माच्चित्तिर्यगूर्ध्वाधस्तात्भुवनात् पुनरावर्तन्ते—चक्रवत्स्थानान्तरमविरतं भ्राम्यन्तो विपरिवर्तन्ते इति ॥१६॥

सभी टीकाकारों ने इस श्लोक की व्याख्या यही की है कि ब्रह्म-लोक को प्राप्त करने वालों को भी फिर जन्म लेना पड़ता है । यदि यही बात मानें तो ब्रह्म-लोक से ऊपर जो (विष्णु आदि) लोक हैं उनमें जाना ही मुक्त होना है—ऐसा मानना पड़ेगा । किन्तु यह बात हृदय में बैठती नहीं है । (हम तो) संशय रूपी भयंकर मोह से रहित, आन्तरिक प्रतिभा से युक्त अन्तःकरण वाले ठहरे अतः हमें तो शास्त्रों तथा आगामों के आधार पर यह व्याख्या की सरणी जंचती है—आब्रह्म—जहां तक ब्रह्म-पद की प्राप्ति है (उसे छोड़ कर) अन्य जिस किसी भी ऊपर नीचे ठहरे हुए भुवनों में जीव जाते हैं वे पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं । इस भांति चक्र की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहते हैं और बार-बार जन्म लेते रहते हैं ।

ननु क एवं जानाति, यत्सर्वभुवनेभ्यः पुनरावृत्तिः । ब्रह्मादय एव हि तावच्चिरतरस्थायिनः श्रूयन्ते । ते एव तावत्कथं पुनरावर्तिनः । पुनरावर्तित्वे हि तेऽपि स्युः प्रभवाप्ययधर्माणः ? इत्याह—

प्रश्न उपस्थित होता है कि कौन यह जानता है कि सभी भुवनों से (इस जीव को) फिर जन्म लेना पड़ता है ? सुनते तो हैं कि ब्रह्मा आदि देवता तो अनन्तकाल की सीमा तक एकवत् रहने वाले हैं । (तो फिर) वे ब्रह्मा आदि देवता ही कैसे फिर से जन्म लेने वाले हो

सकते हैं ? यदि उन्हें भी उत्पत्ति और मृत्यु से युक्त मानें, तब तो वे भी मनुष्य की भांति जन्म-मरण धर्म वाले ही हैं। यही कहते हैं—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यं ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्र विदो जनाः ।। १७ ।।

ये	=	जो (दूरदर्शी जन हैं वे)	विदुः	=	मानते हैं
ब्रह्मणः	=	ब्रह्मा के	ते	=	वे
अहः	=	एक दिन को	जनाः	=	योगी (तो तत्त्वतया)
सहस्र-युग पर्यन्तम्	=	हजार चौकड़ी युग तक अवधि वाला (और)	अहः	=	दिन (और)
रात्रिम्	=	ब्रह्मा की रात को (भी)	रात्र	=	रात के काल को
युग-सहस्रान्तम्	=	हजार चौकड़ी युग तक (सीमा वाली)	विदः	=	जानते हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।। १८ ।।

सर्वाः	=	सभी	रात्रि-आगमे	=	(ब्रह्मा की) रात के आने पर
व्यक्तयः	=	प्रत्यक्ष, भूत-समूह	तत्र	=	उसी
अहर-आगमे	=	(ब्रह्मा के) दिन के होने पर	अव्यक्त	=	अव्यक्त (प्रकृति)
			संज्ञके	=	नाम वाले (तत्त्व में)
अव्यक्तात्	=	प्रकृति से	एव	=	ही
प्रभवन्ति	=	उत्पन्न होते हैं (और)	प्रलीयन्ते	=	समा जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवन्त्यहरागमे ।। १९ ।।

पार्थ	=	हे अर्जुन !	अवशः	=	प्रकृति के वश में पड़ा हुआ
सः	=	वही			
एव	=	तो	रात्रि-आगमे	=	(ब्रह्मा की) रात के आने पर
अयम्	=	यह	प्रलीयते	=	(उसी में) लीन होता है (और)
भूत-ग्रामः	=	प्राणि-समूह			
भूत्वा-भूत्वा	=	उत्पन्न होकर बार-बार	अहर आगमे	=	ब्रह्मा के दिन में
			प्रभवति	=	फिर उत्पन्न होता है।

ये खलु दीर्घदृश्वानस्ते ब्रह्मणोऽपि रात्रिं दिनं पश्यति प्रलयोदयतया । तथा च । अहरहस्त एव विबुध्य निजां निजामेव चेष्टामनुरुध्यन्ते । प्रतिरात्रि च तेषामेव निवृत्तपरिस्पन्दानां शक्तिमात्रत्वेनावस्थानम् । एवं सृष्टौ प्रलये च पुन: पुनर्भाव:[1] । नान्येऽन्ये उपसृज्यन्ते; अपितु ते एव जीवा: । कालकृतस्तु चिरक्षिप्रप्रत्ययात्मा विशेषा: । एष च परिच्छेद: प्रजापतीनामप्यस्ति । ततश्च तेऽपि प्रभवाप्ययधर्माण एव—इति स्थितम् ॥१९॥

अब जो दूरदर्शी (विवेकी ज्ञानवान्) होते हैं वे तो ब्रह्मा जी के (अनन्त काल तक रहने वाले) रात और दिन को भी समाप्त होने वाला तथा फिर से सृष्ट होने वाला समझ कर नश्वर मानते हुए ही देखते हैं। इस कथन को और भी सुलझा कर कहेंगे—जैसे सभी जीव, प्रतिदिन जगकर अपने-अपने नियमित कार्यों को करते रहते हैं और प्रति रात्रि में वे ही जीव, अपनी सभी चेष्टाओं के शिथिल होने पर शक्ति रूप प्रकृति में ठहरते हैं वैसे ही जगत् के सृष्ट होने पर तथा प्रलय होने पर फिर ये जीव उत्पन्न होते रहते हैं। (नई सृष्टि के समय) नये जीव उत्पन्न नहीं किये जाते अपितु वे (पुराने) जीव ही पुन: उत्पन्न होते हैं। अनन्तता और अल्पता की धारणा तो काल की विशेषता है। यह नियम-बद्धता तो प्रजा के उत्पत्ति कर्त्ता ब्रह्मा जी पर भी लागू होती है। अत: वे भी जन्म-मरण धर्म वाले ही हैं। इसी रीति से यह बात सिद्ध हुई कि ब्रह्मा आदि देवता भी मनुष्यों की भांति ही जीने-मरने वाले हैं।

सर्वतो लोकेभ्य: पुनरावृत्तिर्नतु मां प्राप्य; इति स्फुटयति—

सभी लोकों से अर्थात् उन लोकों में जाकर तो फिर जन्म लेना पड़ता है परन्तु मुझे प्राप्त करके फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। इस बात को खोलते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्ताव्यक्त: सनातन: ।
य: स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

तस्मात्	= उस	**भाव:**	= भाव-अस्तित्व है
अव्यक्त:	= अव्यक्त से	**स:**	= वह (प्रभु) तो
तु	= भी	**सर्वेषु**	= सभी
पर:	= परे	**भूतेषु**	= प्राणियों के
य:	= जो	**नश्यत्सु**	= अदृश्य होने पर भी
अन्य:	= दूसरा	**न**	= नहीं
व्यक्त:	= प्रत्यक्ष	**विनश्यति**	= नष्ट होता (बना ही रहता है।)
सनातन:	= सदा रहने वाला		

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु: परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

---

१. भव इति क० पाठ:।

अव्यक्तः	= अव्यक्त (ही)		यम्	= जिस (अव्यक्त) को
अक्षरः	= अक्षर		प्राप्य	= पाकर (साधक)
इति	= इस रूप में		न निवर्तन्ते	= पुनः (संसार में) नहीं आते
उक्तः	= कहा गया है।		तत्	= वही
तम्	= उसी (भाव) को		मम	= मेरी
परमाम्	= अति उच्च		परमम्	= परम श्रेष्ठ
गति	= प्राप्ति का स्थान		धाम	= स्थिति है।
आहुः	= कहते हैं।			

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यं प्राप्य न पुनर्जन्म लभन्ते योगिनोऽर्जुन ॥२२॥
यस्यान्तः स्थानि भूतानि यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।

पार्थ	= हे अर्जुन !		यं	= जिसे
सः	= वह		प्राप्य	= प्राप्त करके
परः	= पर		योगिनः	= योगिजन
पुरुषः	= पुरुष (परमात्मा तो)		पुनः जन्म	= पुनर्जन्म को
अनन्यया	= अभिन्न (एकमात्र)		न	= नहीं
भक्त्या	= भक्ति से		लभन्ते	= प्राप्त करते।
लभ्यः	= प्राप्त किया जाता है।			
भूतानि च	= और जीव		यत्र (च)	= तथा जिसके आश्रित
यस्य	= जिसके		सर्वम्	= सभी कुछ
अन्तः स्थानि	= अन्दर ठहरे हैं।		प्रतिष्ठितम्	= टिका हुआ है।

उक्त प्रकारं कालसंकलनाविवर्जितं तु वासुदेवतत्त्वम्। व्यक्तम्—सर्वानुगतम्, तत्त्वेऽपि अव्यक्तं—दुष्प्रापत्वात्। तच्च भक्तिलभ्यमित्यावेदितं प्राक्। तत्रस्थं चैतद्विश्वम्। यत् खल्वविनाशि रूपं सदा तथाभूतं, तत्र कः पुनः शब्दस्यावृत्तिशब्दस्य चार्थः। स हि मध्ये तत्स्वभावविच्छेदापेक्षः। न च सदातनविश्वोत्तीर्णविश्वाव्यतिरिक्तविश्व[1]प्रतिष्ठात्मकपरबोध स्वातन्त्र्यस्वभावस्य श्रीपरमेश्वरस्य तद्भावप्राप्तिः, येन स्वभावविच्छेदः कोऽपि कदाप्यस्ति। अतो युक्तमुक्तं—'मामुपेत्य तु'—इति ॥२२॥

(उपर्युक्त श्लोक में) कहे अनुसार वासुदेव का स्वरूप तो काल की गणना-कलना से रहित है। वह प्रकट है अतः सभी में ठहरा है। वैसा होकर भी अव्यक्त ही है, क्योंकि

1. विश्वनिष्ठात्मकेति घ० पाठः।

इसको प्राप्त करना अति कठिन-दुर्लभ है। (वह तत्त्व) तो भक्ति से ही प्राप्त होने वाला है। यह तो हम पहले भी कह आये हैं। उसी (स्वरूप) में तो यह जगत् ठहरा है। अब जो अविनाशी रूप है वह सदा वैसा ही (अविनाशी) है। इसमें 'पुनः' शब्द या 'आवृत्ति' शब्द के जोड़ने का अभिप्राय ही क्या है? भाव यह है कि प्रभु के साथ 'पुनरावर्त्ती' शब्द प्रयुक्त करना व्यर्थ है। वह 'पुनः' या 'आवृत्ति' पद तो उस अविनाशी प्रभु का छेद करने वाले, मध्य-दशा-शरीर के ग्रहण करने पर ही लागू होता है। जो सनातन विश्वोत्तीर्ण, विश्वमय, विश्व का स्थान, पर-बोध स्वातन्त्र्य का अपना स्वभाव है ऐसे परमेश्वर को स्वभाव का विच्छेद कैसे हो सकता है? यदि यह 'पुनरावृत्ति' पद ऐसे अविनाशी प्रभु के साथ लगायें तो उनके अपने तात्विक स्वभाव का विच्छेद न कभी होगा और न है ही। अतः ठीक ही तो कहा—'मामुपेत्य तु' इति। मुझे प्राप्त करने पर (फिर जन्म नहीं होता) आदि।

एवं च सतताभ्यासेन येषां क्लेशं विनैव भगवदाप्तिस्तेषां वृत्तमुक्तम्; इदानीं[1]मुत्-क्रान्त्या येऽपवर्गं भोगं चेच्छन्ति, तेषां कश्चिद्विशेष उच्यते—

इस प्रकार जिन्हें निरन्तर अभ्यास करने से सहज रूप से भगवान् की प्राप्ति होती है, उनका आचरण तो कह आये। इस प्रस्तुत विषय में जो जन, उत्क्रांति से मोक्ष तथा भोग की इच्छा रखते हैं; उनके विषय में कुछ और विशेष उपाय कहते हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरत-ऋषभ = हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन!
यत्र = जिस
काले = काल में
प्रयाताः = मरने के बाद
योगिनः = योगी जन
अनावृत्तिम् = मोक्ष
आवृत्तिम् च = तथा जन्म (भोग) को
एव = ही
यान्ति = प्राप्त होते हैं
तम्-कालम् = उस काल के अर्थात् मार्ग के बारे में (तुम से)
वक्ष्यामि = कहूंगा।

अनावृत्तिः—मोक्षः। आवृत्तिः—भोगाय ॥२३॥

संसार में फिर से न आना—अनावृत्तिः-मोक्ष है। संसार के भोगों को भोगने के लिए फिर जन्म लेना आवृत्ति कहलाती है।

---

१. इदानीं पुनरिति क० पाठः।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अग्नि-ज्योतिः = अग्नि का प्रकाश		**तत्र** = इन (उत्तरायण के छैः महीनों) में	
अहः = दिन (की अधिकता)		**प्रयाताः** = मरने वाले	
शुक्लः = शुक्ल-पक्ष (चांदना पक्ष) है (ऐसे)		**ब्रह्मविदः** = ब्रह्म को जानने वाले	
षण्मासाः = छैः महीने		**जनाः** = साधक (तो)	
उत्तरायणम् = उत्तरायण के (माने गए हैं)		**ब्रह्म** = ब्रह्म-ईश्वर को	
		गच्छन्ति = प्राप्त होते हैं।	

धूमो[1] रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

धूमः = धुआं अर्थात् क्षीण-पक्ष	**तत्र** = ऐसी अवस्था में
रात्रिः = रात (की अधिकता)	**चान्द्रमसम्** = चंन्द्रमा की गति
तथा = और	**ज्योतिः** = दीप्ति को
कृष्णः = कृष्ण-पक्ष (के)	**प्राप्य** = प्राप्त करके
षण्मासाः = छैः महीने	**योगी** = योगी
दक्षिण-अयनम् = दक्षिणायन के (माने गये हैं)	**निवर्तते** = फिर से जन्म लेता है।

उत्तरेण — ऊर्ध्वेन अयनं — षाण्मासिकम् । तच्च प्रकाशादिधर्मकत्वात् दहनादिकैः शब्दैरुपचर्यते । अतो विपरीतं विपर्ययेण । तत्र चन्द्रमसो भोग्यांशानुप्रवेशाद्भोगायावृत्तिः ॥२५॥

उत्तर से—ऊर्ध्व रूप से जो गति छैः मास वाली होती है उसे उत्तरायण कहते हैं। (यहां बाह्य सूर्य के उत्तरायण से तात्पर्य नहीं है। अपितु आन्तरिक षट्-चक्रों के भेदात्मक क्रम से मूलाधार से सहस्रार चक्र तक नीचे से ऊपर की ओर कुंडलिनी के संचार करने की ओर ही संकेत है) इस प्रकार का उत्तरायण षट्चक्र रूप छैः स्थानों का सूचक है। प्रकाश आदि धर्मों के होने से उस उत्तरायण को अग्नि, ज्योति आदि शब्दों से जतलाया जाता है। इसके उलट दक्षिणायन है। वह तो उत्तरायण से विपरीत है। यह चन्द्रमा की गति दक्षिणायन संबन्धी भोग्यांशोंप्रमेय के अंशों में प्रविष्ट होने के कारण पुनर-आवृत्तिः को प्राप्त करता है। (यहां दक्षिणायन वह अवस्था है जब षट्-चक्र भेदन करते हुए उत्तरायण के

---

१. धूमः कृष्णस्तथा रात्रिः, इति क० पाठः ।

प्रतिकूल ऊपर से नीचे की ओर कुंडलिनी का प्रसर हो। इसी लिए इसके लिए धुआं, रात्रि, चन्द्रमा आदि पदों का प्रयोग किया गया है। इसे रहस्य-शास्त्रों में 'पिशाच-आवेश' कहते हैं। यह अवस्था भोग तथा विघ्नों को ही देती है।)

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
अनयोर्यात्यनावृत्तिमाद्ययावर्ततेऽन्यया ॥२६॥

जगतः = जगत् के		**अनयोः** = इन दोनों में से	
हि = तो		**आद्यया** = पहिली (उत्तरायण-गति में मरने पर (साधक)	
एते = यह दो प्रकार के		**अन-आवृत्तिम्** = मोक्ष को	
शुक्ल-कृष्णे = शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष के		**याति** = प्राप्त होता है (और)	
गती = मार्ग		**अन्यया** = दूसरी (दक्षिणायन में प्रयाण करने पर)	
शाश्वते = सनातन			
मते = माने गए हैं।		**आवर्तते** = फिर से जन्म को पाता है।	

अनयोर्गत्योर्मध्यादाद्यया—अनावृत्तिः-मोक्षः। अन्यया भोगः ॥२६॥

इन दो गतियों में से पहिली गति से तो मोक्ष मिलता है और दूसरी गति से भोग—संसार की प्राप्ति होती है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

पार्थ = हे अर्जुन !	**न मुह्यति** = मोह में नहीं फंसता।
एते = इन दोनों	**तस्मात्** = इसलिए
सृती = मार्गों को	**अर्जुन** = हे अर्जुन !
जानन् = (ठीक-ठीक) जानता हुआ	**सर्वेषु** = सभी
कश्चन = कोई भी	**कालेषु** = परिस्थितियों में
योगी = योगी (फिर संसार के प्रलोभनों से)	**योग-युक्त** = योग में लगे
	भव = रहो।

एते सृती यो वेत्ति—आभ्यन्तरेण क्रमेण योगाभ्यासस्वीकृतेनेत्यर्थः। एतच्च वितत्य प्रकाश्यमानं ग्रन्थं विस्तारयतीत्यलम्। सर्वे ये काला आभ्यन्तराः; तद्विषयं योगमभ्यस्येत्। अस्मद्गुरवस्त्वाहुः—सर्वानुग्राहकतया मध्ये आभ्यन्तरकालकृतमुत्क्रान्ति—भेदमभिधाय प्रकृतमेव बाह्यकालविषयं मुख्यं प्रमेयमुपसंहृतम्, 'तस्मात् सर्वेषु कालेषु'—इत्यादिना ॥२७॥

आन्तरिक—भीतरी योग—अभ्यास के करने से जो (साधक) इन दोनों मार्गों को जानता है, (वह कभी मोह में नहीं पड़ता) इस विषय को खोल कर कहा जाय तो ग्रन्थ का विस्तार बहुत बढ़ जायेगा। अतः यह विषय इतने तक ही रहने दिया जाय। जो सभी आन्त-

रिक काल कहे गये हैं उनसे सम्बन्धित योग का अभ्यास करना चाहिए। हमारे गुरुजन तो कहते हैं—सभी को अनुग्रह करने के लिए आभ्यन्तर-काल से वर्णन किए गए 'उत्क्रांति-भेद अर्थात् उपासना को कहकर अब बाह्य-काल से संबन्ध रखने वाले प्रमेय अर्थात् अभ्यास के उपदेश को भी नपे-तुले शब्दों में (यही) कहा कि 'हे अर्जुन ! तुम सदा प्रत्येक परिस्थिति में मुझे ही स्मरण करते रहो। इत्यादि।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अभ्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

योगी	=योगी	**प्रदिष्टम्**	=कही है
इदम्	=इस तत्त्व को	**तत्**	=उस
विदित्वा	=ठीक से जानकर	**सर्वम्**	=सबको
वेदेषु	=वेदों (के स्वाध्याय) में	**एव**	=ही
च	=और	**अभ्येति**	=प्राप्त करता है
यज्ञेषु	=यज्ञ	**आद्यम् च**	=और सनातन
तपः सु	=तप (और)	**परम्**	=उच्च
दानेषु	=दान आदि देने में	**स्थानम्**	=स्थिति को
यत्	=जिस	**उप-एति**	=प्राप्त होता है।
पुण्य-फलम्	=शुभ-फल की प्राप्ति		

अभ्येति—अभिभवति—सर्वकर्मसंस्काराणां भगवत् स्मृत्या विफलीकरणात्। सर्वकर्मपरिक्षये चासौ सुखेनैव विन्दति परं शिवमिति शिवम् ॥२८॥

अभ्येति—पार हो जाता है। उन सभी फलों को तुच्छ समझता है। भगवान् को सदा याद रखे रहने से सभी कर्मों के संस्कार (स्वतः) मिट जाते हैं और संस्कारों के मिटने से (साधक) सहज में ही परशिव की अवस्था को प्राप्त करता है। इति शिवम्।

अत्र संग्रहश्लोकः।

सर्वतत्त्वगतत्वेन विज्ञाते परमेश्वरे।
अन्तर्बहिर्न सावस्था न यस्यां भासते विभुः ॥८॥

सार-श्लोक

परमेश्वर को सभी तत्त्वों में अनुस्यूत जानने पर, वह कोई भी भीतरी या बाहिरी अवस्था नहीं जिसमें कि प्रभु (व्यापक रूप से) दिखाई न दे।

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपाद विरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (अक्षरब्रह्मयोगो नाम) अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रचित गीतार्थ संग्रह का (अक्षर ब्रह्मयोग का नाम) आठवां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ नवमोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१।।

भगवान् बोले

(अहम्) = मैं		**प्रवक्ष्यामि** = कहूंगा	
अन्-असूयवे = डाह से रहित बने हुए		**यत्** = जिसे	
ते = तुम्हें			
इदम् = इस		**ज्ञात्वा** = जानकर (तुम)	
गुह्यतमम् = रहस्य से भरपूर		**अशुभात्** = पापों से	
ज्ञानम् = ज्ञान को			
विज्ञान-सहितम् = अनुभव सहित		**मोक्ष्यसे** = छूट जाओगे ।	

अनसूयत्वं ज्ञानसंक्रान्तौ कारणं मुख्यम् । ज्ञानविज्ञाने—प्राग्वत् ।।१।।

असूया—ईर्षा का अभाव ही ज्ञान में प्रविष्ट होने का मुख्य उपाय है । ज्ञान और विज्ञान को पहिले की भांति (ज्ञान और क्रिया) ही समझना चाहिये ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।।२।।

इदम् = यह (आत्म-ज्ञान)	**राज-गुह्यम्** = (जनक आदि) राजाओं के पास रहस्य रूप से ठहरा है ।
राज-विद्या = विद्याओं का शिरोमणि है ।	
पवित्रम् = (यह) अति पवित्र	
उत्तमम् = उत्तम	**अव्ययम्** = स्थिर (तथा)
प्रत्यक्ष-अवगमम् = शीघ्र ही समझ में आने वाला	**कर्तुम्** = (पालन) करने में
धर्म्यम् = धर्म-युक्त	**सु सुखम्** = सहज है ।

राजते—सर्वविद्यामध्ये दीप्यते या । इहैव ह्युच्यते—'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' इति । राज्ञाम्—जनकादीनामत्राधिकारस्तेषां रहस्यम्—अतिगुप्तत्वात् क्षत्रियसुलभेन वीर-

भावेनाविकल्पत्वात् । कर्तुम्—अनुष्ठातुं सुसुखम् । न चास्य ब्रह्मोपासनात्मनः कर्मणोऽन्य-कर्मवदुपभोगादिना व्ययोऽस्ति ॥२॥

राजते—जो, सभी विद्याओं में चमकती है । यहीं (दसवीं अध्याय में ही) कहते हैं—'विद्याओं में, मैं अध्यात्म-विद्या हूं । जनक आदि राजाओं का ही इस विद्या पर अधि-कार है । अति गुप्त विषय होने से उन्होंने इसे रहस्य रूप से ही रखा है । साथ ही स्वभावतः वीर होने के नाते वे इस विद्या को दृढ़ रूप से निभाने में समर्थ बने हैं । कर्तुम्—इस अध्यात्म विद्या का पालन सुख-पूर्वक किया जा सकता है । दूसरे लौकिक कर्मों की तरह इस ब्रह्म-उपासना का उपभोग आदि होने के कारण व्यय—ह्रास भी नहीं होता । (इसीलिए अव्यय है ।)

अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

परंतप = हे अर्जुन !
अस्य = इस (तत्त्व ज्ञान रूप)
धर्मस्य = धर्म में
अश्रद्धधानाः = श्रद्धा न रखने वाले
पुरुषाः = व्यक्ति (तो)
माम् = मुझे
अप्राप्य = न पाकर
मृत्यु-संसार वर्त्मनि = मृत्यु रूप संसार मार्ग पर
निवर्तन्ते = बार-बार लौट आते हैं ।

निवर्तन्ते— पुनः पुनर्जायन्ते म्रियन्ते च ॥३॥

वे जन, पुनरावृत्ति को प्राप्त करते हैं—बार-बार जन्म लेते हैं और मरते हैं ।

मया ततमिदं कृत्स्नं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

मया = मुझ
अव्यक्त-मूर्तिना = निराकार प्रभु से
इदम् = ये
कृत्स्नं = सम्पूर्ण
जगत् = विश्व
तम् = व्याप्त है ।
सर्व-भूतानि = सभी प्राणी
मत्-स्थानि = मुझ में ठहरे हैं
च = किन्तु
अहम् = मैं
तेषु = उनमें (जड़ रूप से)
न = नहीं
अवस्थितः = ठहरा हूं । (अपितु चेतन रूप से व्यापक हूं ।)

मत्स्थानि सर्वभूतानीति—सुचिरमपि गत्वा अन्यस्य प्रतिष्ठाधाम्नोऽविद्यमानत्वात् । भूतरूपबोध्यात्मकप्रसिद्धतदीयजडरूपपुरःसरीकारेण तदवभासे तद्विपरीतबोधस्वभावतिरोधा-नम् । इत्येतदाह—'न चाहं तेष्ववस्थितः' इति ॥४॥

मुझ में ही सभी प्राणी ठहरे हैं—बहुत समय से मुझसे बिछुड़ने पर भी अन्य किसी जगह ठिकाना न होने के कारण (मुझ में ही ठहरे हैं), जडवर्ग जो (प्रमाता के द्वारा) जाना जाता है, उसके अनुसार तो उससे एकदम भिन्न जो बोध का स्वरूप है, वह यदि इस जड़ का रूप माना जाये तो वह बोध ओझल हो जायेगा। तभी तो यह कहा कि "मैं उन जड़-वर्ग में जड़ रूप से नहीं ठहरा हूं। (मैं तो उसकी भित्ति हूं।)

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन: ॥५॥

भूतानि	= सभी प्राणी	**भूत-भृत्**	= जीवों को धारण करने वाला
च	= भी	**मम**	= मेरा
न मत्स्थानि	= मुझ में नहीं ठहरे हैं।	**आत्मा**	= आत्मा,
मे	= मेरे	**भूत-भावन:**	= प्राणियों का उत्पत्ति करता होकर
योगम्	= (स्वातन्त्र्य-शक्ति के)योग के	**भूत-स्थ:**	= प्राणियों पर निर्भर
च	= भी	**न**	= नहीं है।
ऐश्वरम्	= प्रभाव को		
पश्य	= देखो (कि)		

न च मत्स्थानि—अविद्यान्धानां तत्त्वादृष्टे:। नहि मूढा अविच्छिन्नसंवित्स्वभावं परमेश्वरं समस्तवस्तुपरिच्छेदप्रतिष्ठास्थानं मन्यन्ते। अपितु 'कृशोदेवदत्तोऽहम्, इदं वेद्मि, भूतले इदं स्थिम्'— इति मितमेव स्वभावं प्रतिष्ठास्थानतया पश्यन्ति। ननु कथमेतद्विरुद्धम्? इत्याह—'पश्य मे योगमैश्वरम्'—इति। योग:—शक्ति:—युज्यमानत्वात्। एतदेव ममैश्वर्यं—यदेवं निरतिशयाद्भुतवृत्तिस्वातन्त्र्यमित्यर्थ: ॥५॥

अविद्या से अन्धे बने हुए सांसारिक जन मेरे वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाते—इसीलिए इस श्लोक में कहा कि मुझ में तो वे (प्राणी) ठहरे ही नहीं हैं। अल्पज्ञ जीव तो, व्यापक संवित्-स्वरूप परमेश्वर को, जो सभी वस्तुओं की अवधारणा का आधार बना हुआ है, नहीं जान पाते। इसके उलट वे इतना ही जानते हैं कि 'मैं देवदत्त तो दुबला हो गया हूं। यह वस्तु जानता हूं। पृथ्वी पर ही यह सभी वस्तु-वर्ग टिका हुआ है। इसी सीमित स्वभाव को वस्तु-निष्ठ, प्रतिष्ठा का स्थान समझते हैं।

प्रश्न उठता है—पहिले श्लोक में तो आपने कहा कि (सभी भूत मुझमें ठहरे हैं) अब कह रहे हैं कि मुझमें नहीं ठहरे हैं। इसका समाधान करते हुए कहते हैं—

'पश्य मे योगमैश्वरम्'-मेरे योग के ऐश्वर्य को देखो। योग—शक्ति को कहते हैं जो (जीव को ईश्वर के साथ मिलाने का उपाय है। यही तो मेरा ऐश्वर्य है—अनन्त, अनुपम

वृत्ति रूप स्वतन्त्रता का होना। या यों कहें असीम अद्भुत वृत्ति रूप जगत् की स्थिति का होना ही स्वातन्त्र्य है और वही मेरा परम ऐश्वर्य है। यह तात्पर्य है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

यथा	= जैसे	**तथा**	= वैसे ही
सर्वत्रगः	= व्यापक	**सर्वाणि**	= सभी
वायुः	= वायु	**भूतानि**	= प्राणी
नित्यम्	= सदा	**मत्-स्थानि**	= मुझ में (ही) ठहरे हैं
आकाश-स्थितः	= आकाश में ठहरा (ही) है	**इति**	= ऐसा
		उपधारय	= समझ लो।

एवं हि सर्वभावेषु चराम्यनभिलक्षितः।
भूतप्रकृतिमास्थाय सहैव च विनैव च ॥७॥

एवम्	= इसी भांति	**सर्व-भावेषु**	= सभी पदार्थों में
हि	= तो	**अन-अभिलक्षितः**	= अदृश्य रूप से
(अहम्)	= मैं	**सहैव च**	= उनके साथ विश्वमय भी हूं
चरामि	= व्यापक हूं।	**विनैव च**	= और (विश्वोत्तीर्ण) विलग भी हूं।
भूत-प्रकृतिम् आस्थाय	= प्राणियों की प्रकृति में ठहरा हुआ		

यद्वदाकाशवाय्वोरविनाभाविन्यपि संबन्धे न जातुचिन्नभःस्पृश्यता श्रूयते, एवं सकल-संसारविसार्यपि भगवत्तत्त्वं न सर्वजनविषयम् ॥७॥

जैसे आकाश और वायु का परस्पर अटूट सम्बन्ध होने पर भी, आकाश में स्पर्श का गुण तो कभी सुना नहीं गया कि आकाश को कोई छू पाया। इसी भांति सभी संसार में व्यापक होने पर भी भगवान् का स्वरूप सभी लोगों का विषय नहीं है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥८॥

कौन्तेय	= हे अर्जुन !	**कल्प-आदौ**	= कल्प के प्रारम्भ में
कल्प-क्षये	= कल्प के अन्त में	**तानि**	= उन्हीं (प्राणियों) को
सर्व-भूतानि	= सभी प्राणी	**अहम्**	= मैं
मामिकाम्	= मेरी	**पुनः**	= फिर से
प्रकृतिम्	= प्रकृति को	**वि-सृज्यामि**	= उत्पन्न करता हूं।
यान्ति	= प्राप्त होते हैं (और)		
प्रकृतिम्	= अव्यक्तरूपाम्।		

जो अव्यक्त—प्रकट न दिखाई देने वाली है उसे प्रकृति कहते हैं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥६॥

अहम्	=	मैं	**अवशम्**	=	परतन्त्र बने हुए
स्वाम्	=	अपनी	**इमम्**	=	इस
प्रकृतिम्	=	प्रकृति-शक्ति को	**कृत्स्नम्**	=	सभी
अवष्टभ्य	=	थाम कर	**भूत-ग्रामम्**	=	प्राणियों के समुदाय को
प्रकृतेः	=	स्वभाव के	**पुनः-पुनः**	=	बार-बार
वशात्	=	अनुसार	**विसृज्यामि**	=	उत्पन्न करता हूं।

स्वां प्रकृतिमवष्टभ्य—इत्येतावता जडोऽपि स्वतोऽयं भावग्रामः परप्रकृत्यन्वयात्प्रकाशतां प्राप्तः ॥६॥

अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति को थाम कर—इतना विस्तृत, जड़ होने पर भी यह पदार्थों का समूह पर-प्रकृति के सम्बन्ध से ही सत्तात्मक प्रकाश को प्राप्त हुआ है।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥१०॥

धनंजय	=	हे अर्जुन !	**आसीनम्**	=	ठहरे हुए
तेषु	=	उन	**माम्**	=	मुझ (आत्मा) को
कर्मसु	=	कर्मों में	**तानि**	=	वे
असक्तम्	=	बेलाग रहे हुए	**कर्माणि**	=	कर्म
उदासीनवत् च	=	और निष्पक्ष तटस्थ की भांति	**न**	=	नहीं
			निबध्नन्ति	=	बांधते हैं।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥११॥

कौन्तेय	=	हे अर्जुन !	**सूयते**	=	उत्पन्न करती है।
मया	=	मेरी	**अनेन**	=	इसी
अध्यक्षेण	=	देख-रेख में	**हेतुना**	=	कारण से
प्रकृतिः	=	प्रकृति	**जगत्**	=	यह संसार
सचर-अचरम्	=	जड़ तथा चेतन	**वि-परिवर्तते**	=	आवागमन के चक्र में घूमता है।
(जगत्)	=	विश्व को			

न च मेऽस्ति कर्मबन्धः,— औदासीन्येन वर्तमानोऽहं यतः । अत एवाहं जगन्निर्माणेऽनाश्रितव्यापारत्वाद्धेतुः ॥११ ॥

मुझे तो कर्मों का बन्धन है ही नहीं क्योंकि मैं तो निष्पक्ष होकर ही ठहरा हूं । इसीलिए जगत् को बनाने में मेरा व्यापार-धन्धा किसी और के आसरे नहीं ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमास्थितम् ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥१२॥

मम	=	मेरे	**मानुषीम्**	=	मनुष्य के
अव्ययम्	=	अविनाशी	**तनुम्**	=	शरीर में
अनुत्तमम्	=	अलौकिक	**आस्थितम्**	=	ठहरा हुआ (समझ कर)
परम्	=	श्रेष्ठ	**माम्**	=	मुझे
भावम्	=	रूप को	**अवजानन्ति**	=	(ठीक-ठीक) नहीं जान पाते ।
अजानन्तः	=	न जानते हुए			
मूढाः	=	मूर्ख जन			

सोऽहं सर्वजनान्तःशायी सर्वस्यात्मपररूपतयावज्ञास्पदम्— यन्मानुषादिचतुर्दश[1] विधसर्गव्यतिरिक्त ईश्वरो नोपलभ्यते स कथमस्तीति ।।१२॥

वही मैं, सभी प्राणियों में ठहरा हुआ, सबों का आत्मा होकर भी, भिन्न रूप से जानने पर उपेक्षा का पात्र बना हूं । अतः अज्ञानी जनों की धारणा यह है कि जो ईश्वर, मनुष्य आदि चौदह प्रकार की सृष्टि से विलग कहीं दिखाई ही नहीं देता, उसकी स्थिति कैसे मानी जा सकती है ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
आसुरीं राक्षसीं चैव प्रकृतिं मोहनीं श्रिताः ॥१३॥

वि-चेतसः	=	मूर्ख-अज्ञानी जन (तो)	**राक्षसीम्**	=	राक्षसों की
मोघाशाः	=	व्यर्थ ही आशायें रखने वाले,	**च**	=	और
			आसुरीम्	=	असुरों की
मोघ-कर्माणः	=	व्यर्थ ही कर्म वाले (तथा)	**मोहनीम्**	=	मोह में डालने वाली
			प्रकृतिम्	=	प्रकृति-स्वभाव का
मोघ-ज्ञानाः	=	खोखले ज्ञान वाले होते हैं । (ये तो)	**एव**	=	ही
			श्रिताः	=	आश्रय लेते हैं ।

---

१. चतुर्दशविधत्वं सर्गस्य यथा—
'अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ इति ।

तेषां च कर्म ज्ञानमाकाङ्क्षाश्च सर्वं निष्फलम् —अवस्तुविषयत्वात् । आसुरीं राक्षसीं चेति —उद्रिक्तरजस्तमोधर्माण इति ।

उन (नास्तिकों) के कर्म, ज्ञान और अभिलाषायें सभी बेकार हो जाते हैं। क्योंकि उनके सभी कर्म, अवस्तु - संसारपरक ही होते हैं। (उनकी प्रकृति) आसुरी और राक्षसी होती है—इसमें रजोगुण तथा तमोगुण के धर्म उभरे हुए होते हैं।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।।१४।।

तु	=	किन्तु (इसके उलट)
पार्थ	=	हे अर्जुन !
दैवीम्	=	देवताओं की सी
प्रकृतिम्	=	प्रकृति के
आश्रिताः	=	अधीन हुए
महात्मानाः	=	महात्मा तो
माम	=	मुझे
भूत-आदिम्	=	सभी भूतों का मूल कारण (तथा)
अव्ययम्	=	अविनाशी
ज्ञात्वा	=	जान कर (मेरा)
अनन्य मनसः	=	एकाग्र मन से
भजन्ति	=	अभ्यास करते हैं।

सततं कीर्तयन्तश्च यतन्तश्च यतव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्तया नित्ययुक्ता उपासते ।।१५।।

सततम्	=	सदा
कीर्तयन्तः	=	(मेरा) यशो-गान करते हुए
च	=	और
यतन्तः च	=	(मुझे मिलने के लिए) भरसक यत्न करते हुए
नमस्यन्तः च	=	तथा (मुझे) नमस्कार करते हुए
यत-व्रताः	=	पक्का निश्चय करने वाले (साधक)
भक्त्या	=	लगन से
नित्य-युक्ता	=	सदा मुझी में रमे हुए
माम्	=	मेरी
उपासते	=	उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।।१६।।

अन्ये-अपि च = और भी कई साधक
विश्वतो-मुखम् = जगत् की उत्पत्ति का कारण बने हुए
माम् = मुझे
ज्ञान-यज्ञेन = ज्ञान-यज्ञ से
यजन्तः = पूजते हुए
एकत्वेन = अद्वैत-भावना
च = अथवा
पृथक्त्वेन = भेद-भावना को लेकर
बहुधा = कई प्रकार से
उपासते = पूजते हैं।

दैवीं—सात्त्विकीम्। यजन्तो—बाह्यद्रव्यादियागैः—अन्ये तु मां ज्ञानयज्ञेनैवोपासते। अतः केचित् एकतया—ज्ञानतः। केचित् बहुधा—कर्मयोगात्। मत्परा एव सर्वे ॥१६॥

दैवीं—देवता संबन्धि, सात्त्विक प्रकृति। यजन्तो—पूजा करते हैं—जौ, चावल आदि बाह्य पदार्थों से हवन करते हैं। दूसरे (ज्ञानी-जन) मेरे निकट ज्ञान-यज्ञ से आते हैं। अतः कुछ तो एकतया—अद्वैत रूप ज्ञान से (और) कई अनेक कर्म-योग से (मेरी उपासना करते हैं) इस प्रकार सभी मेरी ओर ही लगे हैं।

ननु कर्म तावत्कारककलापव्याप्रभेदोद्रेकि कथमभिन्नं भगवत्पदं प्रापयतीति ? उच्यते—

पूछते हैं—यज्ञ आदि कर्म तो, अनेक सामग्री आदि साधनों से भेद-भाव से ही उभर आते हैं, भला वे भेद के उत्पादक यज्ञ आदि कर्म, अद्वैत रूप भगवान् के स्थान को कैसे प्राप्त करा पायेंगे ? कहते हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१७॥

अहम् = मैं (ही)
क्रतुः = (स्वातन्त्र्य) शक्ति हूं जो यज्ञ को रचने वाली अनुष्ठात्रि है।
अहम् = मैं (ही)
यज्ञः = बाह्य-यज्ञ, आन्तरिक यज्ञ हूं।
अहम् = मैं (ही)
स्वधा = पितरों के लिए दिया जाने वाला अन्न हूं।
अहम् = मैं (ही)
औषधम् = औषधि हूं।
अहम् = मैं (ही)
मन्त्र = मन्त्र हूं।
अहम् = मैं (ही)
आज्यम् = घी हूं।
अहम् = मैं (ही)
अग्निः = अग्नि हूं।
अहम् एव = और मैं ही
हुतम् = हवन (की प्रक्रिया) भी हूं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता[1] पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार[2] ऋक्साम यजुरेव च ॥१८॥

अस्य	= इस	**पवित्रम्**	= पवित्र
जगतः	= जगत् का	**वेद्यम्**	= जानने योग्य
धाता	= धारण करने वाला	**ओंकार**	= ओं अक्षर (तथा)
पितामहः	= दादा-परदादा	**ऋक्**	= ऋग्वेद,
माता	= मां	**साम**	= सामवेद,
पिता	= बाप	**यजुः**	= यजुर्वेद,
अहम् एव	= मैं ही हूं ।	**अहम् एव**	= मैं ही हूं ।
च	= और		

गतिर्भर्ता प्रभुः[3] साक्षी निवासः शरणं[4] सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१९॥

गतिः	= प्राप्त करने योग्य (लक्ष्य)	**प्रभवः**	= उत्पत्ति (तथा)
भर्ता	= पालने वाला पति	**प्रलय**	= प्रलय करने वाला (मैं ही तो)
प्रभु	= सबका स्वामी		
साक्षी	= पाप-पुण्य को देखने वाला (गवाह)	**निधानम्** **स्थानम्**	= (वह) मूल-भूत तत्त्व हूं (जिसमें)
निवासः	= सबके टिकने का स्थान	**अव्ययम्**	= अविनाशी
शरणम्	= शरण देने वाला (और)	**बीजम्**	= बीज (सूक्ष्म रूप से धरा रहता है)
सुहृत्	= प्रत्युपकार की भावना न रखने वाला सच्चा मित्र	**(अस्मि)**	= हूं ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युञ्च सदसच्चाहमर्जुन ॥२०॥

---

१ पोष्टा ।

२. परावरयोर्ब्रह्मणोर्वाचकः ।

३. नियन्ता

४. आर्तिहन्ता

अर्जुन	=	हे अर्जुन !	**वर्षम्**	=	बर्षा को
अहम् एव	=	मैं ही	**निगृह्णामि**	=	थामता हूं
तपामि	=	(सूर्य के रूप में) तपता हूं ।	**च**	=	और
			उत्सृजामि	=	बरसाता भी हूं ।
अहम् एव	=	मैं ही (तो)	**सत्**	=	सत्
अमृतम्	=	अमृत	**च**	=	और
च	=	और	**असत्**	=	असत् (भी)
मृत्युः	=	मृत्यु हूं ।	**अहम् एव**	=	मैं ही हूं ।

एकस्यैव निर्भागस्य ब्रह्मतत्त्वस्य परिकल्पितसाधनाधीनं कर्म पुनरेकत्वं निर्वर्तयति;---क्रियायाः सर्वकारकात्मसाक्षात्कारेणावस्थाने भगवत्पदप्राप्ति प्रत्यविदूरत्वात् । उक्तं च—

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री, स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका' ।।

(स्प०, ३ नि०, १६ श्लोक०)

इति । मयाप्युक्तं—

'उपक्रमे यैव बुद्धिर्भावाभावानुयायिनी ।
उपसंहृतिकाले सा भावाभावानुयायिनी ।।'

इति तत्र तत्र वितत्य विचारितचरमेतत् इतीहोपरम्यते । **तपाम्यहमित्यादि—अद्वैतकथाप्रसङ्गेनोक्तम्** ।।२०।।

विभाग की भावना से रहित केवल ब्रह्म का स्वरूप, (भले ही) साधनाओं के अधीन (यज्ञ आदि) कर्मों से ठहराया भी क्यों न जाये किन्तु वह फिर भी एक ब्रह्म को ही सिद्ध करेगा । सभी साधनों का रूप बनी हुई यज्ञ आदि क्रियाओं को ब्रह्म रूप मानने से वे क्रियायें तो आत्मा का साक्षात्कार कराने के लिए—भगवान् को प्राप्त करने के लिए अति निकट ठहरी हैं । कहा भी है—

'वही क्रियात्मक शक्तियां शिव को, जीव-भाव में ठहराकर बांधती हैं, अपने स्वरूप से वे जानी जायें तो आत्म-सिद्धि को ही देती हैं ।'

---

* सेयं पारमेश्वरी क्रियाशक्तिरिदमहं करोमि—इत्यादि—भेदावग्रहशालिनिपशौ वर्तमाना हानादानादिक्षोभमयत्वात् बन्धमेवाधत्ते । सैव पुनः "संविदेवेदं सर्वम्" इति शिवशक्त्यात्मकं स्वं मार्गमधितिष्ठन्ती, ज्ञाता सद्य एव तां तां सिद्धिमुपपादयेत् । सिद्धिश्चेयमत्र विवक्षिता—"अविच्छिन्नस्वात्मसंवित्प्रथा सिद्धिरिहोच्यते । सा भोगमोक्षस्वातन्त्र्यमहालक्ष्मीरिहाक्षया ।" इति ।

मैंने भी तो कहा है—(संसार के) प्रारम्भ करने में जो बुद्धि, पदार्थों की उत्पत्ति और संहार में लगी हुई है वही बुद्धि, मोक्ष की अवस्था में उन्हीं पदार्थों के भेदात्मकता अर्थात् भाव को समाप्त करके अभाव अर्थात् अभेदात्मकता के पीछे चलने वाली है ।

इस भांति (हमने) उन प्रसंगों में खोलकर इस विषय पर विचार किया है । अतः यह प्रसंग यहीं पर समाप्त करते हैं। तपाम्यहमिति —इस श्लोक में जो यह कहा कि मैं सूर्य बन कर तपता हूं आदि यह बात तो अद्वैत-कथा को समक्ष रखकर ही कही गई है ।

नन्वेवं यदि बाह्ययागादिनापि ब्रह्माप्तिः, तर्ह्यग्निष्टोमादिष्वपि किमन्यो याज्यः ? अभ्युपगमे भेदवादः, वासुदेव एवेति चेत्; कथं नापवर्गस्तैः ? तदर्थमुच्यते—

प्रश्न उत्पन्न होता है—यदि (कर्म-कांड से युक्त) बाह्य यज्ञ आदि से भी ब्रह्म की प्राप्ति होती है तो अग्निष्ठोम आदि यज्ञ, क्या कुछ भिन्न (विशेष) यज्ञ हैं ? यदि यही बात मानी जाये तो भेद-वाद आ खड़ा होगा । अब यदि यह मानें कि वासुदेव ही सब कुछ है तो फिर इन यज्ञों से मोक्ष क्यों नहीं होगा । इस प्रयोजन से कहते हैं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२१॥

त्रैविद्याः	=	(ऋक्, यजु, साम) तीनों वेदों का अध्ययन करने वाले	**स्वर्गतिम्**	=	स्वर्ग को जाना चाहते हैं ।
			ते	=	वे (साधक)
सोमपाः	=	सोम-रस को पीने वाले (तथा)	**पुण्यम्**	=	अपने पुण्यों से
			सुरेन्द्र-लोकम्	=	इन्द्र-लोक को
पूत-पापाः	=	जिनके पाप धुल चुके हैं (वे)	**आसाद्य**	=	पा कर
			दिवि	=	स्वर्ग में
माम्	=	मुझे	**दिव्यान्**	=	अलौकिक
यज्ञैः	=	यज्ञों के द्वारा	**देव-भोगान्**	=	देवताओं के भोगों को
इष्ट्वा	=	पूज कर	**अश्नन्ति**	=	भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२२॥

ते = वे (स्वर्ग को चाहने वाले)
तम् = उस
विशालम् = अनन्त
स्वर्ग-लोकम = स्वर्ग लोक के भोगों को
भुक्त्वा = भोग कर
पुण्ये = पुण्य-कर्मों के
क्षीणे = समाप्त होने पर (फिर)
मर्त्य-लोकम् = मनुष्य-लोक में
विशन्ति = आ टपकते हैं ।

एवम् = इस भांति
त्रयी-धर्मम् = वेद में कहे हुए सकाम कर्म में
अनु-प्रपन्नः = लगे हुए
काम-कामाः = भोगों को चाहने वाले (साधक)
गत-आगतम् = आने-जाने वाले (संसार को ही)
लभन्ते = प्राप्त करते हैं।

यद्यपि ते मामेव यजन्ते तथापि स्वर्गमात्रप्रार्थनया मितकर्मनिजसत्त्वदुर्बलतया स्वर्गादिमात्रेनैव फलेनावच्छिन्दन्ति। अत एवैषां पुनरावर्तको धर्मः। एवं ते गतागतं लभन्ते, न तु यागस्य पुनरावृत्तिप्रसवधर्मा स्वभावः॥२२॥ तथाहि

यद्यपि वे (अग्निष्ठोम का यज्ञ करने वाले) मेरी ही पूजा करते हैं तथापि केवल स्वर्ग को चाहने से, परिमित कर्म को करके अपने अन्तःकरणों की विवश्यता से, स्वर्ग आदि फल की अभिलाषा करने से, (मोक्ष की भावना में) सीमा बांध देते हैं। अतः इन्हें (यही यज्ञ) पुनर्जन्म को प्राप्त कराने वाला बन जाता है इसी से वे संसार में आते जाते रहते हैं। नहीं तो देखा जाये यज्ञ का तो वास्तविक धर्म पुनर्जन्म को प्राप्त कराना है ही नहीं। यही कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२३॥

[ये] = जो
[अ]नन्याः = केवल-मात्र मुझी को मानने वाले
[ज]नाः = साधक
[मा]म् = मेरी
[चि]न्तयन्तः = धुन में लगे हुए
[पर्यु]-उपासते = (मेरी ही) निरन्तर उपासना करते हैं
[तेष]ाम् = उन

नित्य-अभियुक्तानाम् = सदा आत्म-साधना में लगे हुए भक्तों के
योग-क्षेमम् = योग तथा उस योग के संरक्षण को
अहम् = मैं (ही)
वहामि = धारण करता हूं।

तोभ्योऽन्ये मां चिन्तयन्तः, कथम्? अनन्या-अविद्यमानम् अन्यत् मद्व्यतिरिक्तं कामनीयं फलं येषामिति। योगः—अप्रतिलब्धमत्स्वरूप लाभः। क्षेमं—प्राप्तभगवत्स्वरूपप्रतिष्ठालाभ-परिरक्षणम्। येन योगभ्रष्टत्वशङ्कापि न भवेदित्यर्थः ॥२३॥

उन यज्ञ आदि करने वालों से जो दूसरे (विशेष भक्त) हैं वे मुझे कैसे याद करते हैं? अनन्या एकाग्र बन कर—जिनका (मेरे बिना) दूसरा कोई है ही नहीं—मुझ से भिन्न वांछनीय फल भी जिन्हें नहीं है। जिसे अभी पाया नहीं उस आत्म-स्वरूप की सिद्धि को योग कहते हैं। क्षेमम्—प्राप्त हुए भगवान् के स्वरूप-लाभ की चारों ओर से रक्षा करना क्षेम कहलाता है। इस क्षेम के होने से फिर योग-भ्रष्ट बनने की आशंका कदापि नहीं रहती।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२४॥

कौन्तेय	= हे अर्जुन!	**अपि**	= भी
ये	= जो	**यजन्ते**	= पूजते हैं
भक्ताः	= भक्त	**ते अपि**	= वे भी तो
श्रद्धया-अन्विताः	= श्रद्धा पूर्वक (मेरा ही रूप समझ कर)	**अविधि-पूर्वकम्**	= विधि-विधान के घेरे से बाहर
अन्य-देवताः	= अन्य देवताओं को	**माम् एव**	= मुझी को
		यजन्ति	= पूजते हैं।

1 अयं श्लोकसंदर्भ आचार्यपादैरेव श्रीतन्त्रालोके विवृतः—

"ये बोधाद्व्यतिरिक्तं हि किंचिद्याज्यतया विदुः।
तेऽपि वेद्यं विविञ्चाना बोधाभेदेन मन्वते ॥

तदेकसिद्धा इन्द्राद्या विधिपूर्वा हि देवताः।
अर्हंबोधस्तु न तथा, ते तु संवेद्यरूपताम् ॥
उन्मग्नामेव पश्यन्तस्तं विदन्तोऽपि नो विदुः।
तदुक्तं न विदुर्मां तु तत्त्वेनातश्चलण्ति ते ॥

चलनं तु व्यवच्छिन्नरूपतापत्तिरेव या।
देवान्देवयजो यान्तीत्यादि तेन न्यरूप्यत ॥
निमज्य वेद्यतां ये तु तत्र संविन्मयीं स्थितिम्।
विदुस्ते ह्यनवच्छिन्नं तद्भक्ता अपि यान्ति माम् ॥

सर्वत्रात्र ह्यहंशब्दो बोधमात्रैकवाचकः।
स भोक्तृप्रभुशब्दाभ्यां याज्ययष्टृतयोदितः ॥" इति।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
नतु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्चलन्ति ते ॥२५॥

सर्व-यज्ञानाम्	=	सभी यज्ञों का	**(किन्तु)**	=	पर
हि	=	तो	**ते**	=	वे (सकामी पुरुष)
अहम्	=	मैं	**माम्**	=	मुझे
एव	=	ही	**तत्त्वेन**	=	ठीक से
भोक्ता	=	अनुभव करने वाला	**न**	=	नहीं
च	=	और (मैं ही)	**अभि-जानन्ति**	=	जान पाते
प्रभुः	=	फल देने वाला	**अतः च**	=	तभी तो
च	=	भी (हूं)	**चलन्ति**	=	(अपने लक्ष्य से) डग-डिग जाते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२६॥

देवव्रताः	=	देवताओं की पूजा में लगे हुए (साधक)	**इज्या**	=	पूजा करने वाले
देवान्	=	देव-लोक को	**भूतानि**	=	भूत-योनि को ही
यान्ति	=	जाते हैं।	**यान्ति**	=	प्राप्त होते हैं
पितृव्रताः	=	पितरों के उपासक	**अपि**	=	किन्तु
पितॄन्	=	पितृ-लोक को	**मत्**	=	मेरे
यान्ति	=	प्राप्त करते हैं।	**याजिनः**	=	पूजक (भक्त)
भूत	=	भूत-प्रेतों की	**माम्**	=	मुझे (ही)
			यान्ति	=	प्राप्त करते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२७॥

यः	= जो (भक्त)		**प्रयतात्मनः**	= उस प्रयत्न करने वाले (साधक के)
पत्रम्	= पत्ते		**भक्ति-उपहृतम्**	= भक्ति से दिए गए
पुष्पम्	= फूल		**तत्**	= (फूल आदि) उस (भेंट) को
फलम्	= फल (और)		**अहम्**	= मैं
तोयम्	= जल (आदि देकर)		**अश्नामि**	= (सहर्ष) स्वीकार करता हूं।
मे	= मुझे			
भक्त्या	= भक्ति से			
प्रयच्छति	= रिझाता है,			

येऽपि च नामधेयान्तरैरुपासते तेऽपि मामेवोपासते। नहि ब्रह्मव्यतिरेकि किंचिदुपास्यमस्ति। किन्तु अविधिनेति विशेषः। अविधिः—अन्यो विधिः, नानाप्रकारैर्विधिभिरहमेव परंब्रह्मसत्तास्वभावो याज्य इति। ननु यथान्यैर्दर्शनान्तरदूषणसमुपार्जितमहापातकमलीमसैर्व्याख्यातम्-अविधिना-दुष्टविधिनेति। एवं हि सति 'मामेव यजन्ते, सर्वयज्ञानां चाहमेव भोक्ता'—इति दृश्यमानमेतदसमञ्जसीभवेत्। इत्यलं कल्मषकलिलैः साकं संलापेन। अस्मद्गुरुवस्तु निरूपयन्ति,—अन्यास्वात्मव्यतिरिक्ता भेदवादनयेन ब्रह्मस्वभावहीनैव काचिद्देवता - इति गृहीत्वा तामेव यजन्ते। तेऽपि वस्तुतो मामेव—स्वात्मरूपं यजन्ते; किन्तु अविधिना - दुष्टेन विधिना भेदग्रहणरूपेनेति। अत एवाह—नतु मां—स्वात्मानं तत्त्वेन-देवतारूपतया भोक्तृत्वेन जानन्ति, अतः चलन्तेमद्रूपात्। किं देवव्रतत्वेन देवान्यान्ति—इत्यादि एतदेव चलनमिति यावत्। ये तु मत्स्वरूपमभेदेन विदुस्ते देवभूतपितृयागादिनापि मामेव यजन्ते। ते च मद्याजिनो मामेव गच्छन्तीत्युपसंहरिष्यति। ननु द्रव्यत्यागार्थमुद्दिष्टा देवतेत्युच्यते, तत्कथमनुद्दिश्य स्वात्मतत्त्वस्य याज्यत्वम् 'आदित्यः प्रापणीयः[1] चरु'—इति विधिशेषभूतदेवतोद्देशात्मकविध्यन्तरभावितो[2] ह्यसावुद्देशः न च स्वात्मविषयो विधिरस्ति-इत्यभिप्रायेणाह 'अविधिपूर्वकं मामिति'। स्वात्मव्यतिरिक्तायां देवतायामस्ति अपेक्ष्यो विधिः – अप्राप्तप्रापणरूपत्वात्। स्वात्मा तु परमेश्वरो न विधिपूर्वको—विधिपरिप्रापितत्वाभावात्। नहि तदनुद्देशेन किंचित्प्रवर्तते। तेन विधिपरिप्रापितेन्द्रादिदेवतोद्देशेषु सर्वेषु स स्वात्मा विश्वावभासनस्वभावः तदुद्देश्यदेवतावभासभित्तिस्थानीयतयैवाहमहमिकया सततावभासमानः स्रक्सूत्रकल्पः सततोद्दिष्ट इति युक्तसिद्धमेतत् मामेव यजन्ति-अविधिपूर्वकत्वात्।

---

१. प्रयागीय इति ग० पाठः।

२. विध्यन्तरप्रभावित इति ख० पाठः।

मुख्यभूतमत्प्राप्तिफलस्य तान्प्रति कर्त्रभिप्रायत्वं नास्ति, अपितु परिमितदक्षिणास्थानीयेन्द्रा[1]दिपदमात्राप्राप्तेरेव[2] याजकवच्चरितार्थत्वमेषाम् —इति प्रथयितुं परस्मैपदम्। यदुक्तं मयैव—

> "वेदान्वेद न वेद शांभवपदं दूयेत निर्वेदवान्
> स्वर्गार्थी यजमानतां प्रतिजहज्जातो यजन्याजकः।
> सर्वाः कर्मरसप्रवाहप्रसराः[3] संवित्स्रवन्त्योऽखिला-
> स्त्वामानन्दमहाम्बुधिं विदधते नाप्राप्य पूर्णां स्थितिम् ॥"

इति ॥२६॥

अब जो अन्य (इन्द्र आदि देवताओं) का नाम ले लेकर उपसना करते हैं, वे भी मेरी ही पूजा करते हैं। ब्रह्म से भिन्न तो कोई भी उपास्य देव है ही नहीं। (अतः वे) विधि-पूर्वक मेरा पूजन नहीं करते किन्तु अविधि पूर्वक मुझे उपासते हैं। इतना अन्तर है। अविधि—दूसरी विधि से। भिन्न-भिन्न प्रकार की विधियों से भी तो मैं ही पर-ब्रह्म-सत्ता, जो सबों का स्वरूप ही है पूजा जाता हूं। (इस अद्वैत-शास्त्र से भिन्न) जो अन्य भेद प्रधान शास्त्र से प्राप्त किये हुए मलिन अन्तःकरण वाले हैं, वे अविधि का अर्थ 'दुष्टविधि मानते हैं। (इस भांति वे यज्ञ आदि कर्मों को ही 'दुष्ट-विधि' कहते हैं) यदि यही बात मानी जाती तो 'मामेव यजन्ते'—मुझे ही 'सर्वयज्ञानां चाहमेव भोक्ता'—सभी यज्ञों का, मैं ही भोगने वाला हूं—इस प्रकार के वाक्य जो हमने पढ़े हैं, वे तो बेकार पड़ जायेंगे। अच्छा ऐसे पाप से ढके हुए व्यक्तियों के साथ बात कहां तक की जाये। चुप रहना ही ठीक है।

हमारे गुरुजनों ने इस श्लोक का निर्णय यों किया है—(जो अन्य देवताओं के उपासक) अन्या—स्वात्मा से भिन्न, भेदवाद की नीति से, अद्वैत-ब्रह्म-स्वरूप से रहित किसी देवता को लक्ष्य में रखकर, उसी की उपासना करते हैं, वे भी वास्तव में मामेव—मुझ स्वात्म रूप का ही यज्ञ करते हैं। किन्तु अविधिना—दुष्ट-विधि से—भेद-भावना को लेकर (यज्ञ करते हैं) इसलिए कहते हैं—न तु मां—मुझ स्वात्मा को वास्तविक रूप में देवता रूप से ही भोक्ता जानते हैं। या यों कहें कि वे जन मेरे स्वरूप को देवता का रूप नहीं जानते हैं और मुझे वास्तव में भोक्ता नहीं मानते हैं। इसीलिए मेरे स्वरूप की प्राप्ति से डिग जाते हैं—मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। (ऐसे जन) क्या देवताओं का व्रत रखने से देव-लोक को प्राप्त करते हैं इत्यादि (जो भी कुछ ऐसे उपासकों के प्रति कहा जाता है) यही स्वरूप-प्राप्ति से भटकना है। अब जो (साधक) मेरे स्वरूप को अभेद रूप मे तथा मुझसे अभिन्न बन कर इन्द्र आदि देवताओं को जानते हैं वे देवताओं, भूतों, पित्रों का यज्ञ करने पर भी मुझ स्वात्मा

---

१. इन्द्रपदादिमात्रेति क० पाठः।
२. प्राप्तय एवेति घ० पाठः।
३. विरसा इति क०, घ० पाठः।

का ही यज्ञ करते हैं। इस भांति वे, मेरा अभेद रूप से यज्ञ करने वाले मुझे ही प्राप्त होते हैं। अतः इतना ही कह कर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं।

अब प्रश्न आ उपस्थित होता है कि जौ आदि द्रव्य वस्तुओं का होम करते हुए तो देवताओं का नाम लेकर उनके लिये आहुति दी जाती है, किन्तु यह स्वात्म-यज्ञ कैसे स्वात्मा का नाम लिये बिना ही किया जायेगा। 'आदित्यः प्रापणीयः चरु'—सूर्य को चरु (आहुति) पहुंचानी चाहिये—इस प्रकार के विधि रूप आदेशों के अनन्तर शेष जो दूसरा विधि—वाक्य आता है, जिसमें सूर्य आदि देवता का नाम लिया जाता है, उसी दूसरी विधि से प्रदर्शित यह पहिला उद्देश्य है। भाव यह है—देवताओं का यज्ञ उनका नाम लेकर ही किया जाता है। जैसे—सूर्याये स्वाहः आदि, पर स्वात्म-यज्ञ के लिये तो कोई विधि-वाक्य नहीं कहा गया—जैसे—स्वात्मने स्वाहः—यह तो कोई नहीं कहता। इसी अभिप्राय से कहा है—अवधिपूर्वकं मामिति—मेरी विधि कोई भी नहीं है। स्वात्मा से भिन्न इन्द्र आदि देवताओं में ही विधि की अपेक्षा रहती है—इन्द्र आदि देव अप्राप्य हैं अत. वे विधि के द्वारा नियमित अनुष्ठान से प्राप्त किये जाते हैं, पर स्वात्मा परमेश्वर किसी विशेष विधि से प्राप्त नहीं होते। (वे तो सदा हैं ही, उन्हें प्राप्त करना क्या माने रखता है) उन—ईश्वर के नाम अर्थात् सत्ता के बिना तो कुछ भी नहीं टिक सकता। अतः सिद्ध यह हुआ कि विधि-पूर्वक—विधि-वाक्यों से नियम-बद्ध बने हुए उन सभी इन्द्र आदि देवताओं के नामों से वही जगत् का प्रकाशक स्वात्मा परमेश्वर, अहंभाव से सभी नामों का आधार बना हुआ है तथा उसी भांति सभी इन्द्र आदि के नामों में सदा उपस्थित है जैसे माला में तागा पिरोया गया है। अतः वे इन्द्र आदि देवों के याजक मेरी उपासना करते हैं क्योंकि मैं अविधि पूर्वक हूं। इस श्लोक में 'यजन्ति' पद का प्रयोग 'परस्मैपद' के रूप में इस अभिप्राय से किया है कि उन इन्द्र आदि देवों के याजकों को उस यज्ञ में कर्त्तापन का अभिप्राय नहीं होता। उन सभी यज्ञों का जो स्वरूप-लाभ-रूप मुख्य फल है, वह उन्हें प्राप्त नहीं होता अपितु पुरोहित की भांति उन्हें परिमित दक्षिणा की भांति इन्द्र आदि पद-मात्र की ही प्राप्ति होती है। जैसे यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को परिमित दक्षिणा मात्र से प्रयोजन है, स्वर्ग-प्राप्ति से कोई मतलब नहीं, वैसे ही उन्हें (सकाम यज्ञ के उपासकों को) इन्द्र आदि पद की प्राप्ति में ही संतुष्टि है। अतः वे मुख्य प्राप्त करने योग्य स्वरूप-लाभ रूप फल को नहीं प्राप्त कर पाते। इस विषय को लेकर मैंने भी कहा है—

(द्वैत में ठहरा हुआ साधक) वेदों को तो जानता है, पर शांभवपद स्वात्मा को नहीं जान पाता। (इसीलिए) निर्वेद—वैराग्यवान् साधक (अपने में) बिसूरता—प्रभु का स्मरण करता रहता है। ऐसा पुरुष यजमानता को छोड़कर याजक पुरोहित ही बना रहता है। (बात तो यों है) ये सभी कर्म रूपी नदियों के बहाव तो संवित्-रस को ही उगलती हैं। किन्तु पूर्ण स्थिति को प्राप्त किये बिना; स्वात्म-आनन्द के महान् समुद्र को (ये यज्ञ आदि कर्म) नहीं प्राप्त कर पाते।

एवं य उक्तक्रमेण वेत्ति, तस्येन्द्रादिदेवतायागोऽपि परमेश्वरयाग इति, यदप्यन्यत्कर्म तदपि महेश्वरस्वात्मार्चनरूपं तस्यैव सर्वत्तोद्देशात्—इत्याह—

ऊपर कहे हुए इस क्रम से जो जानता है उसे इन्द्र आदि देवताओं का यज्ञ भी परमेश्वर का यज्ञ ही है। जो भी अन्य कर्म हैं वे भी स्वात्मा महेश्वर की ही पूजा है। ऐसे साधक के लिए तो सब कुछ परमेश्वर का ही स्वरूप है क्योंकि प्रभु का ही तो सभी जगह बोल-बाला है। यही कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२८॥

कौन्तेय = हे अर्जुन !
यत् = जो (भी तुम)
करोषि = कर्म करते हो
यत् = जो (कुछ भी)
अश्नासि = खाते हो
यत् = जो (कुछ)
जुहोषि = हवन करते हो
यत् = जो (भी)
ददासि = दान देते हो
यत् = जो
तपस्यसि = तपस्या करते हो
तत् = वह (सभी कर्म तुम)
मत् = मुझ में लगे हुए मन से
अर्पणम् = (मेरे ही) अर्पण
कुरुष्व = करो।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥२९॥

एवम् = इस प्रकार
संन्यास-योग युक्त-आत्मा = कर्मों को मुझे अर्पण करने रूप संयास योग से युक्त, अनासक्त मन वाले (तुम)
शुभ-अशुभ-फलैः = पुण्य और पाप रूप फलों के
कर्म-बन्धनैः = क्रियात्मक झंझटों से
मोक्ष्यसे = छूट जाओगे।
च = और
विमुक्त = बंधनों से मुक्त होकर
माम् = मुझे (ही)
उप-इष्यसि = प्राप्त होओगे।

देवतान्तरयाजिनो यतो मितमनोरथाः फलं लभ्यन्ति अतस्त्वं सर्वं प्रागुक्तोपदेश क्रमेण मदर्पणं—मन्मयत्वेन भावनं कुरु। एष एव च संन्यास योग। इति विस्तीर्णं विस्पष्टप्रायं पुरस्तादेव ॥२९॥

अन्य देवताओं के उपासक तो परिमित कामनाओं को लेकर वास्तविक स्वरूप साक्षात्कार रूप फल का मोल (बिल्कुल) घटा देते हैं। इसलिए तुम सभी, पहिले कहे गए उपदेश के अनुसार मुझे ही कर्म सौंप कर, मेरे ही रंग में रंग कर सभी कार्य करते रहो। यही संन्यास योग है। इस विषय को खोल कर स्पष्ट शब्दों में आगे कहेंगे।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥३०॥

अहम् = मैं (तो)
सर्व-भूतेषु = सभी जीवों में
समः = समान रूप से (ही) ठहरा हूं।
मे = मुझे
न = न (तो कोई)
द्वेष्यः = अप्रिय
अस्ति = है।
न च = और नहीं (कोई)
अपि = भी
प्रियः = प्रिय है।
ये = जो भक्त
तु = भी
माम् = मुझे
भक्त्या = प्रेम से
भजन्ति = स्मरण करते हैं
ते = वे
मयि = मुझ में (ठहरे हैं)
च = और
अहम् = मैं
तेषु = उन में ठहरा हूं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३१॥

चेत् = यदि कोई
सुदुराचारः = बहुत ही बुरा आचरण करने वाला (पापी)
अपि = भी
अनन्य भाक् = पूर्ण रूप से मुझ में लगा हुआ
माम् = मुझे
भजते = भजता है—स्मरण करता है
सः = वह
साधुः = साधु
एव = ही
मन्तव्यः = मानने योग्य है
हि = क्योंकि
सः = वह
सम्यक् = ठीक
व्यवसितः = निश्चय करने वाला है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानेऽहं न मद्भक्तः प्रणश्यति ॥३२॥

कौन्तेय	=	हे अर्जुन! (इस प्रकार मुझ में लौ लगाने वाला भक्त)	(अहम्)	=	(मैं)
क्षिप्रम्	=	(विघ्नों के बिना) शीघ्र ही	**प्रतिजाने**	=	प्रतिज्ञा करता हूं
धर्मात्मा	=	संवित्—धर्म-परायण	**यत्**	=	कि
भवति	=	हो जाता है (और)	**मे**	=	मेरा
शश्वत्	=	सनातन	**भक्तः**	=	(प्रिय) भक्त (फिर)
शान्तिम्	=	परम शान्ति को	**न प्रणश्यति**	=	अपने लक्ष्य से नहीं डिगता।
निगच्छति	=	प्राप्त होता है।			

प्रतिजाने इति :—युक्तियुक्तोऽयमर्थो भगवत्प्रतिज्ञातत्वात्सुष्ठुतमां दृढो भवति ॥३२॥

मैं (तुम्हें) वचन देता हूं। यह उपदेश सोलह आने ठीक है क्योंकि भगवान् की प्रतिज्ञा के फल-स्वरूप यह उपदेश मन में पैठने वाला तथा समझने में सहज बनता है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३३॥

पार्थ	=	हे अर्जुन!	**ये**	=	जितनी
हि	=	क्योंकि	**अपि**	=	भी (योनियां)
स्त्रियः	=	अल्पज्ञ स्त्रियां	**स्युः**	=	हैं
वैश्याः	=	वैश्य (और)	**ते**	=	वे
शूद्राः	=	(सेवा में लगे हुए) शूद्र	**अपि**	=	भी
तथा	=	और	**माम्**	=	मेरी
पाप-योनयः	=	(भोग-भूमि में जकड़े हुए) पशु, पक्षी, सांप आदि	**व्यपाश्रित्य**	=	शरण आकर (मुझे स्मरण करने पर)
			पराम्	=	उत्तम
			गतिम्	=	गति को (ही)
			यान्ति	=	प्राप्त करती हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम ॥३४॥

पुनः	= फिर	**असुखम्**	= सच्चे सुख से रहित,
किम	= क्या कहें (उसके प्रति जो)	**अनित्यम्**	= सदा न रहने वाले
पुण्याः	= पुण्यवान्	**इमम्**	= इस
ब्राह्मणाः	= ब्राह्मण	**लोकम्**	= मनुष्य शरीर को
भक्ताः	= मेरा भक्त हो।	**प्राप्य**	= प्राप्त करके
राजा-ऋषयः	= राज-ऋषि हो। (अतः त्वम् अपि) इस लिए तुम भी	**माम्**	= मेरा (ही)
		भजस्व	= भजन-अनुस्मरण करो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३५॥

(त्वम्)	= तुम	**एवम्**	= इस प्रकार
मत्-मनाः	= मुझ में टिकाए हुए मन वाले	**मत् परायणः**	= मेरे शरण हुए (तुम)
भव	= बनो।	**आत्मानम्**	= आत्मा को
मत्-भक्तः	= मेरा भक्त	**युक्त्वा**	= (मुझ में) जुटा कर,
भव	= बनो।	**माम**	= मुझ को
माम्	= मुझे	**एव**	= ही
नमस्-कुरु	= नमस्कार करो।	**एष्यसि**	= प्राप्त करोगे।

पापयोनयः—पशुपक्षिसरीसृपादयः । स्त्रिय इत्यज्ञाः । वैश्या इति—कृष्यादिकर्मान्तररताः । शूद्रा इति—कात्स्न्येन वैदिकक्रियानधिकृताः । परतन्त्रवृत्तयश्च । तेऽपि मदाश्रिता मामेव यजन्ते । (गजेन्द्रमोक्षणादीनि चरितानि हि परमकारुणिकस्य भगवतः सहस्रशः श्रूयन्ते) किमङ्ग पुनरेतद्विपरीत वृत्तयः । केचिदाचक्षते—'द्विजराजन्यप्रशंसापरमेतद्वाक्यं न तु स्त्र्यादिष्वपवर्गप्राप्तितात्पर्येण' इति । ते हि भगवतः सर्वानुग्राहिकां शक्ति मितविषयतया खण्डयन्त तथा परमेश्वरस्य परमकृपालुत्वम सहमानाः 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः', 'अपि चेत्सुदुराचारः इत्यादीन्यन्यानि चैवंप्रकारस्फुटार्थ—प्रतिपादकानि वाक्यानि विरोधयन्तो निरतिशययुक्ति

प्रपञ्चसाधिताद्वैतभगवत्तत्त्वे भेदलिङ्गं बलादेवानयन्तो अन्यांश्चागमविरोधानचेतयमाना:, 'कथमिदं कथमिदं'—इति पर्यनुयुज्यमाना यदि परमन्तर्गर्भीकृतजात्यादिमहाग्रहाविष्टान्त:करणा: मात्सर्यावहित्थ लज्जाजिह्मीकृतावाङ्मुखदृष्टय: समग्रस्य जनस्यासत्प्रलापिन इति हास्यरसविषयभावमात्मन्या रोपयन्ति। यत्पूर्वैव व्याख्या सर्वस्य करोति शिवमिति शिवम् ।।३५।।

पशु, पंखी, सांप आदि को पाप-योनि कहते हैं। स्त्री शब्द अनजान अर्थात् मूर्खता का द्योतक है। जो खेती-बाड़ी के काम में लगे हुए व्यक्ति हैं वे वैश्य कहलाते हैं। वैदिक क्रिया-कलाप के अधिकारी न होने के कारण जो पूरी तरह दूसरे के अधीन रहते हैं वे शूद्र कहलाते हैं। वे भी मेरे ही सहारे रह कर मेरी ही उपासना करते हैं। (गजराज और मगरमच्छ की पारस्परिक गाथाओं में हाथी को मोक्ष की पदवि प्रदान करने में परम-कृपालु भगवान् के स्वभाव की कोमलता तो हजारों वार्ताओं में सुनते ही हैं।) हे सुहृत् ! तब भला इस पशु-वृत्ति विपरीत आचरण वाले मनुष्यों का कहना ही क्या है ? कई व्याख्या करने वाले तो इस ऊपर कहे गए श्लोक को ब्राह्मणों और क्षत्रियों की प्रशंसा के आधार पर ही लिखा गया मानते हैं। वे कहते हैं कि यह श्लोक, स्त्रियों आदि अल्पज्ञ जनों को भी मोक्ष मिल सकता है—इस प्रयोजन से नहीं कहा गया है इस प्रकार की व्याख्या करते हैं। वे जन वास्तव में (ऐसा कह कर) भगवान् की सर्व-अनुग्राहिका-शक्ति को परिमित विषय के द्वारा संकुचित बनाते हैं वे परमेश्वर की परम-कृपालु होने के स्वभाव को सहन नहीं कर पाते। वे तो भगवान् के द्वारा कहे गए ('न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय:' और 'अपि चेत्सुदुराचार:' आदि श्लोकों से जिनमें स्पष्ट शब्दों में (जाति-पाति के भेद को हटाकर) सिद्ध किये हुए सिद्धान्त का विरोध करते हैं—ऐसे अर्थ को जतला कर वे तो जान-बूझ कर अनेक युक्तियों से सिद्ध किए हुए अद्वैत रूप भगवान् के स्वरूप पर भेद का आरोपण बलजोरी करते हैं। इसके अतिक्ति शास्त्रों में वर्णित (गजेन्द्र-मोक्ष-अहल्या-उद्धार; काकभुषण्ड-मोक्ष आदि) वार्ताओं में विरोध के आ उपस्थित होने का विचार भी नहीं करते। केवल इतना ही कहते रहते हैं कि स्त्रियां जो पाप-योनि हैं उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है। वे जन, भीतर में स्थित जाति-भेद आदि भयंकर ग्रह से घिरे हुए अन्त:करणों वाले होते हैं। वे लज्जा से नीचे झुके हुए नेत्रों वाले, सभी जनों के सामने व्यर्थ बकवाद करने वाले होकर (विद्वानों के सामने) हंसी के पात्र ही बनते हैं।

---

१. स्मर्यते हि मार्कण्डेये परमेश्वरानुगृहीतमहर्षिवरप्रभावेण पक्षिनामुत्तमाधिकारित्वलाभेन बाल्य एवातिशीघ्रमेव तत्त्वसाक्षात्कारलाभ:, जैमिनीं प्रति पुराणवक्तृत्वं च। वासिष्ठे च श्री सरस्वतीकरकमलस्पर्शप्रभावेण भुसुण्डप्रमुखानां काकानां तत्त्वसाक्षात्कार:। तत्र भुसुण्डस्य वसिष्ठं प्रति वक्तृत्वं च स्मर्यते, काश्यां म्रियमाणानां च सर्वेषां स्थावराणां कृम्यादीनां च विश्वेशप्रसादात् तारकोपदेशप्राप्त्या मोक्षस्मरणाच्च। एवं च परमेश्वरानुगृहीतानां किं किं न संभाव्यते इति।

(हम तो यही कहेंगे कि) सभी श्लोकों की व्याख्या जैसे हम पीछे कर आये हैं वही सबों का कल्याण करने वाली है। इति शिवम्।

अत्र संग्रह श्लोकः

अद्वैते ब्रह्मणि परा सर्वानुग्रहशालिनी।
शक्तिर्विजृम्भते तेन यतनीयं तदाप्तये ॥९॥

सार-श्लोक

सबों को अनुग्रह करने से सुशोभित बनी हुई परा-शक्ति, जो अद्वैत-ब्रह्म में ठहरी है, वही तो विकास को प्राप्त हुई है। अतः उसको प्राप्त करने के लिए ही भगीरथ प्रयत्न करना चाहिए।

इति श्री महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम) नवमोऽध्यायः।

श्रीमहामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त जी द्वारा रचित गीतार्थ-संग्रह का (राजविद्याराज गुह्ययोग नाम का) नववां अध्याय समाप्त हुआ।

———

अथ
दशमोऽध्यायः।

प्राक्तनैर्नवभिरध्यायैर्य एवार्थो लक्षितः स एव प्रतिपदपाठैरस्मिन्नध्याये प्रतायते। तथा चाह—'भूय एव'—इति। उक्तमेवार्थं स्फुटीकर्तुं[1] पुनः कथ्यमानं शृण्विति। अर्जुनोऽप्येवमेवाभिधास्यति—'भूयः कथय इति—इत्यध्यायतात्पर्यम्। शिष्टं निगदव्याख्यातमिति किं पुनरुक्तेन। संदिग्धं तु निर्णेष्यते।

पिछली नव अध्यायों में जिस अर्थ को लेकर बात छेड़ी है, उसी विषय को इस अध्याय में भिन्न-भिन्न रूप से पुनः दोहराते हैं। इसी लिए तो कहा है—'भूय एव' - फिर वही पहिले कही बात को खोल कर फिर से सुनो। अर्जुन भी तो इसी भांति आगे कहते हैं—'भूयः कथय' इति— मुझे फिर वही बात दोहराइये। यह इस अध्याय का तात्पर्य है। शेष व्याख्या तो हम कर ही चुके हैं। फिर दोहराने से क्या? किन्तु संशय का समाधान तो अवश्य किया जायेगा।

---

१. विस्पष्टीकर्तुमिति क० पाठः।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।।१।।

भगवान् बोले

महाबाहो	=	हे बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन ।
मे	=	मेरे
परमम्	=	उत्तम
वचः	=	उपदेश को
भूयः	=	फिर (एक बार)
एव	=	ही
श्रृणु	=	सुनो
यत्	=	तो,
अहम्	=	मैं
ते	=	तुम्हें
प्रीयमाणाय	=	अपना प्रिय समझ कर
हित-काम्यया	=	तुम्हारा कल्याण चाहने के लिए (इस उपदेश को फिर से)
वक्ष्यामि	=	कहूंगा ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं[1] न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महीर्षीणां च सर्वशः ।।२।।

मे	=	मेरे
प्रभवम्	=	प्रभाव को
न	=	न
सुर-गणाः	=	देवता जन
विदुः	=	जानते हैं
च	=	और
न	=	न
महर्षयः	=	महान् ऋषि (ही)
विदुः	=	जानते हैं
हि	=	क्योंकि
अहम्	=	मैं (ही)
सर्वशः	=	सब प्रकार से
देवानाम्	=	देवताओं का
(च)	=	और
महर्षीणाम्	=	महर्षियों का
आदिः	=	मूल कारण हूं ।

१. प्रभावमिति घ० पाठः ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

यः	= जो		**सः**	= वह
माम्	= मुझे		**मर्त्येषु**	= मनुष्यों में
लोक-महेश्वरम्	= लोकों का महान ईश्वर		**असंमूढः**	= ज्ञानवान् (पुरुष)
च	= और		**सर्व-पापैः**	= सभी पापों से
अजम्	= जन्म-रहित		**प्रमुच्यते**	= छूट जाता है ।
अनादिम्	= सनातन			
वेत्ति	= जानता है			

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

बुद्धिः	= निश्चय करने की शक्ति,		**शमः**	= मन को रोकना,
ज्ञानम्	= तत्त्व-ज्ञान,		**सुखम्**	= सुख,
असंमोहः	= उत्साह		**दुःखम्**	= दुःख,
क्षमा	= क्षमा,		**भवः**	= उत्पत्ति,
सत्यम्	= सत्य (तथा)		**भावः**	= पदार्थ
दमः	= इन्द्रियों पर काबू पाना,		**च**	= और
			भयम्	= डर
			अभयम्	= निडरपना
			एव च	= भी

असंमोहः = उत्साह ।

असंमोह उत्साह को कहते हैं ।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

अहिंसा	=	(मन, वाणी तथा कर्म से) किसी भी प्राणि को दुःख न देना,
समता	=	सभों में सम रूप से ईश्वर को देखना
तुष्टिः	=	संतोष,
तपः	=	तपस्या,
दानम्	=	दान,
यशः	=	कीर्ति,
अयशः	=	अपकीर्ति,
एवम्	=	ऐसे ही (यह)
भूतानाम्	=	जीवों के
पृथग्-विधाः	=	अनेक प्रकार के
भावाः	=	सुख-दुःख की अनुभूति,
मत्तः	=	मुझसे (मेरी सत्ता से)
एव	=	ही
भवन्ति	=	(उत्पन्न) होती है।

महर्षयः[1] सप्त पूर्वे[2] चत्वारो[3] मनवस्तथा।
म[4]द्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

पूर्वे	=	पहिले होने वाले
सप्त	=	सात
महर्षयः	=	महान् ऋषि
तथा	=	और
चत्वारः	=	चार (सनक आदि ऋषि)
मनवः	=	स्वायंभुव आदि चौदह मनु,
एते	=	यह
मत्-भावाः	=	मेरे में भाव रखने वाले (सभी)
मानसाः	=	मेरी इच्छा से (ही)
जाताः	=	उत्पन्न हुए हैं,
लोके	=	संसार में
येषाम्	=	जिनकी
इमाः	=	यह (सभी)
प्रजाः	=	सन्तति
(अस्ति)	=	है

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः[1]॥७॥

---

१. भृग्वादयो वसिष्ठान्ताः।
२. सर्वेभ्यः प्राक्तनाः।
३. स्वायंभुवादयः।
४. मत्तः भाव उत्पत्तिर्येषां ते मद्भावाः।

यः	=	जो (साधक)
एताम्	=	इस
मम	=	मेरी
विभूतिम्	=	स्वातन्त्र्य-शक्ति को
च	=	और
योगम्	=	योग-शक्ति को
तत्त्वः	=	ठीक-ठीक
वेत्ति	=	जानता है
सः	=	वह (व्यक्ति)
अविकम्पेन	=	निश्चल
योगेन	=	योग से
युज्यते	=	(मुझ में) जुट जाता है।
अत्र	=	इसमें (तनिक भी)
संशयः	=	संदेह
न	=	नहीं
(अस्ति)	=	है।

अयं सर्वस्य प्रभव इतः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

अयम्	=	यह संवित्-धाम ही
सर्वस्य	=	सभी जगत् का
प्रभवः	=	उत्पत्ति करने वाला है।
इतः	=	इसी से
सर्वम्	=	सब कुछ
प्रवर्तते	=	चल पड़ता है
इति	=	ऐसा
मत्वा	=	जानकर
भाव-समन्विताः	=	श्रद्धा सहित
बुधाः	=	बुद्धिमान् (भक्त-जन)
माम्	=	मेरा
भजन्ते	=	अभ्यास करते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः[1] परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति रमयन्ति च ॥९॥

मत्-चित्ताः	=	मुझ में लगाए हुए मन वाले,
मत्-गत्-प्राणाः	=	अपने प्राण मुझ में सौंपने वाले,
नित्यम्	=	सदा
माम्	=	मेरे बारे में
परस्परम्	=	एक दूसरे को
बोधयन्तः	=	बोध कराते हुए (तथा)
कथयन्तश्च	=	मेरी चर्चा करते हुए (वे)
तुष्यन्ति	=	रीझते हैं
रमयन्ति च	=	और (अपने मन को ध्यान योग से) रिझाते हैं।

---

१. स्वानुभवसंवादेन ज्ञापयन्तः।

परस्परबोधनया अन्योन्यबोधस्फारसंक्रमणात् 'सर्व एव हि प्रमातार एक ईश्वरः'—इति वितत व्याप्त्या सुखेनैव सर्वशक्तिकसर्वगतस्वात्मरूपताधिगमेन माहेश्वर्यमेषामिति भावः ॥९॥

एक दूसरे को जताने के कारण तथा एक दूसरे के बोध को आगे बढ़ाते हुए जो जन, ज्ञान की चर्चा करने से तथा सत्संग के द्वारा परस्पर ज्ञान समझने तथा समझाने से 'सभी प्रमाता तो एक ईश्वर के ही रूप हैं'—इस प्रकार की महाव्याप्ति का आश्रय लेते हुए, सहज ही सभी शक्तियों से संपन्न, सर्वव्यापक स्वात्मा का साक्षात्कार करते हैं, वे परम भक्त, सहज में ही महेश्वरत्व को प्राप्त करते हैं। ये आशय है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मां प्रापयन्ति[1] ते ॥१०॥

तेषाम् = उन
एतत-युक्तानाम् = सदा मेरे ध्यान में लगे हुए
प्रीति-पूर्वकम् = प्रेम-पूर्वक
भजताम् = भजन करने वाले भक्तों को (मैं)
तम् = वह
बुद्धि-योगम् = सूक्ष्म-बुद्धि
ददामि = प्रदान करता हूं
येन = जिससे
ते = वे
माम् = मुझे
प्रापयन्ति = (बरबस) अपने पास पहुंचाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

तेषाम् = उन (ऐसे भक्तों) पर
अनु-कम्पार्थम् = अनुग्रह करने के लिए
एव = ही
अहम् = मैं
आत्म-भावस्थः = उनकी आत्म-भावना में ठहरा हुआ
अज्ञानजम् = अज्ञान से उत्पन्न हुए
तमः = अन्धकार को,
भास्वता = जगमगाते
ज्ञान-दीपेन = ज्ञान के दिए से
नाशयामि = दूर करता हूं।

---

१. उपयान्ति ते, इति घ० पाठः।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि माम् ॥१३॥

अर्जुन बोला

भवान्	=	आप
परम्	=	परम-उदार
ब्रह्म	=	ब्रह्म हैं।
परम्	=	उत्तम
धाम	=	प्राप्य स्थान हैं।
(भवान्)	=	आप
पवित्रम्	=	पवित्र हैं।
(यतः)	=	क्योंकि
त्वाम्	=	आपको
सर्वे	=	सभी
ऋषयः	=	ऋषि-जन
शाश्वतम्	=	सनातन
दिव्यम्	=	अलौकिक

पुरुषम्	=	पुरुष (तथा)
आदि-देवम्	=	देवताओं के कारण बने हुए
अजम्	=	अजन्मा (और)
विभुम्	=	व्यापक
आहुः	=	कहते हैं
तथा	=	उसी भांति
देव-ऋषि	=	देवता तथा ऋषि
नारदः	=	नारद
असिवः	=	असित
देवलः	=	देवल ऋषि
व्यासः	=	व्यास भगवान्
च	=	और
स्वयम्	=	स्वयं आप ने (भी)
एव	=	तो
माम्	=	मुझे
ब्रवीषि	=	कहा है।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मे वदसि केशव ।
नहि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा महर्षयः ॥१४॥

केशव	=	हे कृष्ण !
यत्	=	जो (भी कुछ)
मे	=	मुझे (आपने)
वदसि	=	कहा है
एतत्	=	यह (सभी)
ऋतम्	=	(मैं) सत्य मानता हूं
भगवन्	=	हे ईश्वर !

ते	=	आप के
व्यक्तिम्	=	विश्वात्मक रूप को
देवाः	=	देवता (और)
महर्षयः	=	महान् ऋषि-जन (भी)
नहि	=	नहीं
विदुः	=	जान पाते हैं।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

भत-भावन = हे जगत को उत्पन्न करने वाले !
भूतेश = हे भूतों के ईश्वर !
देवदेव = हे देवताओं के भी देवता !
जगत्-पते = हे जगत् की रक्षा करने वाले !
पुरुष-उत्तम = हे पुरुषों में श्रेष्ठ !
त्वम् = आप
स्वयम् = खुद
एव = ही
आत्मना = अपने द्वारा
आत्मानम् = अपने को
वेत्थ = (वास्तविक रूप में) जानते हैं।

वक्तुमर्हस्यशेषेण विभूतीरात्मनः शुभाः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

त्वम् = आप
आत्मनः = अपनी
शुभाः = इच्छा रूप
विभूतीः = विभूति को
अशेषेण = पूर्ण रूप से
वक्तुम् = कहने के लिए
अर्हसि = समर्थ हैं
याभिः = जिस स्वातन्त्र्य इच्छा-रूप
विभूतिभिः = विभूति के द्वारा (आप)
इमान् = इन सभी
लोकान् = लोकों को
व्याप्य = व्याप्त करके
तिष्ठसि = ठहरे हैं।

कथं विद्यां महा[1]योगिंस्त्वामहं परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

---
१. अनन्यसाधारणसमाध्येकनिष्ठ ।

महायोगिन्	= हे असाधारण समाधि में सदा रहने वाले योगेश्वर !		**च**	= और
अहम्	= मैं		**भगवन्**	= हे प्रभु ! (आप)
कथम्	= कैसे		**केषु, केषु**	= किन, किन
त्वाम्	= आप का		**भावेषु**	= (मुख्य) पदार्थों में
परिचिन्तयन्	= स्मरण करता हुआ		**मया**	= मेरे द्वारा
विद्याम्	= (आप को) जानूं		**चिन्त्यः**	= चिन्तन करने योग्य
			असि	= हैं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

जनार्दन	= हे पापियों को मारने वाले कृष्ण ! (आप)	**कथय**	= कहिये तो,
आत्मनः	= अपनी	**हि**	= क्योंकि
योगम्	= योग-शक्ति को	**अमृतम्**	= (इस) अमृत (के समान कथन) को
च	= और (अपने)	**शृण्वतः**	= सुन सुन कर (भी)
विभूतिम्	= ऐश्वर्य को	**मे**	= मुझे
भूयः	= फिर से	**तृप्तिः**	= (सुनने की) ऊब
विस्तरेण	= खोलकर	**न**	= नहीं
		अस्ति	= होती है।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि विभूतीरात्मनः शुभाः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

भगवान बोले

कुरुश्रेष्ठ	= हे अर्जुन !	**प्राधान्यतः**	= मुख्य रूप से
हन्त	= हर्ष-पूर्वक (मैं)	**कथयिष्यामि**	= कहूंगा। (किन्तु देखा जाये तो)
ते	= तुम्हें	**मे**	= मेरे
आत्मनः	= अपनी	**विस्तरस्य**	= विशाल (विश्वमय रूप का)
शुभाः	= इच्छा-स्वातन्त्र्य रूप	**हि**	= तो
विभूतीः	= ऐश्वर्य को	**अन्तः**	= अन्त (सीमा)
		न अस्ति	= है ही नहीं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

गुडाका-ईश	=	हे नींद को जीतने वाले अर्जुन !	**भूतानाम्**	=	प्राणियों का
			आदिः	=	मूल-कारण
			च	=	भी
अहम्	=	मैं	**मध्यम्**	=	मध्य की स्थिति,
			च	=	और
सर्व-भूत-आशय-स्थितः	=	सभी प्राणियों के हृदय में ठहरा हुआ	**अन्तः**	=	अन्त
			च	=	भी
आत्मा	=	आत्मा हूं।	**अहम्**	=	मैं ही
			एव	=	हूं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

आदित्यानाम्	=	(बारह) आदित्यों में	**मरुताम्**	=	(उन्चास) वायु-देवताओं में (तो)
विष्णुः	=	विष्णु (वामन अवतार) हूं।	**मरीचिः**	=	मरीचि नाम वाला देवता हूं (तथा)
अहम्	=	मैं			
ज्योतिषाम्	=	प्रकाशों में	**नक्षत्राणाम्**	=	नक्षत्रों में (तो)
अंशुमान	=	किरणों वाला	**शशी**	=	चन्द्रमा
रविः	=	सूर्य हूं। (और)	**अस्मि**	=	हूं।

वेदानां सामवेदोऽहं देवानामस्मि वासवः[1] ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

---

१. देवानां त्रयस्त्रिंशद्गणभेदेन पुराण पठितानां वासव इन्द्रोऽहम् ।

वेदानाम्	= (चार) वेदों में	वासवः	= इन्द्र
अहम्	= मैं	अस्मि	= हूं
सामवेदः	= (गायन-विद्या से सम्बन्ध रखने वाला) सामवेद	इन्द्रियाणाम्	= इन्द्रियों में
		मनः	= मन
		अस्मि	= हूं
(अस्मि)	= हूं	भूतानाम् च	= और प्राणियों में
देवानाम्	= देवताओं में	चेतना	= ज्ञान-शक्ति
		अस्मि	= हूं।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो[1] यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्राणाम्	= (ग्यारह) रुद्रों में	च	= तथा
(अहम्)	= मैं	वसूनाम्	= (आठ) वसु-गणों में
शंकरः	= शंकर	पावकः	= अग्नि
अस्मि	= हूं।	अस्मि	= हूं (और)
च	= और	शिखरिणाम्	= शिखर वाले पर्वतों में
यक्ष-रक्षताम्	= यक्ष तथा राक्षसों में	अहम्	= मैं
		मेरुः	= सुमेरु-पर्वत
वित्तेशः	= धन का स्वामी कुबेर हूं	अस्मि	= हूं।

परोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनान्यामप्यहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

पार्थ	= हे अर्जुन !	सेनान्याम्	= सेनापतियों में
परोधसाम्	= पुरोहितों में	अपि	= तो
मुख्यम्	= प्रधान पुरोहित	अहम्	= मैं
बृहस्पतिम्	= बृहस्पति (देवताओं का पुरोहित)	स्कन्दः	= स्वामी कार्तिकेय
		(अस्मि)	= हूं
माम्	= मुझे (ही)	सरसाम्	= जलाशयों में
विद्धि	= जानो	सागरः	= समुद्र
च	= और	अस्मि	= हूं

१. कुबेरः ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामप्येकमक्षरम्[1] ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षीणाम् = महर्षियों में
अहम् = मैं
भृगु = भृगु हूं ।
गिराम् = वाणियों में
अपि = भी (मैं)
एकम् = अद्वितीय
अक्षनम् = अक्षर (ओंकार)
अस्मि = हूं

यज्ञानाम् = सभी यज्ञों में
जप-यज्ञः = जप-यज्ञ
अस्मि = हूं ।
च = और
स्थावराणाम् = ठोस पर्वत आदि में
हिमालयः = हिमालय
(अस्मि) = हूं ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

(अहम्) = मैं
सर्व-वृक्षाणाम् = सभी वृक्षों में
अश्वत्थः = पीपल का वृक्ष
(अस्मि) = हूं ।
देव-ऋषीणाम् = देव-ऋषियों में
नारदः = नारद मुनि (हूं)
च = और

गन्धर्वाणाम् = गन्धर्वों में
चित्ररथः = चित्ररथ नाम वाला गन्धर्व हूं (और)
सिद्धानाम् = सिद्धों में
कपिलः = कपिल
मुनिः = मुनि
(अस्मि) = हूं ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

अश्वानाम् = घोड़ों में
अमृत-उद्भवम् = क्षीर-सागर से उत्पन्न हुआ
उच्चैःश्रवसम् = उच्चैश्रव नाम वाला स्वर्ग का घोड़ा
माम् = मुझे (ही)
विद्धि = जानो ।

गजेन्द्राणाम् = हाथियों में
ऐरावत् = ऐरावत हाथी मैं ही हूं
च = और
नराणाम् = मनुष्यों में
नराधिपम् = राजा
मां विद्धि = मुझे जानो ।

१. अर्थवाचकपदानां मध्ये एकाक्षरं—प्रणवोऽहमित्यर्थः ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्[1] ।
प्रजनश्चास्मि[2] कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८ ॥

अहम्	= मैं		**प्रजनः**	= उत्पत्ति करने वालों में	
आयुधानाम्	= हथियारों में		**कन्दर्पः**	= कामदेव	
वज्रम्	= बिजली		**अस्मि**	= हूं ।	
(अस्मि)	= हूं ।		**च**	= और	
धेनूनाम्	= गायों में		**सर्पाणाम्**	= सांपों में	
कामधुक्	= (स्वर्ग की) कामधेनु		**वासुकिः**	= वासुकि (सांपों का राजा	
अस्मि	= हूं ।		**अस्मि**	= हूं ।	

अनन्तश्चास्मि[3] नागानां वरुणो यादसामहम्[4] ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः[5] संयमतामहम् ॥२९॥

नागानाम्	= नागों में (मैं)		**अर्यमा**	= अर्यमा नाम वाला पितरों का ईश्वर
अनन्तः	= शेषनाग		**(अस्मि)**	= हूं ।
च	= ही		**संयमताम्**	= शासन करने वालों में
अस्मि	= हूं ।		**यमः**	= यमराज (मैं ही तो)
यादसाम्	= जल-देवताओं में		**अस्मि**	= हूं ।
वरुणः	= वरुण-देवता			
अस्मि	= हूं ।			
पितॄणाम् च	= और पितरों में			

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

---

१. वसिष्ठस्य कामधेनु. ।
२. अपत्यजनयिता कन्दर्पः कामोऽहम् ।
३. शेष इत्यर्थः,
४. जलदेवतानां मध्ये, दुष्टनिग्रहं कुर्वतां मध्ये ।
५. यमोऽहमत्यर्थः

अहम्	= मैं		मृगाणाम्	= और	
दैत्यानाम्	= राक्षसों में		च	= पशुओं में	
च	= तो		मृगेन्द्रः	= मृगराज (सिंह),	
प्रह्लाद	= प्रह्लाद (भक्त)		च	= तथा	
अस्मि	= हूं।		पक्षिणाम्	= पंखियों में	
कलयताम्	= गिनती करने वालों में		वैनतेयः	= गरुड़	
कालः	= समय		असम्	= मैं (ही)	
(अस्मि)	= हूं।		(अस्मि)	= हूं।	

पवनः पव¹तामस्मि रा²मः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जा³ह्नवी ॥३१॥

पवताम्	= पवित्र करने वालों में	झषाणाम्	= मछलियों में
अहम्	= मैं	च	= भी
पवनः	= वायु	मकरः	= मगरमच्छ
अस्मि	= हूं।	अस्मि	= हूं। (तथा)
शस्त्रभृताम्	= शस्त्र धारण करने वालों में	स्रोतसाम	= नदियों में (मैं)
अहम्	= मैं	जाह्नवी	= गंगा
रामः	= दशरथ का पुत्र राम हूं।	अस्मि	= हूं।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

---

१. पावनकर्तॄणांमध्ये ।

२. दाशरथिरित्यर्थः ।

अर्जुन	=	हे अर्जुन !	वेद्यानाम्	=	(सभी) विद्याओं में
सर्गाणाम्	=	सृष्टियों का	अध्यात्म विद्या	=	आत्मा को जतलाने वाली ब्रह्म-विद्या
आदिः	=	प्रारम्भ,	(अस्मि)	=	हूं। (तथा)
अन्तः	=	अन्त	प्रवदताम्	=	वाद-विवाद करने वालों का
च	=	और	(च)	=	भी
मध्यम्	=	मध्य	वादः	=	(युक्ति-संगत) तर्क (मैं ही हूं।)
च	=	भी			
अहम्	=	मैं			
एव	=	ही हूँ (तथा)			

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः[1] सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षराणाम्	=	नष्ट न होने वाले अक्षरों में	कालः	=	काल (भी)
अहम्	=	मैं	अहम्	=	मैं
अकारः	=	(सभी में व्यापक) अकार,	एव	=	ही हूँ।
च	=	और	विश्वतोमुखः	=	विश्व-रूप
सामासिकस्य	=	समासों में	धाता	=	सब को धारण करने वाला
द्वन्द्वः	=	द्वन्द्व नाम वाला समास	च	=	भी
अस्मि	=	हूँ।	अहम्	=	मैं
अक्षयः	=	नाश न होने वाला	एव	=	ही
			अस्मि	=	हूं।

१. 'सामासिकस्य'—तत्पुरुषबहुब्रीह्यादेः समाससमूहस्य मध्ये सकलपदार्थप्राधान्येन युगपदधिकरणवचनत्वादिना च द्वन्दस्यप्राधान्यम् ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमाः ॥३४॥

सर्व हरः	=	सब का नाश करने वाला
मृत्युः	=	मृत्यु
अहम्	=	मैं
(अस्मि)	=	हूं ।
च	=	और
भविष्यताम्	=	आगे होने वालों की
उद्भवः	=	उत्पत्ति का कारण (भी)
(अहम् एव)	=	मैं ही हूं
(अहम्)	=	मैं
नारीणाम्	=	स्त्रियों में
कीर्तिः	=	कीर्ति,
श्रीः	=	लक्ष्मी,
वाक्	=	वाणि,
स्मृतिः	=	स्मृति (स्मरण-शक्ति,
मेधा	=	सूक्ष्म, प्रखर बुद्धि,
धृतिः	=	धैर्य
क्षमा च अस्मि	=	और क्षमा (मैं ही) हूं ।'

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

तथा	=	और
साम्नाम्	=	गाने योग्य श्रुतियों में
बृहत्साम्	=	बृहत्साम नामक श्रुति (और)
छन्दसाम्	=	छन्दों में (तो)
गायत्री	=	गायत्री छन्द
अहम्	=	मैं
(एव)	=	ही हूँ ।
मासानाम्	=	महीनों में
मार्गशीर्षः	=	मगर का महीना (और)
ऋतूनाम्	=	ऋतुओं में
कुसुमाकरः	=	फूलों का खजाना बसन्त ऋतु
(च)	=	भी
अहम्	=	मैं
(एव अस्मि)	=	ही हूं

१. सर्वं हरतीति सर्वहरः ।
२. नारीणां मध्ये कीर्त्यादिक्षमान्ता देवताः स्त्रियोऽहमित्यर्थः ।
३. सामवेदे यानि सामानि रथन्तरादीनि, तेषां मध्ये बृहत्सामाहम् ।
४. चतुर्विंशत्यक्षरा ।
५. वसन्तः ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छलयताम्	=	छल करने वालों में	**जयः**	=	विजय (हूं)
अहम्	=	मैं	**(व्यवसायिनाम्)**	=	व्यापार करने वालों में
द्यूतम्	=	जुवा	**व्यवसायः**[1]	=	उद्योग (हूँ) (तथा)
अस्मि	=	हूँ ।	**सत्त्ववताम्**	=	सात्त्विक पुरुषों में
तेजस्विनाम्	=	तेजस्वियों में	**च**	=	भी
अहम्	=	मैं	**सत्त्वम्**	=	सत्यता
तेजः	=	तेज, ओज	**अहम्**	=	मैं
अस्मि	=	हूं ।	**(एव)**	=	ही
(च)	=	और	**अस्मि**	=	हूँ ।
अहम्	=	मैं			
(जेतॄणाम्)	=	जीतने वालों में			

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना[2] कविः ॥३७॥

वृष्णीनाम्	=	वृष्णि वंश वालों में	**मुनीनाम्**	=	मुनियों में
वासुदेवः	=	वसुदेव का सन्तान कृष्ण	**अपि**	=	भी
(अहम् एव)	=	मैं ही	**अहम्**	=	मैं
अस्मि	=	हूँ ।	**व्यासः**	=	व्यास मुनीश्वर
पांडवानाम्	=	पांडवों में	**(अस्मि)**	=	हूँ । (और)
धनञ्जयः	=	अर्जुन	**कवीनाम्**	=	तत्त्व-ज्ञानियों में
(अस्मि)	=	हूं ।	**उशना**	=	शुक्र
			कविः	=	देवता (हूँ ।)

---

१. उद्योग इत्यर्थः

२. 'कवीनां'—तत्त्वज्ञानां मध्ये उशना शुक्रोऽहम् ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्[1] ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

(अहम्)	=	मैं	गुह्यानाम्	=	छिपाने योग्य प्रसंगों में
दमयताम्	=	दमन (काबू) करने वालो में	मौनम्	=	चुप रहने की नीति, मौन
दण्ड:	=	दण्ड देने की शक्ति	अस्मि	=	हूँ (और)
अस्मि	=	हूँ ।	ज्ञानवताम्	=	ज्ञानवानों का
जिगीषताम्	=	जीत चाहने वालों की	ज्ञानम्	=	तत्त्व-ज्ञान
नीत:	=	नीति (भी)	अहम्	=	मैं
(अहम्)	=	मैं ही	(एव)	=	ही हूँ ।
अस्मि	=	हूँ ।			
च	=	और			

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न[2] तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

अर्जुन	=	हे अर्जुन !	चर-अचरम्	=	जड़ तथा चेतन (कोई भी)
यत् च	=	जो भी कुछ	भूतम्	=	प्राणि
सर्व-भूतानाम्	=	सभी प्राणियों की	न	=	न हीं
बीजम्	=	(उत्पत्ति) का कारण है	अस्ति	=	है
तद्वत्	=	वह	यत्	=	जो
अपि	=	भी	मया	=	मेरे
अहम्	=	मैं	विना	=	बिना (रह)
एव	=	ही (हूँ)	स्यात्	=	पाये ।
(यत:)	=	क्योंकि (ऐसा)			
तत्	=	वह			

१. जेतुमिच्छताम् ।
२. सिद्धमेवार्थं व्यतिरेकमुखेनाह—'न तदस्तीति'—मत्भिन्नं चरमचरं वा यद्वस्तु स्यात्तज्जगत्त्रयेऽपि नास्तीत्यर्थ: ।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

परंतप	=	हे अर्जुन !	**तु**	=	तो
मम	=	मेरी	**मया**	=	मैंने (अपनी)
दिव्यानाम्	=	अलौकिक	**विभूतेः**	=	विभूतियों का
विभूतीनाम्	=	विभूतियों का	**विस्तरः**	=	विस्तार
अन्तः	=	अन्त	**उद्देशतः**	=	(झलक दिखाने के) उद्देश से थोड़े में)
न	=	न ही	**प्रोक्तः**	=	(तुम्हारे लिए) कहा है ।
अस्ति	=	है			
एष	=	यह			

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीम[1]दूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसँभवम् ॥४१॥

यत्-यत्	=	जो-जो जितनी	**तत्-तत्**	=	उस-उस को
एव	=	भी	**त्वम्**	=	तुम
विभूतिमत्	=	विभूति	**मम**	=	मेरे
श्रीमत्	=	शोभा-युक्त	**तेजः-अंशः**	=	तेज के अंश-कण से
वा	=	या	**संभवम्**	=	उत्पन्न हुआ
ऊर्जितम्	=	उत्कृष्ट	**एव**	=	ही
सत्त्वम्	=	वस्तु है	**अवगच्छ**	=	समझो ।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन ।
विष्टभ्या[2]हमिदँ कृत्स्नमेकांशेन जगत्स्थितः ॥४२॥

---

१. 'श्रीः'—लक्ष्मीः संपत् शोभा कान्तिर्वा, तया युक्तं, तथा ऊर्जितम् बलातिशयेन युक्तमित्यर्थः ।

२. अहमिति च सर्वत्रात्र पारमार्थिकमेव प्रकाशविमर्शरूपमुक्तम्, न तु मायीयं चतुर्भुजादि,—"स्थावराणां हिमालयोऽहम्"—इत्यादेः प्रत्यक्षादेर्विरोधादिति । इति आचार्यपादैरैव प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिन्याम् ।

अर्जुन	= हे अर्जुन !	अहम्	= मैं
अथवा	= अस्तु,	इदम्	= इस
एतेन	= इतना	कृत्स्नम्	= समूचे
बहुना	= बहुत	जगत्	= जगत् को (अपने)
ज्ञानेन	= जानने से	एक-अंशेन	= एक अंश मात्र से ही
तव	= तुम्हारा (तुम्हें)	विष्टभ्य:	= टिकाए हुए
किम्	= (प्रयोजन ही) क्या है ?	स्थित:	= हूँ ।

'अहमात्मा' इत्यनेन व्यवच्छेदं निवारयति; अन्यथा 'स्थावराणां हिमालयः' इत्यादि-वाक्येषु हिमालय एव भगवान्नान्यः इति व्यवच्छेदेन निर्विभागत्वाभावात् ब्रह्मदर्शनं खण्डितं भविष्यत् । यतो यस्याखण्डाकारव्याप्तिस्तथा चेतसि नोपारोहति, तां च जिज्ञासति तस्यायमुप-देशग्रन्थः । तथाहि । उपसंहारे भेदाभेदवादं —'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम्' इत्यनेनाभिधाय, पश्चात् भेदमेवोपसंहरति—

'अथवा बहुनैतेन...... ..

विष्टभ्याहम् 'एकांशेन जगत्स्थितः' ।।

इति । उक्तं हि—

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' । इति । प्रजानां सृष्टि हेतुः सर्वमिदं भगवत्तत्त्वमेव तैस्तैर्विचित्रै रूपैर्भाव्यमानं सकलस्य विषयतां यातीति शिवम् ।।४२।।

'अहमात्मा,'—मैं आत्मा हूँ—इस कथन से भगवान् (अन्य पदार्थों से) अपने स्वरूप की विलगता को दूर करते हैं । यदि यही बात होगी तो 'स्थावराणां हिमालयः' पर्वतों में, हिमालय हूँ—ऐसे अनेक वाक्यों से तो हिमालय आदि ही भगवान् माने जाते । इस प्रकार का व्यवच्छेद होने से तो विभाग-रहित भगवान् के स्वरूप का अभाव होता और अद्वैतरूप ब्रह्म-ज्ञान खण्डित बनता । या यों कहें कि विभाग-रहित भगवान् का न होना, ऐसा जो निश्चय है, इससे तो ब्रह्म-दर्शन का होना भी अपूर्ण होता । भगवान् ने तो यह वाक्य इस अभिप्राय से कहे हैं कि जिन व्यक्तियों को ईश्वर की विश्व-व्याप्ति पल्ले नहीं पड़ती, उन की जिज्ञासा को शाँत करने के लिए ही यह भिन्नता-पूर्ण भगवत् कथन का उपदेश कहा है । इसको और भी खोलते हैं—इस अध्याय के अन्त में व्यवच्छेद रूप भेदाभेदवाद को 'यद्यद्वि-भूतिमत्सत्त्वम्' —जितनी भी काँति-युक्त और शक्ति-युक्त वस्तुएँ हैं—यह कथन तो इसी

श्लोक से जतलाते हैं। अन्त में विभाग-रहित अभेदवाद को ही निम्न श्लोक से सिद्ध करते हैं—'अथवा बहुनैतेन······विष्टभ्यामहम् ··· एकांशेन जगत्स्थितः'।

या हे अर्जुन ! तुम्हें बहुत जानने से क्या ? (इतना ही जान लो कि) मैं ही सब जगह व्याप रहा हूँ और मेरे एक कण-मात्र से ही यह सभी जगत् ठहरा है। कहा भी है —

'यह जगत् तो उस ईश्वर का एक चरण है और उसके अन्य तीन अमृत-पूर्ण चरण तो स्वर्ग में ही ठहरे हैं आदि।'

यह सभी जगत् भगवान् का स्वरूप है और (वही) प्रजाओं की सृष्टि का कारण बना हुआ है तथा उन अनेकानेक विचित्रताओं से सुन्दर बना हुआ, सभों के भोग का आस्पद बना है। इस प्रकार शिव ही ठहरा है।

अत्र संग्रह श्लोकः।

इच्छायामिन्द्रिये वापि यदेवायाति गोचरम्।
हठाद्विलापयस्तत्तत्प्रशान्तं ब्रह्म भावयेत् ॥१०॥

सार-श्लोक

जो भी विषय, दृष्टि-पथ में आये वह भले ही संकल्प में या इन्द्रिय में ही क्यों न ठहरा हो, उसे प्रयत्न-पूर्वक लीन करते हुए संकल्प-विकल्प से रहित ब्रह्म की ही भावना करनी चाहिए।

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (विभूतियोगोनाम) दशमोऽध्यायः ॥१०॥

श्री महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्तपाद द्वारा रचित
'गीतार्थसंग्रह' का (विभूतियोग नाम का)
दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

———

अथ

एकादशोऽध्यायः

समनन्तरेणाध्यायेन य एवार्थ उक्तस्तमेव प्रत्यक्षीकर्तुमर्जुनः पृच्छति[1] । यो ह्युपदेश-क्रमेणार्थोऽवगतः, स एव प्रत्यक्षसंविदोपारुह्यमाणः स्फुटी भवति । तदर्थमेवेमे उक्तीप्रत्युक्ती उच्येते ।

जो विषय, पिछली अध्याय (दसवीं अध्याय) में कहा गया, उसी को स्फुट रूप से देखने के लिए अर्जुन पूछते हैं। जो भी उपदेश रूप में अर्थ (अर्जुन ने) जाना है, वह संवित् की पकड़ में आकर ही स्फुट बन जाता है। इसी प्रयोजन से प्रश्न तथा उत्तर का रूप देकर इस अध्याय का प्रारम्भ किया गया है।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन बोले

त्वया = आप ने		**वचः** = उपदेश	
यत् = जो		**उक्तम्** = कहा है	
मद्-अनुग्रहाय = मेरे लिए		**तेन** = उस से	
परमम् = बहुत ही		**मम** = मेरा	
गुह्यम् = रहस्यमय		**अयम्** = यह	
अध्यात्म-संज्ञितम् = अध्यात्म-विषयक		**मोहः** = अज्ञान,	
		विगतः = पूर्ण रूप में दूर हो गया है।	

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरतो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

---

१. पृच्छतीत्यनन्तरं 'स एव चायमुद्यमः' इत्यधिकः क० पाठः ।

कमल-पत्र-अक्ष	= हे कमल के समान नेत्रों वाले कृष्ण !		विस्तरतः	= पूर्ण रूप में
मया	= मैंने		श्रुतौ	= सुने हैं (तथा)
भूतानाम्	= प्राणियों की		अव्ययम्	= तात्त्विक (सनातन)
भव-अप्ययौ	= उत्पत्ति और प्रलय		माहात्म्यम्	= बढ़ाई को
हि	= तो		अपि च	= भी तो (आप से सुना है)
त्वत्तः	= आप से			

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वरम् ।
द्रष्टुमिच्छाम्यहं रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।।३।।

पुरुषोत्तम्	= हे पुरुषों में श्रेष्ठ कृष्ण !		एवम्	= इस रीति से
त्वम्	= आप		(एव)	= ठीक ही है
आत्मानम्	= अपने को		अहम्	= मैं तो (इस समय आप के)
परमेश्वरम्	= परमेश्वर		ऐश्वरम्	= ईश्वरीय (विराट्)
यथा	= जैसे		रूपम्	= रूप को (प्रत्यक्ष)
आत्थ	= समझते हैं		द्रष्टुम्	= देखना
एतत्	= यह तो		इच्छामि	= चाहता हूं ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगीश्वर[1] ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।।४।।

यदि	= अगर		योगीश्वर	= हे योगियों में श्रेष्ठ कृष्ण !
तत्	= वह आपका ऐश्वर्य ठीक ठीक		त्वम्	= आप (अपना)
मया	= मैं		अव्ययम्	= अविनाशी
द्रष्टुम्	= देख		आत्मानम्	= स्वरूप
शक्यम्	= पाऊंगा		मे	= मुझे
इति	= ऐसा (आप)		दर्शय	= (प्रत्यक्ष) दिखाइये ।
मन्यसे	= मानते हैं तो			

१. सहजसिद्धनिरतिशययोगत्वात्प्रयत्नसाध्ययोगानां सर्वेषां योग्यन्तराणां प्रभो ।

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

भगवान बोले

पार्थ	= हे अर्जुन !	**नाना-वर्ण-आकृतीनि**	= भिन्न-भिन्न आकृति वाले
मे	= मेरे		
शतशः	= सैंकड़ों	**दिव्यानि च**	= और अलौकिक
अथ	= तथा		
सहस्रशः	= हजारों	**रूपाणि**	= रूपों को
नाना-विधानि	= अनेक प्रकार के	**पश्य**	= देखो।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि पाण्डव ॥६॥

पाण्डव	= हे अर्जुन !	**तथा**	= और
आदित्यान्	= (अदिति के बारह) आदित्यों को	**बहूनि**	= कई
वसून्	= (आठ) वसु-गणों को	**अदृष्ट-पूर्वाणि**	= (ऐसे रूप) जिनको तुमने कभी नहीं देखा है। (ऐसे)
रुद्रान्	= (ग्यारह) रुद्रों को		
अश्विनौ	= (दोनों) अश्विनी कुमारों को		
मरुतः	= (उनच्चास) मरुत-गणों को	**आश्चर्याणि**	= अचम्भे में डालने वाले रूपों को (भी)
पश्य	= (मेरे विराट्-स्वरूप में) देखो।	**पश्य**	= देखो।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

गुडाका-ईश	= हे उनींदेपन को जीतने वाले अर्जुन !	**जगत्**	= जगत् को (तथा)
		अन्यत्	= और
अद्य	= अब	**च**	= भी
मम	= मेरे (विराट्)	**यत्**	= जो (कुछ)
देहे	= शरीर में	**द्रष्टुम्**	= देखना
		इच्छसि	= चाहते हो
एकस्थम्	= ही ठहरे हुए	**(तत्)**	= उसे भी (इसी विराट् रूप में)
सचर-अचरम्	= जड़-चेतन सहित		
कृत्स्नम्	= सभी	**पश्य**	= देखो।

नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव[1] स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे रूपमैश्वरम् ॥८॥

माम्	= मुझे	**दिव्यम्**	= अलौकिक (ज्ञान)
तु	= तो (तुम)	**चक्षुः**	= नेत्र
अनेन	= इन	**ददामि**	= देता हूं (जिससे तुम)
स्व-चक्षुषा	= अपने भौतिक नेत्रों से		
एव	= ही	**मे**	= मेरे
द्रष्टुम् न शक्यसे	= नही देख पाओगे	**ऐश्वरम्**	= प्रभावशाली
अतः	= इसी लिए (मैं)	**रूपम्**	= रूप को
ते	= तुम्हें	**पश्य**	= देखो।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगीश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

संजय बोले

राजन्	= हे धृतराष्ट्र !	**ततः**	= उसके बाद
महा-योगीश्वरः	= महान् योगियों के ईश्वर !	**पार्थाय**	= अर्जुन को
		परमम्	= अति उच्च
हरिः	= भगवान् ने	**ऐश्वरम्**	= ऐश्वर्य-पूर्ण
एवम्	= इस प्रकार	**रूपम्**	= रूप
उक्त्वा	= कह कर	**दर्शयामास**	= दिखाया।

---

१. अनेन प्राकृतेन चर्ममयेन चक्षुषा न द्रष्टुं शक्नोषीत्यर्थः।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्
अनेकदिव्याभरणं दिव्या[1]नेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

अनेक-वक्त्र-नयनम्	=	अनेक मुख और नेत्रों वाले,	**दिव्य-गंध-अनुलेपनम्**	=	दिव्य सुगन्धि इतर का लेप किए हुए,
अनेक-अद्भुत-दर्शनम्	=	अनगिनत रूप वाले,	**सर्व-आश्चर्य-मयम्**	=	सब प्रकार के आश्चर्य वाले
अनेक दिव्य-आभरणम्	=	कितने ही अलौकिक भूषणों को पहने हुए,	**विश्वतो-मुखम्**	=	विराट्-स्वरूप
दिव्य-अनेक उद्यत्-आयुधम्	=	अनेक प्रकार के अद्भुत शस्त्रों को (हाथों में) उठाए हुए	**अनन्तम्**	=	सीमा-रहित,
			देवम्	=	देव रूप बने हुए (भगवान् कृष्ण) को
दिव्य-माला-अम्बरधरम्	=	दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किए हुए,	**(अपश्यत्)**	=	अर्जुन ने देखा ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

(और हे राजन्)

दिवि-सूर्य-सहस्रस्य	=	आकाश में हज़ारों सूर्य के	**सा**	=	वह
			तस्य	=	उस
युगपत्	=	एक साथ	**महात्मनः**	=	विश्वाकार परमात्मा के
उत्थिता	=	उदय होने से			
भाः	=	प्रकाश	**भासः**	=	प्रकाश के
यदि	=	यदि	**सदृशी**	=	तुल्य
भवेत्	=	संभव हो (तब कहीं)	**स्यात्**	=	हो सकता है ।

---

१. दिव्यानि—प्रचण्डप्रकाशवन्त्यनेकान्युद्यतानि चक्रगदाद्यायुधानि यत्र तद्दिव्यानेकोद्यतायुधं रूपमित्यर्थः ।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

पाण्डवः	=	अर्जुन ने	तत्र	=	उन
तदा	=	उस समय	देवदेवस्य	=	देवों के भी देव भगवान् कृष्ण के
अनेकधा	=	अनेक रूपों में	शरीरे	=	शरीर में
प्र-विभक्तम्	=	भली-भाँति बटे हुए	एकस्थम्	=	इकट्ठे ही
कृत्स्नम्	=	समूचे (सभी)	अपश्यत्	=	देखा।
जगत्	=	विश्व को,			

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

ततः	=	तब	देवम्	=	विश्व-रूप भगवान् कृष्ण को
सः	=	वह	शिरसा	=	सिर से
विस्मय-आविष्टः	=	अचम्भे में पड़े हुए	प्रणम्य	=	प्रणाम करके
हृष्ट-रोमाः	=	हर्ष से रोमांचित बने हुए	कृत-अञ्जलिः	=	हाथ जोड़ कर (यह)
धनंजयः	=	अर्जुन,	अभाषत	=	बोले।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ—
मृषींश्च[1] सर्वानुरगांश्च[2] दीप्तान् ॥१५॥

---

१. नारदसनकादीन् ।
२. शेषवासुक्यादीन् ।

अर्जुन बोला

देव	= हे देवता		**कमल-आसन-स्थम्**	= कमल के आसन पर बैठे हुए
तव	= आप के		**ब्रह्माणम्**	= ब्रह्मा जी को;
देहे	= शरीर में		**ईशम्**	= महादेव को
सर्वान्	= सभी		**च**	= और
देवान्	= देवताओं को		**सर्वान्**	= सभी
तथा	= और		**ऋषीन्**	= (नारद सनक आदि) ऋषियों को
भूत विशेष-संघान्	= अनेक भूतों के झुण्डों को (और)		**च**	= तथा
			उरगान्	= सांपों को
			दीप्तान्	= जगमगाते
			पश्यामि	= देखता हूं।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

विश्व-ईश्वर	= हे सभी जगत् के ईश्वर!	**अनन्त-रूपम्**	= अनेकों स्वरूपों वाला
विश्व-रूप	= हे जगत् रूप!	**पश्यामि**	= (प्रत्यक्ष) देखता हूं।
(अहम्)	= मैं	**न (हि)**	= (किन्तु) न ही
त्वाम्	= आप को	**तव**	= आप के स्वरूप का,
अनेक-बाहू-उदर-वक्त्र-नेत्रम्	= बहुत से हाथ, पेट, मुख और नेत्रों वाला (तथा)	**अनन्तम्**	= अन्त
		न	= न
		मध्यम्	= मध्य (और)
		न पुनः	= न ही
		आदिम्	= प्रारम्भ को
सर्वतः	= सब ओर से	**पश्यामि**	= देखता हूं।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता—
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

त्वाम्	= आप को (मैं)	तेज-राशिम्	= तेज-पुंज
किरीटिनम्	= मुकट लगाए हुए	अप्रमेयम्	= मन वाणि आदि से अगोचर-न दिखाई देने वाले (तथा)
गदिनम्	= गदा को हाथ में लिए	दीप्त-अनल-अर्क-द्युतिम्	= चमकते हुए आग और सूरज की प्रभा से युक्त
चक्रिणम् च	= और सुदर्शन-चक्र धारण किए हुए	दुः-निरीक्ष्यम्	= जिसे देख पाना सुकर नहीं (ऐसे आप को)
सर्वतः	= सभी ओर से	समन्तात्	= चारों ओर (विराजमान)
दीप्तिमन्तम्	= प्रकाशमान्	पश्यामि	= देखता हूं।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः सात्त्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

त्वम्	= आप (तो)	सात्त्वत्-धर्म-गोप्ता	= सत्तात्मक आत्म-धर्म को अपने में ही सुरक्षित रखने से (सभी मार्गों से विरले हैं)
वेदितव्यम्	= जानने योग्य,	अव्ययः	= सदा रहने वाले
परमम्	= अति श्रेष्ठ,	त्वम्	= आप
अक्षरम्	= अविनाशी, परमात्मा हैं (और)	सनातनः	= सनातन
त्वम्	= आप	पुरुषः	= दिव्य पुरुष हैं (ऐसी)
अस्य	= इस	मे	= मेरी
विश्वस्य	= जगत् के	मतः	= धारणा है।
परम	= एक - मात्र		
निधानम्	= आश्रय हैं। (इतना ही नहीं		
त्वम्	= आप (तो)		

सात्त्वतधर्मगोप्तेति सत्—सत्यं—क्रियाज्ञानयोरुभयोरपि भेदाप्रतिभासात्मकं, तथा सत्तात्मकं प्रकाशरूपं तत्त्वं 'विद्यते येषां ते—सात्त्वताः'[3] तेषां धर्मः—अनवरतग्रहणसंन्यासपरत्वात्सृष्टिसंहारविषयः सकलमार्गोत्तीर्णः; तं गोपायते। एतदेवात्राध्याये रहस्यं प्रायशो देवीस्तोत्रविवृतौ मया प्रकाशितम्। तत्सहृदयैः सोपदेशैः स्वयमेवागम्यते, इति किं पुनः-पुनः स्फुटतरप्रकाशनवाचालतया ॥१८॥

'सात्त्वतधर्मगोप्ता' इस शब्द का विभाग-पूर्वक अर्थ यह है—क्रिया और ज्ञान, इन दोनों के मध्य में भेद का न दीखना सत् अर्थात् सत्य कहलाता है। जिन व्यक्तियों में क्रिया और ज्ञान की प्रकाशात्मक सत्ता विद्यमान् हो वे सात्त्वत पुरुष कहलाते हैं। ऐसे साधकों का धर्म, सदा (विषयों को) स्वीकार करके उनका सृजन करना तथा विषयों को छोड़ कर उनका संहार करना ही है। इस भाँति सभी मार्गों से यह सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। जो साधक इस रहस्य मार्ग की रक्षा—अनुकरण करता है उसे सात्त्वत्-धर्म-गोप्ता कहते हैं। इस अध्याय के इसी रहस्य को मैंने 'देवी-स्तोत्र' नामक ग्रन्थ की टीका में खोला है। उस विषय को सहृदय, गुरु-उपदेश से सम्पन्न ज्ञानी जन, स्वयं बांचें। अतः वही बात बार-बार दोहरा कर अधिक स्पष्ट करने की झक ही क्या ? ।१८।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य—
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

त्वाम्	= आप को (मैं)	**स्व-तेजसा**	= अपने (आत्मिक) प्रकाश से
अनादि-मध्य-अन्तम्	= आदि, अन्त और मध्य के बिना		
अनन्त-वीर्यम्	= अनन्त शक्ति वाले	**इदम्**	= इस
अनन्त-बाहुम्	= अनेकों हाथों वाले,		
शशि-सूर्य-नेत्रम्	= चन्द्रमा तथा सूर्य नेत्रों वाले,	**विश्वम्**	= जगत् को
		तपन्तम्	= तपाते हुए
दीप्त-हुताश-वक्त्रम्	= चमकते हुए अग्नि के समान मुख वाले,	**पश्यामि**	= देखता हूं।

१. प्रतिभासात्मकमित्यन्तरं 'परमगुरौ महादेवेऽर्पणम्' इत्यधिकः पाठः क० ख० ग० पुस्तकेषु।

२. प्रकाशशीलं तत्त्वमिति क० पाठः। ३. तद्वन्त इति ग० पाठः।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवेदृ—
ग्लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।।२०।।

महात्मन् = हे महान् आत्म-रूप कृष्ण !
इदम् = यह
द्यावा-पृथिव्यो: = स्वर्ग (और) पृथ्वी के
अन्तरम् = बीच का आकाश
सर्वा: च = तथा सभी
दिश: = दिशायें
त्वया = आप ने
एकेन = अकेले ही
हि = तो
व्याप्तम् = व्याप ली हैं ।
तव = आप के
ईदृग् = ऐसे
अद्भुतम् = अलौकिक
रूपम् = रूप को
दृष्ट्वा = देखकर
लोक-त्रयम् = तीनों लोक
प्रव्यथितम् = बहुत ही हड़बड़ा उठे हैं ।

अमी हि त्वा सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीति चोक्तवैव महर्षिसङ्घाः
स्तुवन्ति[1] त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः[2] ।।२१।।

अमी = वे (सभी)
सुर-संघा = देवता-गण,
त्वा = आप में
हि = ही तो
विशन्ति = प्रवेश करते हैं (और)
केचित् = कई एक
भीता: = भयभीत होकर
प्राञ्जलय: = हाथ जोड़े हुए
च गृणन्ति = स्तुति करते हैं और
महर्षि-संघा: = महर्षियों की टोलियां
स्वस्ति = 'कल्याण हो'
इति = इस प्रकार
उक्त्वा एव = कहते ही जाते हैं (तथा)
त्वाम् = आप का
पुष्कलाभि: = (शब्द और अर्थों से) परिपुष्ट
स्तुतिभि: = स्तुतियों से
स्तुवन्ति = बखान करते हैं ।

१. स्तुवन्ति ।
२. शब्दार्थपुष्टियुक्ताभिः ।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च[1] ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

ये = जो
रुद्र-आदित्यः = (ग्यारह) रुद्र और (बारह) सूर्य
वसवः च = और आठ वसुगण
साध्याः = साध्य-गण
विश्वे = विश्व-देव (तथा)
अश्विनो = अश्वनी कुमार
च = और
मरुतः = मरुद्गण
च = तथा
ऊष्मपाः = गरम अन्न खाने वाले पितृ-गण,
गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्ध संघाः = गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्ध-गणों का समुदाय है,
(ते) = वे
सर्वे = सभी
एव = ही
विस्मिताः = अचम्भे से
त्वाम् = आप की ओर
वीक्षन्ते = देखते हैं ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्[2] ॥२३॥

---

१. 'ऊष्मभाजो हि पितरः' इति श्रवणात् पितरः ।

२. प्रकर्षेण व्यथिताः प्रव्यथिता—महाव्यथां प्राप्ताः ।

महाबाहो = हे बड़ी भुजाओं वाले
ते = आप के
बहु-वक्त्र-नेत्रम् = बहुत मुख और नेत्रों वाले (तथा)
बहु-बाहु-उरु-पादम् = बहुत से बाहों, टांगों और पैरों वाले
बहु-उदरम् = अनेक पेटों वाले,
बहु-दंष्ट्रा-करालम् = बहुत से भयंकर जबड़ों वाले,
महत् = महान्
रूपम् = रूप को
दृष्ट्वा = देख कर
लोकाः = सभी लोक
प्रव्यथिताः = बहुत ही हडबडा उठे हैं
तथा = और
अहम् = मैं
(अपि) = भी दंग रह गया हूं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ता[1]ननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

विष्णो = हे विष्णु !
नभः-स्पृशम् = आकाश को छूने वाले
दीप्तम् = चमचमाते हुए
अनेक-वर्णम् = अनेक रूपों को धारण किए हुए तथा
व्यात्त आननम् = खोले हुए मुख वाले (और)
दीप्त-विशाल-नेत्रम् = चमकीली बड़ी-बड़ी आंखों वाले
त्वाम् = आप के रूप को
दृष्ट्वा = देखकर
हि = तो
प्रव्यथित-अन्तरात्मा = अन्दर ही अन्दर चकित होकर
धृतिम् = धीरज
च = और
शमम् = चैन
न = खो
विन्दामि = बैठा हूं।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म[2]
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

---

१. विस्फारितान्याननानि यत्र तं व्यात्ताननम् ।

२. सुखम् ।

जगत्-निवास = हे जगत् रूप बने हुए भगवन् !
ते = आप के
दंष्ट्रा-करालानि = भयंकर जबडों वाले
च = और
काल-अनल-सन्निभानि = प्रलय काल का अग्नि के समान
मुखानि = मुखों को
दृष्ट्वा = देखकर (मैं)
दिशः = दिशाओं को
न = नहीं
जाने = देख पाता हूं (और)
शर्म = सुख को
एव = भी
च = तो
न = नहीं
लभे = प्राप्त कर पाता हूं।
(अतः) = इसलिए (मेरी दयनीय दशा देख कर)
प्रसीद = पसीज जाइये।

अमी सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

अमी = ये
सर्वे = सभी
एव = ही
धृतराष्ट्रस्य = धृतराष्ट्र के
पुत्राः = पुत्र
अवनि-पाल-संघैः = पृथ्वी को पालने वाले राजाओं के झुंडों
सह = समेत
भीष्मः = भीष्म-पितामह,
द्रोणः = द्रोणाचार्य
तथा = तथा
असौ = यह
सूत्र-पुत्रः = कर्ण (और)
अस्मदीयैः = हमारे पक्ष के
अपि = भी
योध-मुख्यैः = प्रधान योधाओं
सह = सहित (सभी)
त्वां विशन्ति = आप में प्रवेश कर रहे हैं।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

ते	= आप के	**केचित्**	= कई तो
दंष्ट्रा-करालानि	= किकराल जबडों वाले	**चूर्णित**	= पिसे हुए
भयानकानि	= भयानक	**उत्तम-अङ्गैः**	= सिरों वाले (आप के)
वक्त्राणि	= (विराट् रूप) मुख में		
त्वरमाणाः	= शीघ्रता-फुर्ती से (वे सभी लोग)	**दशन-अन्तरेषु**	= दांतों के बीच में
		विलग्नाः	= फंसे हुए
विशन्ति	= चले ही जा रहे हैं	**संदृश्यन्ते**	= दिखाई दे रहे हैं।

नानारूपैः पुरुषैर्बाध्यमाना
विशन्ति ते वक्त्रमचिन्त्यरूपम् ।
यौधिष्ठिरा धार्तराष्ट्राश्च योधाः
शस्त्रैः कृत्ता विविधैः सर्व एव ॥२८॥

नानारूपैः	= अनेक आकृति वाले	**च**	= और
पुरुषैः	= पुरुषों से	**धार्तराष्ट्रा**	= कौरवजन
बाध्यमाना	= पीडित बने हुए (तथा)	**सर्वएव**	= सभी ही
विविधैः	= अनेक प्रकार के	**ते**	= आप के
शस्त्रैः	= हथियारों से	**अचिन्त्यरूपम्**	= अलौकिक
कृत्ता	= छेदित बने हुए	**वक्त्रम्**	= मुख में
यौधिष्ठिरा	= युधिष्ठर के बंधुजन	**विशन्ति**	= जा रहे हैं।

त्वत्तेजसा निहता नूनमेते
तथाहीमे त्वच्छरीरे प्रविष्टाः ।
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा व्रजन्ति ॥२९॥

यथा	= जैसे	तथाही	= वैसे ही
नदीनाम्	= नदियों के	इमे	= ये सभी (योधा)
बहव:	= प्रबल	त्वत्	= आप के
अम्बु	= जल का	शरीरे	= (विराट्) शरीर में
वेगा:	= बहाव,	प्रविष्टा:	= चले ही जा रहे हैं (तथा)
समुद्रम्	= समुद्र की ओर	नूनम्	= असंदिग्ध रूप से
एव	= ही	एते	= ये
अभिमुखा	= भागता हुआ	त्वत्	= आप के
		तेजसा	= प्रचंड तेज से
व्रजन्ति	= जाता है	निहता	= झुलस गए हैं।

तथा तवामी नरलोक[1]वीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति।
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा[2]
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगा:
तथैव नाशाय विशन्ति लोका—
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगा: ।।३०।।

यथा	= जैसे	तव	= आप के
पतङ्गा:	= पतंगे-परवाने	वक्त्राणि	= मुखों में
प्रदीप्तम्	= धधकते हुए	समृद्ध-वेगा:	= अति वेग से,
ज्वलनम्	= प्रकाश में	विशन्ति	= प्रवेश करते हैं
समृद्ध-वेगा:	= अति वेग से	तथा	= और
विशन्ति	= प्रवेश करते हैं (और शरीर को उसी में होम देते हैं)	तव	= आप के
		अमी	= ये
		नर-लोक-वीरा:	= मनुष्यों में वीर (भीष्मपितामह आदि भी)
तथाएव	= वैसे ही		
लोका:	= यह सभी लोग	अभितो	= चारों ओर से
अपि	= भी	ज्वलन्ति	= भभकते हुए
नाशाय	= अपने को समाप्त करने के लिए	वक्त्राणि	= मुखों मे
		विशन्ति	= प्रविष्ट हो रहे हैं।

१. भीष्मादय:। २. शलभा:।

लेलि[1]ह्यसे ग्रस[2]मानः समन्ता—
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३१॥

विष्णो	= हे विष्णु के रूप में कृष्ण ! (आप तो)	**लेलिह्यसे**	= चाट रहे हैं
		तव	= आप का
समग्रान्	= सभी	**उग्राः**	= भयंकर (असहनीय)
लोकान्	= लोकों को	**भासः**	= प्रकाश,
ज्वलद्भिः	= प्रज्वलित	**समग्रम्**	= सभी
वदनैः	= मुखों द्वारा	**जगत्**	= जगत् को
ग्रसमानः	= निघलते हुए	**तेजोभिः**	= तेज के द्वारा
समन्तात्	= सब ओर से	**आपूर्य**	= व्याप्त करके
		प्रतपन्ति	= तपा रहा है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तुते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमा[3]द्यं
नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३२॥

भवान्	= आप	**(अहम्)**	= मैं
उग्र-रूपः	= भयंकर रूप वाले	**भवन्तम्**	= आप का
कः	= कौन हैं।	**आद्यम्**	= आद्य प्रारम्भ-स्वरूप
(इति)	= यह	**विज्ञातुम्**	= जानना
मे	= मुझे	**इच्छामि**	= चाहता था (किन्तु)
आख्याहि	= कहिये।	**तव**	= आप की-इस प्रवर्तित
देव-वर	= हे देवताओं में श्रेष्ठ	**प्रवृत्तिम्**	= लीला को
ते	= आप को	**हि**	= ही (मैं अभी तक)
नमः	= नमस्कार	**न**	= नहीं
अस्तु	= हो (आप मुझ पर प्रसन्न होइये)	**प्रजानामि**	= जान पाता।

१. अभीक्ष्णं लेक्षि।

२. स्वात्मसात्कुर्वन्।

३. आ—समन्तादत्तुं प्रवृत्त इति आद्य,
यद्वा— आदौ भव आद्यस्तमित्यर्थः।

तव प्रवृत्तिं न वेद्मि—केनाशयेनेदृशीयमुग्रतेति ॥३२॥
आपका आशय नहीं जान पाया—आपने क्यों ऐसे भीषण रूप के दर्शन कराये ?

श्री भगवानुवाच

कालोऽस्मि लोक[1]क्षयकृत्प्रवृद्धो
ल्लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्य[2]नीकेषु योधाः ॥३३॥

भगवान् बोले

(अहम्)	=	मैं
लोक-क्षय-कृत्-प्रवृद्धान्	=	लोकों का नाश करने में प्रचंड, (तथा)
ल्लोकान् सम-आहर्तुम्	=	लोगों को अपने में समेट लेने पर
इह	=	यहां
प्रवृत्तः	=	तुला हुआ
कालः	=	काल
अस्मि	=	हूं।
प्रत्यनीकेषु	=	प्रतिपक्षी सेना में
ये	=	जो
सर्वे	=	सभी
योधाः	=	शूरवीर
अवस्थिताः	=	खडे हैं
(ते)	=	वे
त्वां	=	तुम्हें
ऋते	=	छोड़कर
अपि	=	कभी
न	=	नहीं
भविष्यन्ति	=	(जीवित) रहेंगे।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्य[3]साचिन् ॥३४॥

१. सकललोकसंहारैकव्यापकोऽधुना त्विहपृथिव्यां प्रवृद्धान्—मदोद्रिक्तान्पृथिवीभारभूतां-ल्लोकानिमान् समाहर्तुं—क्षयं नेतुं, प्रवृत्तः।
२. प्रतिपक्षसेनासु।
३. सव्येन—वामहस्तेन शरान् संचितुं—प्रयोक्तुं शीलमस्यास्तीति सव्यसाची, तस्य संबुद्धौ,—हे सव्यसाचिन्।

सव्यसाचिन् = हे बायें हाथ से तीर चलाने वाले अर्जुन !
तस्मात् = अतः
त्वम् = तुम
उत्तिष्ठ = उठो-तय्यार हो जाओ (तथा)
यशः = यश को
लभस्व = प्राप्त करो (और)
शत्रून् = शत्रुओं को
जित्वा = जीतकर
समृद्धम् = धन-धान्य से पूर्ण
राज्यम् = राज्य को
भुङ्क्ष्व = भोगो।
एते = ये सभी (योधा)
मया = मैं ने
एव = तो
पूर्वम् = (युद्ध करने से) पहिले
एव = ही
निहताः = मार रक्खे हैं
(अतः त्वम्) = अतः तुम अब उनको मारने में
निमित्त-मात्रम् = हेतु मात्र
भव = बन जाओ।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि लोकवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा[1]
युध्यस्व जेतासि[2] रणे सपत्नान् ॥३५॥

द्रोणम् = द्रोणाचार्य
च = और
भीष्मम् = भीष्मपितामह
च = तथा
जयद्रथम् = जयद्रथ
च = और
कर्णम् = कर्ण
अन्यान् अपि = और भी बहुत से
मया = मेरे द्वारा
हतान् = मारे गए
लोक-वीरान् = लोगों में प्रसिद्ध शूरवीरों को
त्वम् = तुम
जहि = मार डालो।
मा व्यथिष्ठाः = विकल न हो जाओ
रणे = युद्ध में (अपने से टक्कर लेने वाले)
सपत्नान् = शत्रुओं को (निःसन्देह)
जेतासि = जीतोगे
(अतः) = तो फिर
युध्यस्व = युद्ध कर ही लो।

---
१. व्यथां मा कुरु।
२. रणे सपत्नान्—दुर्योधनादीन् शत्रून् 'जेतासि'—जेष्यसीत्यत्र न संशय इत्यर्थः।

तदत्र भगवतोत्तरं जगतो विद्याविद्यात्मनः शुद्धाशुद्धमिश्रविद्बलग्रासीकारादभिधीयते,—इति प्रायशः सूत्रितमत्राध्याये रहस्यम् उद्घृतमात्रसंवित्तिसमर्थेभ्योऽस्तु। कियत्पंक्तिलेखनायासादौः स्थित्यमालम्भेमहि। अत्र यदुक्तं 'मया हतेषु त्वं निमित्तं यशस्वी भव' इति,—भगवता तत्प्रयुक्तं, यदुक्तं प्रागर्जुनेन 'नैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' इत्यादि ॥३५॥

ज्ञान-अज्ञान, पुण्य और पाप में घुले हुए जगत् के प्रति भगवान् का उत्तर संक्षेप में यही है कि प्रायः जिस विषय का रहस्य, मैंने इस अध्याय में खोला है, वही संवित्ति को परखने के लिए प्रर्याप्त है। (इस विषय पर) भला बार-बार कितनी पंक्तियों को लिखने का व्यर्थ आयास करें? यहाँ जो यह कहा कि 'मैं जिन्हें लड़ाई से पहले ही मार चुका हूँ, उनको मारने के लिए, तुम केवल निमित्त बन कर यश के पात्र बनो'। इस प्रकार का भगवान् का उत्तर, अर्जुन के दूसरे अध्याय में यह पूछने पर कि 'मैं यह भी नहीं जानता हूँ कि हममें से किस पक्ष की जीत होगी' इस (संशय) का प्रत्युत्तर है। इत्यादि ।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः[1] किरीटी[2]
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३६॥

संजय बोले

केशवस्य	=	भगवान् कृष्ण के	**नमः**	=	नमस्कार
एतत्	=	इन	**कृत्वा**	=	करते हुए
वचनम्	=	वचनों को	**प्रणम्य**	=	प्रणाम करके
श्रुत्वा	=	सुन कर	**भूयः एव**	=	फिर
भीतभीतः	=	डर के मारे	**कृष्णम्**	=	भगवान् कृष्ण को
वेपमानः	=	कांपते हुए	**सगद्गदम्**	=	गद्-गद् वाणि में
कृत-अञ्जलिः	=	हाथ जोड़ कर	**आह**	=	बोले।
किरीटी	=	मुकट को पहने हुए अर्जुन,			

१. कम्पमानः।
२. अर्जुनः।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३७॥

हृषीक-ईश	= हे इन्द्रियों के ईश्वर !	**भीतानि**	= भयभीत होकर
स्थाने	= यह तो ठीक ही है कि	**रक्षांसि**	= राक्षस जन
तव	= आपकी	**दिशः**	= दिशाओं की ओर
प्रकीर्त्या	= कीर्ति से	**द्रवन्ति**	= भागते हैं ।
जगत्	= जगत्	**सर्वे च**	= और सभी
प्रहृष्यति	= फूले नहीं समाता	**सिद्ध-संघाः**	= सिद्ध-जन
च	= और	**नमस्यन्ति**	= आप को नमस्कार करते हैं ।
अनुरज्यते	= आप में अनुराग भी करता है (तथा)		

प्रकीर्त्या—प्रकीर्तनेन ।

प्रकीर्त्यां—स्तुति का तात्पर्य स्तुति करने से है ।

कस्माच्चैते न नमेयुर्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगण्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३८॥

महात्मन्	= हे महान आत्म-रूप **कृष्ण !**	**ते**	= वे (सभी)
ब्रह्मणः	= ब्रह्मा के	**कस्मात्**	= क्यों कर
अपि	= भी	**न**	= नहीं
आदि-कर्त्रे	= आदि कर्ता	**नमेयुः**	= नमस्कार करेंगे।
च	= और		
गरीयसे	= सबसे श्रेष्ठ (आपको)	**अनन्त**	= हे बेअन्त

१ युक्तमित्यर्थः ।

२. देवाः—इन्द्रियाणि, तेषामीश—नियन्तः ।

देवेश	=	हे इन्द्रियों को अपने अधीन रखने वाले !	**सत्**	=	सत् (पदार्थ प्रत्यक्ष) है (तथा जो)
जगत्-निवास	=	हे जगत रूप बने हुए (प्रभु)	**असत्**	=	(अभाव रूप) असत् काल्पनिक पदार्थ है
यत्	=	जो	**तत् परम्**	=	उन दोनों से परे
			त्वम्	=	आप
			अक्षरम्	=	अविनाशी ब्रह्म हैं।

सत्—पदार्थत्वेन। असत्—उपलम्भं प्रत्यविषयत्वात्। अथवा अभावोऽपि धियि निजनिजविशिष्टवाचकसंश्लेषितो ज्ञानाकारमश्नुवानो न परब्रह्मसत्ताव्यतिरिक्तः। सदसद्रूपाभ्यां च परम्—तदुभयबुद्धितिरोधाने तद्रूपोपलब्धेः ॥३८॥

सत—पदार्थों के होने से ईश्वर की सत्ता विद्यमान है। असत्—प्रत्यक्ष ज्ञान की पकड़ में न आ सकने के कारण वह असत् भी है। या यों कहें—कोई भी अभाव पदार्थ जैसे आकाश-पुष्प, खरगोश के सींग आदि का न होना भी बुद्धि में अनेक विशेषताओं से युक्त होकर अभाव रूप ज्ञान की आकृति को दिखाता हुआ पर-ब्रह्म की सत्ता से विलग नहीं है। इसके अतिरिक्त वह प्रभु सत्य और असत्य दोनों से पर अर्थात् न्यारा है। अतः इन दोनों प्रकार की बुद्धियों के विलीन होने पर ही उस प्रभु के वास्तविक (ज्ञानमय) रूप की प्राप्ति होती है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण—
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वयाततं विश्वमनन्तरूपम् ॥३९॥

त्वम्	=	आप	**वेद्यम् च**	=	तथा जानने योग्य
आदि-देवः	=	प्राथमिक देवता हैं।	**परम् च**	=	अन्तिम
पुराणः	=	सनातन	**धाम**	=	प्राप्य स्थान
पुरुषः	=	पुरुष हैं।	**असि**	=	हैं।
त्वम्	=	आप	**त्वया**	=	आपने ही तो
अस्य	=	इस	**अनन्तरूपम्**	=	अनेकों रूपों वाले
विश्वस्य	=	जगत् के	**विश्वम्**	=	जगत् को
परम्	=	केवल मात्र	**ततम्**	=	ताना है।
निधानम्	=	आश्रय हैं।			
वेत्ता च	=	और सर्वज्ञ हैं			

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
अनादिमानप्रतिम[1]प्रभावः
सर्वेश्वरः सर्वम[2]हाविभूते ॥४०॥

सर्व-महा-विभूते:	= हे सभी महान् ऐश्वर्य वाले भगवन् !	**प्रजापतिः**	= प्रजा के स्वामी ब्रह्मा,
त्वम्	= आप (ही)	**प्रपितामहः च**	= और ब्रह्मा के भी पिता
वायुः	= वायु देवता हैं। (इतना ही नहीं आप तो	**असि**	= हैं।
		अनादिमान्	= आदि से रहित
यमः	= यमराज,	**अप्रतिम-प्रभावः**	= अलौकिक प्रभाव वाले
अग्निः	= अग्नि देवता,	**सर्व-ईश्वरः**	= सबों के ईश्वर स्वामी
वरुणः	= जल देवता,		
शशाङ्कः	= चन्द्रमा,	**(असि)**	= हैं।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ॥४१॥

ते	= आपको	**पुरस्तात्**	= आगे से
सहस्रकृत्वः	= हजारों बार	**अथ**	= और
नमः नमः	= बार बार नमस्कार	**पृष्ठतः**	= पीछे से
अस्तु	= हो	**नमः**	= नमस्कार हो।
ते	= आपके लिए	**सर्व**	= हे सर्व-रूप !
भूयः	= फिर	**सर्वतः**	= सब ओर से
अपि	= भी	**ते**	= आप को
पुनः च	= बारम्बार	**एव**	= ही
नमः नमः	= नमस्कार हो,	**नमः**	= नमस्कार
ते	= आपको	**अस्तु**	= हो।

१. अनन्यसामान्यमाहात्म्यः ।

२. सर्वेभ्य ऐश्वर्यगुणयुक्तेभ्यो महती—प्रकृष्टा विभूतिः शक्तिविजृम्भा यस्य तथाविधि हे भगवन् ।

नमो नमः—इत्यनेन पौनः पुन्यं भक्त्यातिशयाविष्कारकम् यदेव भगवतातिक्रान्ताध्यायैरभ्यधायि स्वस्वरूपं, तदेवार्जुनः प्रत्यक्षोपलम्भविषयापन्नं स्तोत्रद्वारेण प्रकटयतीति तद्व्याख्यानं केवलं पौनरुक्त्यप्रसङ्गायेति विरम्यते ॥४१॥

बार-बार (आप ईश्वर को) नमस्कार है। इस प्रकार की उक्ति, भक्ति के आधिक्य को ही सूचित करती है। भगवान् ने पिछली अध्यायों में जो कुछ अपने स्वरूप का बखान किया था, उसी को आधार बनाकर, अर्जुन, उसी स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप में देखने के बाद स्त्रोत्र के रूप में प्रकट करता है। उसके विषय में फिर कुछ कहना तो दोहराना मात्र होगा। अतः इसी पर बस करते हैं।

नहि त्वदन्यः कश्चिदपीह देव
लोकत्रये दृश्यतेऽचिन्त्यकर्मा।
अनन्तवीर्योऽमितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४२॥

देव = हे देवता!
इह = इस संसार में
त्वद् = आप से
अन्यः = भिन्न
अचिन्त्यकर्मा = अनिर्वचनीय कर्म करने वाला
लोक-त्रये = तीनों लोकों में (कोई)
नहि = नही
दृश्यते = दिखाई देता है।
त्वम् = आप
अनन्त-वीर्यः = अनन्त शक्ति वाले,
अमित-विक्रमः = महान पराक्रमी (हैं)
सर्वम् = सभी को
सम्-आप्नोषि = अपने में समेट लेते हैं।
ततः = तभी (आप)
सर्वः = सर्वरूप
असि = हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तो
हे कृष्ण हे यादव हे सखे च।
अजानता महिमानं तवेमं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४३॥

	(आपको)	(तत्)	= वह सभी कुछ
सखा इति	= मित्र	(अहम्)	= मैंने
मत्वा	= मान कर	**तव**	= आप की
मया	= मैं ने,	**इमम्**	= इस
प्रसभम्	= भावुकता-वश	**महिमानम्**	= अलौकिक बढ़ाई को
कृष्ण	= हे कृष्ण	**अजानता**	= न जानते हुए (ही)
यादव	= अरे यादव, कुल के	**प्रमादात्**	= भूल-चूक से
सखे	= ओ मित्र	**वा अपि**	= या फिर
च	= इस प्रकार	**प्रणयेन**	= प्यार ही से
यद्	= जो भी कुछ	**उक्तः असि**	= कहा है।
उक्तः	= कहा है		

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये[1] त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

अच्युत	= हे शाश्वत कृष्ण !	**एकः**	= अकेले
यत्	= और	**अथवा**	= या
च	= जो	**तत्-समक्षम्**	= औरों के सामने
अवहासार्थम्	= हँसी के तौर पर	**अपि**	= भी (मेरे द्वारा आपका)
विहार	= चलते फिरते	**असत्कृतः**	= सत्कार नहीं किया गया
शय्या	= सोते	**असि**	= है (उसके लिए)
आसन	= बैठते	**अप्रमेयम्**	= अगोचर स्वरूप वाले
च	= और	**त्वाम्**	= आप से
भोजनेषु	= खाते पीते	**अहम्**	= मैं
		क्षामये	= क्षमा मांगता हूं।

१. क्षमस्वेति प्रार्थये ।

पिता'सि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य विश्वस्य गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिम[2]प्रभावः ॥४५॥

त्वम्	= आप तो		**अप्रतिम-प्रभाव**	= हे अलौकिक प्रभाव वाले !
अस्य	= इस		**लोक-त्रये**	= तीनों लोकों में
चर-अचरस्य	= जड़-चेतन रूप		**त्वत्**	= आपके
लोकस्य	= संसार के		**समः**	= समान
पिता	= पिता		**अपि**	= भी (तो)
असि	= हैं		**अन्यः**	= दूसरा (कोई)
(च)	= और		**न**	= नहीं
विश्वस्य	= जगत् के		**अस्ति**	= है (फिर)
गरीयान्	= श्रेष्ठ		**अभ्यधिकः**	= अधिक हो
गुरुः	= गुरु		**कुतः**	= तो कैसे ?
(असि)	= हैं			

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियस्यार्हसि देव सोढु[3]म् ॥४६॥

तस्मात्	= अतः (हे प्रभो)		**प्रसादये**	= प्रसन्न करने के लिए विनय करता हूं ।
अहम्	= मैं		**देव**	= हे देव
कायम्	= शरीर को		**पिता**	= पिता,
प्रणिधाय	= झुका कर		**पुत्रस्य**	= पुत्र की
प्रणम्य	= प्रणाम करके		**इव**	= जैसे,
ईढ्यम्	= स्तुति करने योग्य			
त्वाम्	= आप			
ईशम्	= ईश्वर को			

---

१. 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रवणात् त्वं सर्वेषां भूतानां जनयितेत्यर्थः ।
२. प्रतिमीयतेऽनयेति प्रतिमासादृश्यं न विद्यते यस्यासवप्रतिमः तादृक्प्रभावो यस्य सः ।
३. क्षन्तुमर्हसीत्यर्थः ।

सखा = मित्र
सख्युः = मित्र की
इव = जैसे
प्रियः = प्यारा
प्रियस्य = प्यारे की
(इव) = जैसे (बुराइयों पर ध्यान नहीं देता है वैसे ही
(भवान् = आप
अपि) = भी
(मे) = मेरी
सोढुम् = (भूल-चूक को) सहन करने की
अर्हसि = योग्यता रखते हैं। या यों कहें कि आप मेरी अनवधानता को सह लीजिए, क्षमा कीजिए।

दिव्या[1]नि कर्माणि तवाद्भुतानि
पूर्वाणि पूर्वे ऋषयः स्मरन्ति।
नान्योऽस्ति कर्ता जगतस्त्वमेको
धाता विधाता च विभुर्भवश्च ॥४७॥

तव = आपके
अद्भुतानि = आश्चर्यमय
दिव्यानि = अनहोने
कर्माणि = कर्मों को
पूर्वाणि = पिछले से भी
पूर्वे = पिछले
ऋषयः = ऋषि-जन
स्मरन्ति = स्मरण करते रहते हैं।
जगतः = जगत् के
त्वम् = आप ही
एकः = एक
कर्ता = बनाने वाले हैं। (इस जगत् को)
धाता = धारण करने वाला,
विधाता = बनाने वाला
विभुः च = और व्यापक
भवः च = स्रष्टा भी तो! (आप के बिना)
न अन्यः अस्ति = और कोई नहीं है।

१. पूर्वे—पुरातना अपि ऋषयस्तव कर्माणि स्मरन्त्यत एव तेषामृषीणामपि तानि पूर्वाणीति जगत्सर्गप्रलयादीनां भगवत्कर्मणामनादिप्रबन्धप्रवृत्तत्वप्रतिपादनमेतत् पूर्वं व्याख्यातप्रायम्, अन्यत्सुबोधम्। किंतु 'धाता'—धारयिता 'विधाता'—स्रष्टा, तव स्रष्टव्यः संसारः किम् 'अद्भुतम्'—आश्चर्यरूपं कर्म स्वेच्छामात्रोपकरणस्यैकस्य कर्तुस्तवासह्यम्। अतएव सहकार्यादिनिरपेक्षत्वात्परतः स्वात्मव्यतिरिक्तात्कुतश्चिच्छक्यं-साध्यम्, किं वा ते कथयिष्यामि। इत्थं चानन्यापेक्षतया यतस्त्वं सर्वस्य वस्तुजातस्य निर्माता, ततो हेत्वन्तराभावात् त्वमेवेदं सर्वं;—त्वच्छक्तिरेवेत्थं चकास्तीत्यर्थः।

तवाद्भुतं किं नु भवेदसह्यं
किं वाशक्यं परतः कीर्तयिष्ये ।
कर्तासि सर्वस्य यतः स्वयं वै
विभो ततः सर्वमिदं त्वमेव ॥४८॥

विभो	= हे व्यापक ईश्वर !		यतः	= क्योंकि
तव	= आपका		स्वयम्	= (आप) खुद ही
अद्भुतम्	= अचंभे में डालने वाला (रूप)		वै	= तो
			सर्वस्य	= सभी के
			कर्ता	= बनाने वाले
असह्यम्	= दुःसह		असि	= हैं
किं नु भवेत्	= क्यों कर न हो ।		ततः	= जभी तो
(अहम्)	= मैं			
परतः	= किसी दूसरे से		सर्वम्	= सभी कुछ
कीर्तयिष्ये	= (इस रूप का) वर्णन		इदम्	= यह
किं वा	= भला कैसे		त्वम्	= आप
शक्यम्	= कर पाऊं		एव	= ही का रूप है ।

अत्यद्भुतं कर्म न दुष्करं ते
कर्मोपमानं नहि विद्यते ते ।
न ते गुणानां परिमाणमस्ति
न तेजसो नापि बलस्य नर्द्धेः ॥४९॥

अति-अद्भुतम्	= अनोखे से भी अनोखा		न	= नहीं हो सकता
			अस्ति	= है
कर्म	= कर्म करना		(च)	= तथा
ते	= आप के लिए		न	= नहीं (आप के)
न दुष्करम्	= कठिन नहीं है ।		तेजसः	= तेज का,
न हि	= (और) न ही आप के		न	= नहीं
कर्म	= कर्मों की		बलस्य	= बल का,
उपमानम्	= तुलना (ही)		न	= नहीं
विद्यते	= हो सकती है ।		ऋद्धेः	= विभूति का
ते	= आप के		अपि	= ही
गुणानाम्	= गुणों का		(परिमाणम्	= मोल-तोल
परिमाणम्	= मोल-तोल		अस्ति)	= हो सकता है ।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव[1] मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥५०॥

देवेश = हे देवताओं के ईश्वर !
अदृष्ट-पूर्वम् = पहिले कभी भी न देखे हुए
(आप के इस विस्मय-जनक)
(रूपम्) = रूप को
दृष्ट्वा = देखकर
(अहम्) = मैं
हृषितः = प्रसन्न हो रहा
अस्मि = हूँ ।
च = और साथ ही
मे = मेरा
मनः = मन
भयेन = भय से
प्रव्यथितः = व्याकुल (भी) हो रहा है
(अतः) = इसलिए
जगत्-निवास = हे जगत् को व्यापने वाले
तत् = उसी
रूपम् = (सौम्य) रूप को
एव = ही
मे = मुझे (फिर से)
दर्शय = दिखाइए ।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त—
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥५१॥

विश्वमूर्ते = हे जगत् रूप बने हुए !
सहस्रबाहो = हे हजारों भुजाओं वाले !
अहम् = मैं
तथा = वैसे
एव = ही
त्वाम् = आप को
किरीटिनम् = मुकट पहने हुए
गदिनम् = गदा (और)
चक्र-हस्तम् = चक्र हाथ में लिए हुए
द्रष्टुम् = देखना
इच्छामि = चाहता हूं ।
(अतः) = इसलिए
तेन एव = उसी
चतुर्भुजेन = चार भुजाओं से युक्त
रूपेण = रूप वाले
भव = बनिये ।

१. प्राक्तनमेव सौम्यं कार्ष्णं रूपं मे—मह्यं दर्शय, दृष्टिविषयं कुर्वित्यर्थः ।

श्री भगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥५२॥

भगवान बोले

अर्जुन	= हे अर्जुन !	**विश्वम्**	= विराट्
प्रसन्नेन	= (तुम पर) प्रसन्न बने हुए	**रूपम्**	= रूप
मया	= मैं ने,	**तव**	= तुम्हें
आत्म-योगात्	= अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से	**दर्शितम्**	= दिखाया है
इदम्	= यह	**यत्**	= जो कि
मे	= अपना	**त्वद्**	= तुम्हारे बिना
परम्	= उत्कट	**अन्येन**	= किसी दूसरे ने
तेजोमयम्	= तेज-पुंज	**न दृष्ट पूर्वम्**	= पहिले कभी देखा ही नहीं है।
आद्यम्	= सब का आदि		
अनन्तम्	= विशाल		

न वेदयज्ञाधिगमैर्न दानै—
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपं शक्यमहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥५३॥

कुरु-प्रवीर	= हे कुरु-वंश में श्रेष्ठ अर्जुन !	न च	= और न
नृ-लोके	= इस मनुष्य-लोक में,	उग्रैः	= भयंकर
न	= न तो	तपोभिः	= तपस्याओं से (ही)
वेद-यज्ञ-अधिगमैः	= वेद और यज्ञों को अपनाने से	त्वत्	= तुम्हारे (बिना)
न	= न	अन्येन	= और किसी द्वारा
दानैः	= दान करने से,	अहम्	= मैं
न	= न	एवं रूपम्	= इस रूप से
क्रियाभिः	= क्रियाओं से,	द्रष्टुम्	= देखा
		शक्यम्	= जा सकता हूं

मा ते व्यथा मा च विमूढता भूद
दृष्ट्वा रूपं घोरमुग्रं ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥५४॥

मम	= मेरे	व्यपेत-भीः	= भय-रहित
इदम्	= इस	प्रीतमनाः	= प्रसन्न मन वाले
घोरम्	= भयंकर	त्वम्	= तुम,
उग्रम्	= संहारकारक	तद् एव	= उसी ही
रूपम्	= रूप को	मे	= मेरे
दृष्ट्वा	= देख कर	इदम्	= इस
ते	= तुम्हें	रूपम्	= (चार भुजाओं वाले) रूप को
व्यथा	= व्याकुलता		
विमूढता च	= और घबराहट	पुनः	= फिर से (ठीक तरह)
मा	= न		
भूद्	= हो (अतः)	प्रपश्य	= देख लो ।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५५॥

---

१. कालपुरुषाद्याकृतियोगात्, उग्रं—संहारादिकर्मणा ।

संजय बोले

वासुदेवः	= वसुदेव के पुत्र भगवान् कृष्ण ने		**दर्शयामास**	= दिखाया
अर्जुनम्	= अर्जुन को		**पुनः च**	= और फिर
इति	= इस प्रकार		**महात्मा**	= प्रतिष्ठित कृष्ण ने
उक्त्वा	= कह कर		**सौम्य-वपुः**	= मृदु-स्वरूप
भूयः	= फिर से		**भूत्वा**	= बनकर
तथा	= वैसे ही		**एनम्**	= इस
स्वकम्	= अपने		**भीतम्**	= भयभीत बने हुए (अर्जुन) को
रूपम्	= सौम्य रूप को		**आश्वासयामास**	= धीरज बंधाया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५६॥

अर्जुन बोले

जनार्दन	= हे दुष्ट लोगों का संहार करने वाले कृष्ण !		**इदानीम्**	= अब
तव	= आप के		**(अहम्)**	= मैं
इदम्	= इस		**सचेताः**	= सजग
सौम्यम्	= सुखद		**संवृत्तः**	= हुआ हूं (और)
मानुष्यम्	= ब्राह्मण, श्रेष्ठ		**प्रकृतिम्**	= आपे में
रूपम्	= रूप को		**गतः अस्मि**	= आ गया हूं।
दृष्ट्वा	= देखकर			

सकलोपसंहारान्ते परमप्रशान्तरूपां ब्रह्मतत्त्वस्थितिं ददाति;— इत्युपसंहारे भगवतः सौम्यता ॥५६॥

भेदप्रथात्मक सभी कुछ विलीन होने के बाद ही (परम शिव) परम **प्रशान्त** रूप ब्रह्म-स्थिति का अनुभव कराता है, इसीलिए (विश्वरूप दर्शन को) सौम्यता से समेटा है।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५७॥

भगवान बोले

मम	= मेरा	**देवाः**	= देवता
इदम्	= यह	**अपि**	= भी
सु-दुर्दर्श	= विराट्	**नित्यम्**	= सदा
रूपम्	= रूप (देखना बहुत ही दुष्कर है)	**अस्य**	= इस
यत्	= जिस को (तुम)	**रूपस्य**	= रूप के
दृष्टवान् असि	= देख चुके हो,	**दर्शनकांक्षिणः**	= देखने को तरसते हैं ।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५८॥

न	= न तो	**अहम्**	= मेरा स्वरूप
वेदैः	= वेदों (को पढ़ने) से	**द्रष्टुम्**	= देखने में
न	= नही	**शक्यः**	= सहज है
तपसा	= तपस्या से	**यथा**	= जैसा
न	= न	**माम्**	= मुझे
दानेन	= दान देने से	**(त्वम्)**	= तुम
न च	= और न ही	**दृष्टवान्**	= देख चुके
इज्यया	= यज्ञ से	**असि**	= हो ।
एवं विधिः	= ऐसा विराट् रूप बना हुआ		

भक्त्या त्वनन्यया शक्यो ह्यहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५९॥

अर्जुन	= हे अर्जुन !		**शक्यः**	= जा सकता हूं ।
परंतप	= हे शूरवीर !		**तत्त्वेन**	= तथ्य रूप में
अनन्यया	= एकाग्र		**ज्ञातुम्**	= जाना जा
भक्त्या	= भक्ति से		**(शक्यः)**	= सकता हूं ।
तु	= ही		**च**	= और
एवम्-विधः	= ऐसा (विराट् रूप बना हुआ)		**प्रवेष्टुम्**	= अनुभूत
अहम्	= मैं,		**च**	= भी किया
द्रष्टुम्	= प्रत्यक्ष देखा		**(शक्यः)**	= जा सकता हूं ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डवः ॥६०॥

पाण्डव	= हे अर्जुन !		**सङ्ग-वर्जितः**	= व्यावहारिक तथा किसी के साथ भी आसक्ति को छोड़ बैठा हो,
यः	= जो (साधक)		**सर्व-भतेषु**	= सभी प्राणियों में
मत्-कर्म-कृत्	= (केवल मुझे मिलने के लिए) निष्काम कर्म करता रहे,		**निः वैरः**	= वैर की भावना से रहित हो,
			सः	= वही (स्थितप्रज्ञ)
मत्-परमः	= मुझ में लौ लगाए रहे		**माम्**	= मुझे
मत्-भक्तः	= मेरा भक्त हो,		**एति**	= प्राप्त करता है ।

अविद्यमानान्यज्ञेयरमणीया येषां भक्तिः परिस्फुरति, तेषां 'मां प्रपद्यते, वासुदेवः सर्वम्' इत्यादि—पूर्वाभिहितोपदेश चमत्कारात् विश्वात्मकं वासुदेवतत्त्वमयत्नत एव बोधपदवीमवतरतीति शिवम् ॥६०॥

जिन (साधकों) की भक्ति, स्त्री, पुत्र आदि के मोह से रहित, केवल मात्र मेरे परायण रहने से विकसित बनी होती है, उनके लिए तो 'मां प्रपद्यते' 'वासुदेवः सर्वम्' मेरे ही शरण में आने से वासुदेव—प्रति प्राणि में वास करने वाला प्रभु ही सब कुछ है' इस प्रकार के पहिले कहे गए उपदेश से विश्वाकार वासुदेव का स्वरूप, सहज में ही विमर्शात्मक बोध में परिणत हो जाता है । इति शिवम् ।

---

१. यो हि चराचरेषु सर्वभूतेषु निरतिशयानन्दनिर्भरं मत्स्वरूपमेव सततमनुभवति स मामेव स्वात्मरूपं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

अत्र संग्रह श्लोकः

शुद्धाशुद्धविमिश्रोत्थसंविदैक्यविमर्शनात्　।
भूर्भुवःस्वस्त्रयं पश्यन्समत्वेन समो मुनिः ॥११॥

सार-श्लोक

शुद्ध-प्रमातृ, अशुद्ध-प्रमेय, शुद्धाशुद्ध-प्रमाण रूप ज्ञान को (प्रमिति रूप से) जानने पर मुनि साधक, भूलोक-जाग्रत, भुवः लोक-स्वप्न, स्वः लोक-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को (तुरीय रूप) साम्य से देखता हुआ साम्य रूप ही बनता है ।

इति श्री महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (विश्वरूपदर्शनयोगो नाम) एकादशोऽध्यायः ॥११॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्य श्री अभिनवगुप्तपाद द्वारा रचित गीतार्थ-संग्रह का (विश्वरूप दर्शनयोग नाम का) ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

अथ

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन बोला

एवम्	=	इस प्रकार
सतत-युक्ताः	=	सदा आप में लौ लगाए हुए
ये	=	जो
भक्ताः	=	भक्त
त्वाम्	=	आपका
परि-उपासते	=	(तन्मय होकर) साकार ध्यान करते हैं।
ये च	=	और जो
अक्षरम्	=	(केवल) आत्मरूप
अव्यक्तम्	=	निराकार का
अपि	=	ही
(पर्युपासते)	=	लग कर ध्यान करते हैं
तेषाम्	=	उनमें से
योग-वित्तमाः	=	योग को तथ्य रूप में जानने वाले
के	=	कौन हैं।

एवम्—उक्तेन नयेन ये सेश्वरब्रह्मोपासकाः, **ये च केवलमात्ममात्रमुपासते, तेषां विशेषाख्यानाय प्रश्नः ॥१॥**

इस प्रकार—कही हुई रीति से जो (भक्त) साकार ब्रह्म के उपासक हैं और जो केवल आत्मा की ही उपासना करते हैं, उन दोनों में (पारस्परिक) अन्तर बतलाने के लिए अर्जुन प्रश्न करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

भगवान् बोले

मयि	=	मुझमें
मनः	=	मन
आवेश्य	=	सौंप कर,
नित्य-युक्ताः	=	सदा महेश्वर के समावेश से युक्त बने हुए
ये	=	जो (साधक)
परया	=	सच्ची
श्रद्धया	=	श्रद्धा से
उपेताः	=	संयुक्त होकर
माम्	=	मेरी
उपासते	=	उपासना करते हैं
ते	=	वे (भक्त)
मे	=	मैंने
युक्त-तमाः	=	योगियों में उत्तम
मताः	=	माने हैं।

माहेश्वर्यविषयो येषां समावेशः—अकृत्रिमस्तन्मयीभावः, ते युक्ततमा मम मताः—इत्यनेन प्रतिज्ञा क्रियते ॥२॥

जिन परम भक्तों की समाधि का चिन्ह, महेश्वर का भक्त होना ही है या यों कहें स्वाभाविक रूप से ईश्वर में लीन हो जाना ही उनका समावेश है, उन्हें मैं सबों में श्रेष्ठ (भक्त) मानता हूं। इस प्रकार की प्रतिज्ञा (भगवान्) इस कथन से करते हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

ये तु = अब जो
इन्द्रिय-ग्रामम् = इन्द्रियों के समुदाय को
संनियम्य = ठीक से वश में करके
अचिन्त्यम् = मन, बुद्धि से परे
सर्वत्रगम् = सर्वव्यापक,
अनिर्देश्यम् = कहने में न आने वाले अकथनीय
च = और
कूटस्थम् = सदा एक जैसे रहने वाले
ध्रुवम् = स्थिर,
अचलम् = अटल,
अव्यक्तम् = निराकार
अक्षरम् च = तथा शाश्वत ब्रह्म को
परि-उपासते = हर प्रकार से उपासते हैं
ते = वे
सर्व-भूत-हिते रताः = सभी प्राणियों के हित में लगे हुए
सम-बुद्धयः = (मित्र-शत्रु में) समान बुद्धि रखने वाले (योगी)
माम् = मुझे
एव = ही
प्राप्नुवन्ति = प्राप्त होते हैं

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

तेषाम् = उन
अव्यक्त-आसक्त-चेतसाम् = निराकार में लीन मन वालों की साधना में
क्लेश = परिश्रम
अधिकतरः = विशेष है (क्योंकि)
अव्यक्ता = निराकार की स्थिति
देह-भृद्भिः = देहधारी जीवों से
हि = तो
दुःखम् = अति कष्ट से ही
अवाप्यते = प्राप्त की जाती है ।

ये पुनरक्षरं ब्रह्मोपासते आत्मानं सर्वत्रगम्— त्यादिभिर्विशेषणैरात्मनः सर्वे ईश्वरधर्मा **आरोप्यन्ते । अतो ब्रह्मोपासका अपि मामेव यद्य ं यान्ति, तथाप्यधिकतरस्तेषां क्लेशः ।** आत्मनि किलापहतपाप्मत्वादिगुणा'ष्टकारोपं विधाय श्चात्तमेवोपासते इति स्वतः सिद्धगुण**ग्रामगरिमणि ईश्वरेऽयत्नसाध्ये स्थितेऽपि द्विगुणमायासं विन्दति ।।५।।**

अब जो (साधक) अक्षर स्वात्मरूप निर ार ब्रह्म की उपासना करते हैं वे तो सर्वव्यापक आत्मा ईश्वर के सभी विशेषणों से अपने अ ्मा में (सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, पूर्णता, नित्या और व्यापकता) के धर्मों का आरोपण करते । इस रीति से वे ब्रह्म के उपासक भी यद्यपि मुझे ही प्राप्त करते हैं, फिर भी उन्हें ऐसं उपासना कष्ट-दायक ही होती है । यह तो मानी हुई बात है कि आत्मा, अपहतपाप्मा, विज ो, विमृत्यु, विशोकः, अविजिघत्सः, अपिपासः, सत्यकामः, सत्यसंकल्पः आठ गुणों से युक्त है । इन्हीं गुणों ो अपने आत्मा में थोप कर तब फिर कहीं उसकी उपासना करते हैं । इस कार जो ईश्वर, स्वभावतः अनन्त गुणों से महत्वपूर्ण है, जो यत्न करने से नहीं मिलता, व तो प्रत्यक्ष ही । ऐसे ईश्वर के उपस्थित होने पर भी उन्हें उसे प्राप्त करने के लिये अधि आयास करन पड़ता है ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।६।।

ये तु = अब जो		**एव** = ही	
मत्-पराः = मुझ में लगे हुए भक्त,		**अनन्येन** = एका होकर	
सर्वाणि = सभी		**योगेन** = ध्यान ोग से	
कर्माणि = कर्म		**ध्यायन्तः** = सदा ्तन करते हुए	
मयि = मुझे ही		**उपासते** = मेरा जन करते हैं ।	
संन्यस्य = सौंप कर			
माम् = मेरा			

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।७।।

पार्थ = हे अर्जुन !	**अहम्** = मैं
तेषाम् = उन	**न चिरात्** = शीघ्र ही
मयि = मुझ में	**मृत्यु-संसार-सागरात्** = मृत्यु रूप संसार सागर से ार लगाने वाला
आवेशित चेतसाम् = लौ लगाने वाले भक्तों को	**सम्-उद्धर्ताः** = ब ता हूं ।

१. य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपा : स यकामः सत्यसङ्कल्प इति (छा० उ०)

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवत्स्यसि त्वं मय्ये योगमुत्तममास्थितः ॥८॥

उत्तमम्	= उच्चतम	**मयि**	= मुझ में
योगम्	= योग पर	**बुद्धिम्**	= बुद्धि को
आस्थितः	= आसीन होकर	**निवेशय**	= लगाओ। (ऐसा करने पर)
त्वम्	= तुम	**त्वम्**	= तुम
मयि	= मुझ में	**मयि**	= मुझ में
एव	= ही	**एव**	= ही
मनः	= मन को	**निवत्स्यसि**	= वास करोगे।
आधत्स्व	= ठहराओ (तथा)		

प्रागुक्तोपदेशेन तु ये सर्व मयि संन्यस्यन्ति तेषामहं समुद्धर्ता, सकलविघ्नादिक्लेशेभ्यः। चेतस आवेशनं व्याख्यातम्। तथा च एष एवोत्तमो योगोऽकृत्रिमत्वात्। तथा च मम स्तोत्रे—

'विशिष्टकरणासनस्थितिसमाधिसंभावना-
विभावितत्तया यदा कमपि बोधमुल्लासयेत्।
न सा तव सदोदिता स्वरसवाहिनी या चिति-
र्यतस्त्रितयसंनिधौ स्फुटमिहापि संवेद्यते ॥

यदा तु विगतेन्धनः स्ववशवर्तितां संश्रय-
न्नकृत्रिमसमुल्लसत्पुलककम्पवाष्पानुगः ।
शरीरनिरपेक्षतां स्फुटमुपाददानश्चितः ।
स्वयं झगिति बुध्यते युगपदेव बोधानलः ॥

तदैव तव देवि तद्वपुरुपाश्रयैर्वर्जितं
महेशमवबुध्यते विवशपाशसंक्षोभकम् ॥'

इत्यादि ॥८॥

---

२. 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इत्युक्तेः ।

पहिले कहे हुए उपदेश से जो (साधक) अपना सभी कुछ मुझे ही सौंपते है, उनका मैं उद्धार करता हूं—सभी विघ्न आदि क्लेशों से छुटकारा दिलाता हूं। यहां पर चित् के आवेश की व्याख्या की गई है। इस भांति स्वाभाविक होने से यह योग ही उत्तम है। यही विषय हमने भी अपने स्तोत्र में कहा है—

हे देवि ! किसी विशेष चर्या (प्रक्रिया) आसन, धारणा, इन्द्रिय-दमन तथा समाधि की अद्वैत भावना जब कभी किसी विशेष ज्ञान को प्रकट करेगी भी, उस बोध के उदय होने पर भले ही संवित् का स्फार भी क्यों न हो, वह अवस्था आपकी सदा रहने वाली, स्वाभाविक, नित प्रवाहित होने वाली चिति-शक्ति से कोसों दूर है। यह स्वाभाविक चिति तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं में यहां भी जानी जाती है।

अब जो (साधक) ध्यान, धारणा रूपी समिधा—लकड़ी के बिना ही, अपने अधीन की हुई स्वाभाविक चिति का आश्रय ले, उसे तो स्वभावतः रोमांच, हर्ष, कम्प, नेत्रों से अश्रु-धारा के बहने के कारण, शरीर की सुध-बुध न रहने से मन, स्फुट समावेश को धारण करता है। इस भांति ज्ञान रूपी अग्नि स्वयं आपसे आप ही भभक उठती है। हे देवि ! उस समय वह आपका वास्तविक स्वरूप, उपायों के बिना ही महेश्वर का ज्ञान कराता है जो लाचार होकर बरजोरी भेद-प्रथा के पाश को काट देता है।
इत्यादि।

अथावेशयितुं चित्तं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जयः ॥९॥

अथ	= अब यदि	**धनञ्जय**	= हे अर्जुन !
चित्तम्	= (अपने) मन को	**अभ्यास-योगेन**	= अभ्यास के द्वारा
मयि	= मुझ में		
स्थिरम्	= दृढ रूप से	**माम्**	= मुझे
आवेशयितुम्	= समाविष्ट		
न	= न ही	**आप्तुम्**	= प्राप्त करने की
शक्नोषि	= कर पाओगे		
ततः	= तो फिर	**इच्छ**	= इच्छा करो

तीव्रतरभगवच्छक्तिपातं चिरतरप्रसादितगुरुचरणानुग्रहं च विना दुर्लभ आवेशः,— इत्यभ्यासः ॥९॥

भगवान् के परम शक्तिपात के बिना तथा बहुत समय से गुरु-चरणों की सेवा करने

से प्रसन्न बने हुए गुरु-जनों के अनुग्रह के बिना, भगवान् का समावेश होना बहुत ही कठिन है। इसीलिए अभ्यास करने का आदेश दिया गया है।

अभ्यासेऽप्यसमर्थः सन्मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

(अर्जुन)	=	हे अर्जुन !	**भव**	=	रहो (इस भांति)
अपि	=	यदि (तुम)	**मद्-अर्थम्**	=	मेरे लिए (निष्काम)
अभ्यासे	=	अभ्यास करने में	**कर्माणि**	=	कर्म
असमर्थः	=	अशक्त	**कुर्वन्**	=	करते हुए
सन्	=	हो	**अपि**	=	भी
(तर्हि)	=	तो	**सिद्धिम्**	=	(साक्षात्कार की) सफलता को
मत्-कर्म-परमः	=	मेरे निमित्त निष्काम कर्म करने में ही लगे	**अवाप्स्यसि**	=	प्राप्त करोगे।

अभ्यासोऽपि न शक्यते—विघ्नाद्यभिभवात्। अतस्तन्नाशाय कर्म—पूजाजपस्वाध्यायहोमादीन् कुरु ॥१०॥

अनेक विघ्न आदि से हार कर यदि अभ्यास भी (तुम से) न हो सके तो फिर विघ्नों को दूर करने के लिए पूजा, जप, स्वाध्याय, हवन आदि करो।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमास्थितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

अथ	=	अब यदि	**मद्-योगम्**	=	मुझे प्राप्त करने की धुन में
एतत्	=	यह (निष्काम कर्म)			
अपि	=	भी			
कर्तुम्	=	कर	**आस्थित**	=	लगे हुए
अशक्तः	=	न			
असि	=	पाओगे	**सर्व-कर्म-फल त्यागम्**	=	सभी कर्मों के फल की इच्छा न
ततः	=	तो फिर			
यत-आत्मवान्	=	जीते हुए मन वाले बन कर	**कुरु**	=	करो।

१. एवं तत्समावेशपल्लवा एव च प्रसिद्धदेहादिप्रमातृभागप्रह्वीभावभावनानुप्राणिताः परमेश्वरस्तुतिप्रणामपूजाध्यानसमाधिप्रभृतयः कर्मप्रपञ्चा इत्यभिप्रायः।

यदि च भगवत्कर्म कर्तुं न शक्तोऽसि,—अज्ञत्वात् शास्त्रोक्तक्रमावेदनात्। तत्सर्वं मयि संन्यसेः आत्मनिवेदनद्वारेणेत्याशयः। अमुमेवाशयमाश्रित्य लघुप्रक्रियायां मयैवोक्तः—

'ऊनाधिकमविज्ञातं पौर्वापर्यविवर्जितम्।
यच्चावधानरहितं बुद्धेर्विस्खलितं च यत्॥

तत्सर्वं मम सर्वेश भक्तस्यार्तस्य दुर्मतेः।
क्षन्तव्यं कृपया शम्भो यतस्त्वं करुणापरः॥

अनेन स्तोत्रयोगेन तवात्मानं निवेदये।
पुनर्निष्कारणमहं दुःखानां नमि पात्रताम्'॥

इति। पारमेश्वरेषु हि सिद्धान्तशास्त्रेषु आत्मनिवेदनेऽयमेवाभिप्रायः॥११॥

अब यदि (भगवान् के प्रति) निष्काम कर्म करने में भी असमर्थ हो—मूर्ख होने के कारण तथा शास्त्र में कही गई प्रणालि को न जानने से, तो फिर आत्म-निवेदन के द्वारा मुझ पर सभी (कर्मों के फल) का बीढा छोडो। यह अभिप्राय है। इसी अभिप्राय को लेकर मैंने 'लघु-प्रक्रिया' (नामक स्तोत्र) में कहा है—

हे सभों के ईश्वर ! पाप और पुण्य को न जानते हुए, भूतकाल में क्या किया और भविष्य में क्या फल मिलेगा, इस पर ध्यान न देते हुए, जो भी कर्म मैंने, बुद्धि के फिसलने से अनवधानता में किये हैं, हे शंकर ! मुझ भक्त, आर्त और मूर्ख के उन सभी कर्मों पर आप क्षमा कीजिए क्योंकि आप तो दया करते ही रहते हैं। इस स्तोत्र के नाते मैं (आपके सम्मुख) आत्म-समर्पण कर रहा हूं। कहीं ऐसा न हो कि मैं बिना कारण ही फिर से दुःखों का पात्र बनूं।

- परमेश्वर सम्बन्धित सिद्धान्त-शास्त्रों में आत्म-निवेदन का यही अभिप्राय है।

तदिदं तात्पर्यमुपसंह्रियते—

उसी इस आशय को नपे-तुले शब्दों में कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

हि	= क्योंकि	कर्म-फल-त्यागः	= कर्मों के फलों का त्याग करना
अभ्यासात्	= निरन्तर ध्यान करने से	(विशिष्यते)	= उच्च है (और)
ज्ञानम्	= आवेशात्मक ज्ञान	त्यागात्	= फलों के त्याग से
श्रेयः	= फल-दायक है।	अनन्तरा	= निकटवर्ती, सदा रहने वाली
ज्ञानात्	= ज्ञान से	शान्तिः	= आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है।
ध्यानम्	= भगवत् रूपता का भान होना		
विशिष्यते	= श्रेष्ठ है।		
ध्यानात्	= (इस) ध्यान से		

ज्ञानम्—आवेशात्म, अभ्यासाच्छ्रेयः—अभ्यासस्य तत्फलत्वात्। तस्मादेवावेशात् ध्यानं—भगवन्मयत्वं विशिष्यते—विशेषत्वं याति, -अभिमतप्राप्त्या। सति ध्याने—भगवन्मयत्वे कर्मफलानि संन्यसितुं युज्यन्ते। अन्यथाज्ञातरूपे क्व संन्यासः। कर्मफलत्यागे च आत्यन्तिकी शान्तिः। अतः सर्वमूलत्वादावेशात्मकं ज्ञानमेव प्रधानम् ॥१२॥

ईश्वर के प्रति अनुरक्ति को ज्ञान कहते हैं। (अतः वह आवेश) अभ्यास से श्रेष्ठ है क्योंकि अभ्यास का फल तो वह आवेश ही है। उसी आवेश से ध्यान भगवान् में पूर्ण रूप से मिल जाना श्रेष्ठ है क्योंकि अभीष्ट ईश्वर की प्राप्ति इसी ध्यान से होती है। अतः यह ध्यान-योग की विशेषता है। ध्यान के दृढ होने पर—भगवान् के मिलने से कर्मों के फल का त्याग करना सहज होता है। अतः अज्ञात रूप में—भाव-समाधि के न होने पर कर्म-फलों का संन्यास करना क्या माने रखता है। कर्म-फलों के त्याग से तो चरम-कोटि की परम शान्ति मिलती है। अतः आवेशात्मक ज्ञान ही सभी (ज्ञानों का) मूल कारण होने से प्रधान माना जाता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

सर्वभूतानाम्	= सब प्राणियों में	(तथा)	= तथा
अद्वेष्टा	= द्वेष की भावना से रहित,	निर्ममः	= ममता से रहित,
च	= और	निरहंकारः	= अहंकार से छूटा हुआ,
मैत्रः	= स्वार्थ की भावना से रहित सबका प्रेमी	समदुःखसुखः	= सुख और दुःखों में एक जैसा मन वाला
करुणः	= दया का रूप ही	क्षमी	= (अपराध करने वालों को भी) अभय देने वाला होता है।
एव	= होता है		

मैत्री—अमत्सरता यस्यास्तीति। एवं करुणः। 'ममामी'—इत्यादिः ममकारः, 'अहमुदारोऽहं तेजस्वी अहं सहनः'—इत्यादिः अहंकारः, —एतौ यस्य न स्तः। क्षमा—अपकारिणं शत्रुं प्रत्यद्वेषबुद्धिः ॥१३॥

जिसे किसी के प्रति द्वेष न हो वह मित्रता कहलाती है। इसी प्रकार करुणा का भी अर्थ समझना चाहिए। 'मेरे ये हैं' इत्यादि इस प्रकार का ज्ञान ममत्व कहलाता है। 'मैं उदार हूं, मैं तेजस्वी हूं, मैं सहनशील हूं इत्यादि ज्ञान अहंकार कहलाता है। ये दोनों—ममत्व तथा अहंकार जिसे न हों (वह निर्ममी तथा निरहंकारी कहलाता है।) बुरा करने वाले शत्रु के लिये भी जिसे द्वेष-बुद्धि न हो वह क्षमा कहलाती है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

यः = जो		**सः** = वह	
सततम् = व्यवहार करते हुए भी सदा		**मयि** = मुझ में	
योगी = शान्त अन्तःकरण वाला		**अर्पित** = अर्पण किए हुए	
संतुष्टः = (लाभ-हानि में भी) प्रसन्न रहता है।		**मनः-बुद्धि** = मन-बुद्धि वाला	
यतात्मा = जितेन्द्रिय (और)		**मद्-भक्तः** = मेरा उपासक	
दृढ-निश्चयः = मुझ में पक्के रूप से टिका हुआ है।		**मे** = मुझे	
		प्रियः = प्यारा है।	

सततं योगी—व्यवहारावस्थायामपि प्रशान्त-अन्तः करणत्वात् ॥१४॥

व्यवहार करते हुए भी पूर्ण रूप से शान्त (संकल्प-विकल्पों से रहित) होने के कारण वह सदा योगी ही है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

यस्मात् = जिस योगी से	**च** = तथा
लोकः = लोग	**यः** = जो
न उद्विजते = खीजते नहीं हैं	**हर्ष** = प्रसन्नता,
च = और	**अमर्ष** = क्रोध,
यः = जो (योगी)	**भय** = भय (और)
लोकात् = लोगों से	**उद्वेगैः** = घबराहटों से
न उद्विजते = घबराता नहीं है	**मुक्तः** = छूटा हुआ है
	सः = वह
	मे = मुझे
	प्रियः = प्यारा है।

अनपेक्ष: शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ: ।
सर्वारम्भफलत्यागी यो मद्भक्त: स मे प्रिय: ॥१६॥

य:	= जो (योगी)
अनपेक्ष:	= चाह से रहित,
शुचि:	= पवित्र अन्त: करण वाला,
(च)	= और
दक्ष:	= अपने ध्येय को पूरा करने में प्रवीण है
उदासीन:	= संसार के झंझटों के प्रति तटस्थ (तथा)
गत-व्यथ:	= दु:खों से छूटा हुआ है
स:	= वह
सर्व-आरम्भ-फल-त्यागी	= सभी स्वाभाविक कर्मों के फल को चाहने वाला
मद्-भक्त:	= मेरा उपासक
मे	= मुझे
प्रिय:	= प्यारा है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभफलत्यागी भक्तिमान्य: स मे प्रिय: ॥१७॥

य:	= जो
न	= न (कभी सुख में)
हृष्यति	= हर्षित होता है,
न	= न (दु:ख में)
द्वेष्टि	= घबराता है
(च)	= और
न	= न
शोचति	= शोक करता है
न	= न ही
कांक्षति	= किसी की चाह रखता है।
य:	= जो
शुभ-अशुभ-फल-त्यागी	= पुण्य और पाप कर्मों के फल को नहीं चाहता
स:	= वह
भक्ति-साधक	= भक्ति-युक्त साधक
मे	= मुझे
प्रिय:	= प्यारा है।

सम: शत्रौ च मित्रे च तथा मानावमानयो: ।
शीतोष्णसुखदु:खेषु सम: सङ्गविवर्जित: ॥१८॥

(तथा)	=	और जो	**शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु**	=	सर्दी, गर्मी सुख दुःख में,
शत्रौ	=	शत्रु,	**समः**	=	समान भाव से रहता है
मित्रे	=	मित्र में	**च**	=	तथा
च	=	तथा	**सङ्ग-विवर्जितः**	=	आसक्ति से छूटा हुआ है।
मान-अवमानयोः	=	आदर व अनादर में			
समः	=	एक जैसा रहता है			
तथा	=	और			

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी[1] सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

(तथा जो)

तुल्य-निन्दा-स्तुतिः	=	निन्दा, प्रशंसा को समान समझने वाला,	**अनिकेतः**	=	किसी भी नियम का आदी नहीं है,
मौनी	=	ईश्वर के ध्यान में लगे रहने से व्यर्थ की बातें न करने वाला,	**सः**	=	वह
येन-केनचित्	=	जैसे तैसे	**स्थिरमतिः**	=	दृढ बुद्धि वाला
संतुष्टः	=	सदा अपने में प्रसन्न है (और)	**भक्तिमान्**	=	मेरा अनुरागी
			नरः	=	साधक,
			मे	=	मुझे
			प्रियः	=	प्यारा है।

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

ये तु	=	अब	**परि-उपासते**	=	भली-भांति अपनाते हैं
मत्-परमाः	=	मुझ में लगे हुए	**ते**	=	वे
श्रद्धधानाः	=	श्रद्धा वाले (साधक)	**भक्ताः**	=	आराधक भक्त,
इदम्	=	इस	**मे**	=	मुझे
यथा-उक्तम्	=	ऊपर कहे हुए	**अतीव**	=	बहुत ही
धर्म-अमृतम्	=	धर्म रूप अमृत को	**प्रियः**	=	प्यारे हैं।

---

१. 'विजानन्विद्वान् भवते नातिवादी' इति श्रुतेः ।
अन्यत्रापि —'जड इव विचरेदवादमतिः' इति ।

अनिकेतः—'इदमेव मया कर्तव्यम्'—इति यस्य नास्ति प्रतिज्ञा। यथाप्राप्तहेवाकितया सुखदुःखादिकमुपभुञ्जानः परमेश्वरविषयसमावेशितहृदयः सुखेनैव प्राप्नोति परमकैवल्यमिति शिवम् ॥२०॥

'यही केवल मेरा कर्तव्य है' ऐसा जिसका व्रत न हो। (प्रभु-इच्छा से) प्राप्त सुख-दुःख को जो सहर्ष भोगता है तथा जिसका विषय परमेश्वर है उसी में लौ लगाये हुए हृदय वाला हो, वह तो सहज में ही मोक्ष को प्राप्त करता है। इति शिवम्।

अत्र संग्रह श्लोकः

परमानन्दवैवश्यसञ्जातावेशसंपदः।
स्वयं सर्वास्ववस्थासु ब्रह्मसत्ता ह्ययत्नतः ॥१२॥

सार-श्लोक

(जिस योगी को) परम-आनन्द से बेबस होकर भावावेश का धन मिला हो उसे स्वयं, सभी अवस्थाओं में रह कर, ब्रह्म की सत्ता सहज (अनायास) ही प्राप्त होती है।

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (भक्तियोगोनाम) द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रचित गीतार्थ-संग्रह का
(भक्तियोग नाम का) बारहवां अध्याय
समाप्त हुआ।

अथ

त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥१॥

अर्जुन बोला

केशव	= हे कृष्ण !	**एव च**	= तथा
(अहम्)	= मैं	**ज्ञानम्**	= ज्ञान,
प्रकृतिम्	= प्रकृति,	**ज्ञेयम्**	= ज्ञेय, परमात्मा
पुरुषम्	= पुरुष	**एतद्**	= इन सबों का (लक्षण)
च	= तथा	**वेदितुम्**	= जानना
क्षेत्रम्	= शरीर	**इच्छामि**	= चाहता हूं ।
क्षेत्रज्ञम्	= शरीर में रहने वाला (आत्मा)		

क्वचिच्छ्रुतौ 'क्षेत्रज्ञ उपास्यः' —इति श्रूयते । स च किमात्मा, उतेश्वरः, अथ तृतीयः कश्चिदन्य एव ? इति प्रश्नाशङ्कायां श्रीभगवानादिशति—

कई वेदों की ऋचाओं में यह सुनते आये हैं कि क्षेत्रज्ञ की उपासना करनी चाहिए । वह क्षेत्रज्ञ क्या जीवात्मा है या ईश्वर है अथवा कोई तीसरा ही है । इन प्रश्न-शंकाओं का समाधान भगवान् करते हैं—

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेद तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥२॥

भगवान बोले

कौन्तेय	= हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन !	**एतत्**	= इसको
		यः	= जो
इदम्	= यह	**वेद**	= जानता है
शरीरम्	= शरीर	**तम्**	= उसको
		क्षेत्रज्ञः	= क्षेत्रज्ञ (आत्मा),
क्षेत्रम्	= खेत है	**इति**	= इस भांति
इति	= ऐसे	**तत्-विदः**	= उनके तत्त्व को जानने वाले ज्ञानीजन
अभिधीयते	= कहा जाता है (और	**प्राहुः**	= कहते हैं ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥३॥

च	= और	**यत्**	= जो
भारत	= हे अर्जुन !	**ज्ञानम्**	= मर्म जानना है,
सर्व-क्षेत्रेषु	= सब शरीरों में	**तत्**	= वह
क्षेत्रज्ञम्	= जीवात्मा	**ज्ञानम्**	= ज्ञान है
अपि	= भी	**(इति)**	= ऐसी
माम्	= मुझे ही	**मम**	= मेरी
विद्धि	= जानो (इतना ही नहीं)	**मतम्**	= धारणा है ।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः	= शरीर और जीवात्मा का		

संसारिणां शरीरं क्षेत्रं, यत्र कर्मबीजप्ररोहः । अत एव तेषामात्मा आगन्तुककालुष्य-रूषितः क्षेत्रज्ञ उच्यते । प्रबुद्धानां तदेव क्षेत्रम् । अन्वर्थभेदस्तु तद्यथा— क्षिणोति कर्मबन्धमुपभोगेन, त्रायते जन्ममरणभयादिति । तांश्च प्रति परमात्मा वासुदेवः क्षेत्रज्ञः, एतत्क्षेत्रं यो वेद—वेदयति इत्यन्तर्भावितण्यर्थो विदिः । तेन यत्प्रसादादचेतनमिदं चेतनीभावमायाति स एव क्षेत्रज्ञो नान्यः कश्चित् । विशेषस्तु परिमितव्याप्तिकं रूपमालम्ब्य आत्मेति भण्यते, अपरिच्छिन्न-सर्वक्षेत्रव्याप्त्या परमात्मा भगवान्वासुदेवः । ममेति कर्मणि षष्ठी;—अहमनेन ज्ञानेन ज्ञेय इत्यर्थः ॥३॥

संसारी जीवों का शरीर ही खेत है जिसमें कर्म रूपी बीज अंकुरित होता है । इसी लिए उनका आत्मा अपनी इच्छा से आने वाले पाप-पुण्य से ढका हुआ क्षेत्रज्ञ कहलाता है । बुद्धिमानों के लिए वह जीवात्मा ही क्षेत्र (खेत) है । क्षेत्रज्ञ शब्द का सार्थक विवरण यों है—कर्मों का बंधन, भोगने से जहां कट जाता है और जीने मरने के भय से जो रक्षा करता है । ऐसे प्रबुद्ध साधकों के लिए परमात्मा वासुदेव ही क्षेत्रज्ञ है । इस क्षेत्र (मूर्खों की दृष्टि में शरीर और प्रबुद्धों के दृष्टिकोण से जीवात्मा) को जो जानता है तथा दूसरों को जनवाता है- इस प्रकार के दोनों अर्थ विद् धातु से प्रकट होते हैं क्योंकि इस विद् धातु में णिच् प्रत्यय अन्तर्भूत है । जिस (ईश्वर) के प्रभाव से यह जड शरीर, चेतन बनता है वही क्षेत्रज्ञ है और दूसरा नहीं । इसके अतिरिक्त दूसरा विशेष अर्थ इसमें यह है कि सीमित व्यापकता का आश्रय लेकर जीवात्मा कहलाता है । व्यापक रूप से सभी शरीरों में ठहरा हुआ परमात्मा भगवान् वासुदेव है । ममेति इस षष्ट्यन्त पद का प्रयोग कर्मकारक के अर्थ में ही हुआ है या यों कहें 'मेरा' इस शब्द में कर्म में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है । अतः मैं ऐसे ज्ञान से जाना जाता हूँ । यह अर्थ है ।

---

१. वासुदेवाख्य इति ग. पाठः ।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्य यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्स्वभावश्च तत्समासेन मे श्रृणु ।।४।।

तत्	= वह		यत्	= बना है
क्षेत्रम्	= खेत		च	= तथा
यत्	= जो है		सः	= वह क्षेत्रज्ञ
च	= और		च	= भी
यादृक्	= जैसा है		यः	= जो है,
च	= तथा		यत्	= जिस
यत्-विकारि	= जिन विकारो वाला है		स्वभावः	= स्वभाव वाला है
च	= और		तत्	= वह (सभी कुछ)
यतः	= जिस कारण से		समासेन	= नपे-तुले शब्दों में
			मे	= मुझ से
			श्रृणु	= सुनो ।

(इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व)

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चि'तम् ।।५।।

ऋषिभिः	= ऋषियों द्वारा		च एव	= और भी
बहुधा	= अनेक प्रकार से		हेतु मद्भिः	= युक्तियुक्त
गीतम्	= कहा गया हैं		ब्रह्म-सूत्रपदैः	= ब्रह्म-सूत्र के पदों द्वारा
(च)	= और		विनिश्चितम्	= निश्चित किया गया है ।
विविधैः	= अनेकानेक			
छन्दोभिः	= वेद-मन्त्रों से			
पृथक्	= विभाग-पूर्वक			
(गीतम्)	= वर्णित हुआ है			

येन विकारं गच्छति यद्विकारि। समासेन—इत्यविभागेनैवैताःप्रश्नान् साधारणोत्तरेण परिच्छिनत्ति। यद्यपि च ऋषिभिर्बहुधा वेदैश्चोक्तमेतत्, तथापि समासेनाहं व्याचक्षे इति ।।५।।

१. अनेन वक्ष्यमाणस्य क्षेत्रादिप्रतिपादकस्यार्थस्य वेदवेदान्तस्मृतिप्रसिद्धत्वं प्रकाशितम् ।

यह (क्षेत्र-शरीर) जिसके द्वारा विकार को प्राप्त होता है और जिस विकार को प्राप्त करता है, इन प्रश्नों का उत्तर साधारण शब्दों में कहकर समझाते हैं। यद्यपि ऋषियों ने अनेक प्रकार से वेदों में यह बात कही है तथापि संक्षिप्त शब्दों में, मैं इस विषय को कहूंगा।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥६॥

महा-भूतानि = पांच महाभूत, (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश)
अहंकारः = अहंकार,
बुद्धिः = बुद्धि
च = और
अव्यक्तम् = प्रकृति
एव = भी
च = तथा
दश = दस
इन्द्रियाणि = इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां)
(च) = और
एकम् = एक मन,
पञ्च = पांच
इन्द्रिय-गोचराः = इन्दियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध)

अव्यक्तं-प्रकृतिः। इन्द्रियाणि—मनसा सहैकादश। इन्द्रियगोचराः—रूपादयः पञ्च ॥६॥

अव्यक्त, प्रकृति को कहते हैं। मन को मिलाकर इन्द्रियां ग्यारह हैं। इन्द्रियों के विषय, रूप आदि पांच (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) हैं।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥७॥

इच्छा = अभिलाषा
द्वेषः = डाह
सुखम् = सुख,
दुःखम् = दुःख,
संघातः = स्थूल देह का पिंड,
चेतना = चेतन-शक्ति,
धृतिः = धैर्य (इस प्रकार)
एतत् = यह
क्षेत्रम् = क्षेत्र
सविकारम् = विकारों के सहित
समासेन = संक्षेप से
उदाहृतम् = कहा गया।

चेतना—दृक्शक्तिः पुरुषः । धृतिरिति अन्ते किल सर्वस्य-आ ब्रह्मणः क्रिमिपर्यन्तस्य प्रारब्धे निष्पन्ने वा कार्ये कामक्रोधादिषु च 'इयतैव मम पर्याप्तं किमन्येन, ईदृशश्चाहं नित्यमेव भूयासम्'—इति प्राणसंधारिणी धृतिराश्वासनात्मिका पररहस्यशासनेषु रागशब्द-वाच्या जायते ॥७॥

ज्ञान-शक्ति से युक्त पुरुष को, चेतन कहते हैं । ब्रह्मा जी से लेकर कीडे तक सभों को इस प्रकार का यह कर्ण धैर्य भीतर में है ही । प्रारम्भ किए हुए या समाप्त किए हुए काम-क्रोध आदि कार्यों में भी 'इतना ही मेरे लिए काफी है, अधिक से क्या लाभ या ऐसा ही मैं सदा बना रहूं' इस प्रकार का प्राणों को स्थिति देने वाला विश्वास-प्रद धैर्य, शैव-शास्त्रों में 'राग' कहलाता है ।

एवं क्षेत्रं व्याख्यातं, क्षेत्रज्ञश्च । इदानीं ज्ञानमुच्यते—

इस प्रकार 'क्षेत्र' की व्याख्या हुई और 'क्षेत्रज्ञ' की भी । अब ज्ञान कहते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥८॥

अमानित्वम् = गर्व का न होना,
अदम्भित्वम् = पाखंड न होना,
अहिंसा = शरीर, मन तथा वाणि से किसी भी प्राणि की हिंसा न करनी,
क्षान्तिः = सहनशीलता,
आर्जवम् = सरलता,
आचार्य-उपासनम् = बड़ों की आज्ञा का पालन करना
शौचम् = (शारीरिक, मानसिक) पवित्रता
आत्म-विनिग्रहः = मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥९॥

इन्द्रिय-अर्थेषु = इन्द्रियों के विषयों (शब्द, स्पर्श आदि) में
वैराग्यम् = लगाव न होना
च = और
अन-अहंकारः = अहंकार का
एव = भी अभाव होना,
जन्म = जीना,
मृत्यु = मरना,
जरा = बुढापा,
व्याधि = रोग (आदि में)
दुःख = दुःख रूप
दोष = दोषों का
अनु-दर्शनम् = बार-बार विचार करना

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१०॥

पुत्र-दार-गृह-आदिषु = पुत्र, स्त्री, घर आदि में

असक्तिः = अनासक्त रहना,

अन-अभिष्वङ्गः = ममता का अभाव,

च = और

इष्ट-अनिष्ट-उपपत्तिषु = प्रिय, अप्रिय की प्राप्ति में

नित्यम् = सदा ही

सम-चित्तत्वम् = मन की स्थिति एक जैसी रहनी,

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥११॥

च = और

मयि = मुझ परमात्मा में

अनन्य-योगेन = एकाग्र मन से, मेरे बिना अन्य किसी की भी आस्था न रखने से

अव्यभिचारिणी-भक्तिः = अटल अर्थात् किसी भी कामना की चाह न रखने वाली भक्ति,

विविक्त-देश-सेवित्वम् = एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव,

जन-संसदि = व्यावहारिक लोगों में बैठने की

अरतिः = इच्छा का न होना,

अध्यात्मज्ञाननिष्ठत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१२॥

अध्यात्म-ज्ञान-निष्ठत्वम् = स्वात्म-ज्ञान मे घनिष्ठ अनुराग का होना,

तत्त्व-ज्ञान-अर्थ-दर्शनम् = तत्त्व-ज्ञान का जो सार भूत अर्थ ईश्वर है उसको (सब में) देखना,

एतत् = यह सब (तो)

ज्ञानम् = ज्ञान है ।

यत् = जो अब

अतः = इस ज्ञान से

अन्यथा = उलटा, विपरीत है,

(सः) = वह

अज्ञानम् = अज्ञान नाम से

इति = इस प्रकार

प्रोक्तम् = (शास्त्रों में) कहा है ।

अनन्ययोगेनेति—'परमात्मनो महेश्वरादन्यदपरं न किंचिदस्ति'—इत्यनन्यरूपो यो निश्चयः, स एव योगः; —तेन निश्चयेन मयि भक्तिः । अतएव सा न कदाचिद्व्यभिचरति,—व्यभिचारहेतुत्वाभिमतानां कामनानामभावात्, तासामपि वा चित्तवृत्त्यन्तररूपाणां तदेकमयत्वात् । एवं सर्वत्रानुसंधेयम् एतद्विपरीतमज्ञानम्; यथा मानित्वादीनि ॥१२॥

एकाग्र मन से—'परमात्मा महेश्वर से अन्य (दूसरा) कोई नहीं है'—इस प्रकार का अभेद रूप निश्चय ही योग कहलाता है । इसी निश्चय से मुझ में भक्ति उत्पन्न होती है, या यों कहें—वह निश्चय ही मुझ में भक्ति है । अतः वह भक्ति फिर कभी दूषित नहीं होती । भक्ति में न्यूनता कामनाओं के होने से होती है अतः जब कामनाएं ही न हों तो भक्ति अटल रहती है । वे सभी कामनायें भी, भक्ति-रस से पूरित चित्त-वृत्ति के भीतर होने से भक्ति-रस से अभिन्न ही हैं । इसी भांति अन्य प्रसंगों में भी अर्थ समझना चाहिए । इस (ज्ञान) से उलटा अज्ञान है । जैसे अमानिता के विपरीत मानिता, अभिमान आदि है ।

एतेन ज्ञानेन यज्ज्ञेयं तदुच्यते—

इस ज्ञान से जो (जानने योग्य परमात्मा) जाना जाता है उसका निर्णय करते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१३॥

यत्	= जो	(तत्)	= वह
ज्ञेयम्	= जानने योग्य (परमात्मा) है, (तथा)	**अन-आदिमत्**	= आदि रहित,
		परम्	= सर्वोच्च
यत्	= जिसे	**ब्रह्म**	= परमात्मा
ज्ञात्वा	= जान कर (मनुष्य)	**न**	= न तो
अमृतम्	= परम आनंद को	**सत्**	= सत् (कहा जाता है)
अश्नुते	= प्राप्त करता है	(**च**)	= और
तत्	= उसे	**न**	= न
प्रवक्ष्यामि	= सही अर्थों में, अच्छी रीति से कहूंगा ।	**असत्**	= असत् ही
		उच्यते	= कहा जाता है ।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१४॥

तत्	= वह ईश्वर		श्रुतिमत्	= कानों वाला
सर्वतः	= चारों ओर		(अस्ति)	= है।
पाणि-पादम्	= हाथ पैर वाला (तथा)		(इत्यतः)	= इस प्रकार
सर्वतः-अक्षि शिरः-मुखम्	= सभी ओर नेत्र, सिर और मुख वाला,		**लोके**	= संसार में
			सर्वम्	= सब को
			आवृत्य	= व्याप्त करके
सर्वतः	= चारों ओर		**तिष्ठति**	= ठहरा है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं　　सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१५॥

	(ये प्रभु)		**निर्गुणम्**	= गुणों (सत्त्व, रज और तम) से परे होकर
सर्व-इन्द्रिय गुण-आभासम्	= सभी इन्द्रियों के विषयों का प्रकाशक (होकर भी)		**एव**	= भी
सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितम्	= सभी इन्द्रियों से वंचित अर्थात् न्यारा है		**सर्व-भृत्**	= सबों को धारण पोषण करने वाला
च	= और		**च**	= और
असक्तम्	= विषयों मे लगाव से रहित		**गुण-भोक्तृ**	= गुणों अर्थात् विषयों को भोगने वाला है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१६॥

भूतानाम्	= प्राणियों के		**सूक्ष्मत्वात्**	= (निर्मलता के कारण) सूक्ष्म होने से
बहिः	= बाहर			
अन्तः	= भीतर (वही परमात्मा ठहरा है)		**अविज्ञेयम्**	= जाना नहीं जाता
			च	= और
च	= और		**अन्तिके**	= निकट होकर
चरम्	= चेतन		**च**	= भी
अचरम्	= जड़		**तत्**	= वह
एव	= भी (वही) है।		**दूरस्थम्**	= (बुद्धि का विषय न होने से) दूर ठहरा है।
च	= तथा			
तत्	= वह (ईश्वर)			

अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१७॥

विभक्तेषु	= भिन्न-भिन्न पदार्थों में	**भूत-भर्तृ**	= प्राणियों का पालन पोषण करने वाला
अविभक्तम्	= एक जैसा होकर भी		
विभक्तम् इव	= मानों भिन्न-भिन्न स्वरूप के रूप में	**च**	= होकर
		ग्रसिष्णु	= (रुद्र रूप बन कर) संहार करने वाला
स्थितम्	= ठहरा है ।		
तत्	= वह	**च**	= तथा
ज्ञेयम्	= जानने योग्य (परमात्मा)	**प्रभविष्णु**	= (ब्रह्मा रूप से) सबको उत्पन्न करने वाला है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१८॥

तत्	= वह परमात्मा	**ज्ञेयम्**	= ज्ञेय रूप है
ज्योतिषाम्	= प्रकाशों का	**(च)**	= और
अपि	= भी	**ज्ञान-गम्यम्**	= आत्म-ज्ञान से (ही) जाना जाता है (तथा)
ज्योतिः	= प्रकाश है ।		
तमसः	= अंधेरे से	**सर्वस्य**	= सभी प्राणियों के
परम्	= परे है,		
उच्यते	= ऐसा कहा जाता है ।	**हृदि**	= हृदय में
ज्ञानम्	= ज्ञान रूप है,	**विष्ठितम**	= ठहरा है ।

'अनादिमत्परं ब्रह्म'— इत्यादिभिर्विशेषणैर्ब्रह्मस्वरूपाक्षेपानुग्राहकं सर्वप्रवादाभिहित-विज्ञानापृथग्भावं कथयति। एतानि च विशेषणानि पूर्वमेव व्याख्यातानि किं निष्फलतया पुनरुक्तया। १८॥

'अनादिमत् परं ब्रह्म' इस श्लोक से लेकर 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' इस श्लोक तक वर्णन किये गये विशेषणों से ब्रह्म स्वरूप ईश्वर के विषय में जितने भी संशय हैं उनको दूर करने वाला, सभी मतों में कहा गया विज्ञान की एकता का प्रदर्शन किया गया है। इन विशेषणों की तो हम पहिले व्याख्या कर ही चुके हैं, अतः दुबारा कहने से क्या लाभ ?

एतत्क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१९॥

एतत्	= इस		**एतत्**	= इस ज्ञान को
क्षेत्रम्	= क्षेत्र (शरीर) का,		**विज्ञाय**	= पूर्ण रूप से अनुभव करके
ज्ञानम्	= आत्म-ज्ञान का,		**मद्-भक्तः**	= मेरा भक्त,
तथा	= और		**मद्-भावाय**	= मेरे स्वरूप को (ही)
ज्ञेयम् च	= जानने योग्य प्रभु का (लक्षण)		**उपपद्यते**	= प्राप्त होता है।
(मया)	= मैं ने			
समासतः	= नपे-तुले शब्दों में			
उक्तम्	= कहा।			

एतत्क्षेत्रज्ञानज्ञेयात्मकं त्रयं यो वेत्ति, स एव मद्भक्तः। स च मद्भावमेति ॥१९॥

क्षेत्र—शरीर, ज्ञान—परमात्म-ज्ञान और ज्ञेय—जानने योग्य ईश्वर, इन तीनों को जो जानता है, वह ही मेरा भक्त है और वही मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है।

एतत्लक्षणं कृत्वा परीक्षा क्रियते—

इनका लक्षण करके अब (इन की) जांच करते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥२०॥

प्रकृतिम्	= प्रकृति		**च**	= तथा
च	= और		**गुणान्**	= (उनके) विषयों को
पुरुषम्	= पुरुष (क्षेत्रज्ञ)		**अपि**	= भी
उभौ	= दोनों को		**प्रकृति**	= प्रकृति से
एव	= ही (तुम)		**संभवान्**	= उत्पन्न हुए
अनादी	= आदि से रहित		**एव**	= ही
विद्धि	= समझो		**विद्धि**	= जान लो।
च	= और			
विकरान्	= पदार्थों को			

प्रकृतिरप्यनादिः—कारणान्तराभावात् । विकाराः—पटादयः ॥२०॥

प्रकृति भी अनादि है क्योंकि इसका दूसरा कारण कोई नही है । विकार—घट, पट आदि पदार्थ, प्रकृति के विकार कहलाते हैं ।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२१॥

कार्य-कारण-कर्तृत्वे	=	पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश (कार्य) शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध (कारण) को उत्पन्न करने में	**उच्यते**	=	कही जाती है (और)
			सुख-दुःखानाम्	=	सुख-दुःख को
			भोक्तृत्वे	=	भोगने में
			पुरुष	=	पुरुष
हेतुः	=	हेतु	**हेतुः**	=	कारण
प्रकृतिः	=	प्रकृति	**उच्यते**	=	कहा जाता है ।

प्रकृतिरिति कार्यकारणभावे हेतुः । पुरुषस्तु प्राधान्याद्भोक्ता ॥२१॥

इस प्रकार प्रकृति, कारण, पांच महाभूत और कार्य शब्दादिक विषयों की उत्पत्ति में सहायक हैं और पुरुष प्रधान (प्रमुख) होने से (विषयों को) भोगने वाला है ।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२२॥

प्रकृतिस्थः	=	प्रकृति में ठहरा हुआ	**अस्य**	=	इस जीवात्मा को
हि	=	ही	**गुण-सङ्गः**	=	विषयों का लगाव
पुरुषः	=	जीवात्मा			
प्रकृतिजान्	=	प्रकृति से उत्पन्न हुए	(एव)	=	ही,
गुणान्	=	तीनों गुणों से युक्त पदार्थों को	**सद् असद्-योनि जन्मसु**	=	अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का
भुङ्क्ते	=	भोगता है (तथा)	**कारणम्**	=	हेतु है ।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२३॥

पुरुषः	=	पुरुष (जीवात्मा)	**च**	=	और
अस्मिन्	=	इस	**अनुमन्ता**	=	सहमति-सलाह देने वाला,
देहे	=	शरीर में	**भर्त्ता**	=	पालन-पोषण करने वाला,
(स्थितः)	=	ठहरा हुआ	**भोक्ता**	=	जीव रूप से भोगने वाला,
अपि	=	भी	**च**	=	तथा
परः	=	(शरीर से अन्य) आत्म रूप सर्वोत्तम	**महेश्वरः**	=	ब्रह्मादिकों का भी ईश्वर
एव	=	ही है (क्योंकि)	**परमात्मा**	=	चैतन्य रूप
उपद्रष्टा	=	(साक्षी होने से) उपदेश करने वाला,	**इति**	=	ऐसे
			उक्तः	=	कहा गया है ।

प्रकृतिपुरुषयोः पङ्ग्वन्धवत्किलान्योन्यापेक्षा वृतिः

*** अत एवास्य शास्त्रकृद्भिर्नानाकारैर्नामभिरभिधीयते रूपम्—'उपद्रष्टा'—इत्यादिभिः। अयमत्र तात्पर्यार्थः। प्रकृतिः, तद्विकारश्चतुर्दशविधः सर्गः तथा पुरुषः,—एतत्सर्वमनादि नित्यं च, ब्रह्मतत्त्वाच्छुरितत्वे सति तदनन्यत्वात् ॥२३॥**

प्रकृति और पुरुष तो एक दूसरे पर निर्भर होने से लंगड़े और अन्धे की भांति समानता रखते हैं। (किन्तु आत्मा किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता) इसलिए शास्त्रकारों ने इसका नाम तथा स्वरूप उपद्रष्टा—देखने वाला आदि अनेक रूपों में माना है। यहां भाव यह है—प्रकृति—उससे उत्पन्न चौदह प्रकार की सृष्टि, पुरुष और स्वयं प्रकृति ये सभी अनादि और नित्य हैं। ब्रह्म-तत्त्व से व्याप्त होने पर (ये प्रकृति आदि) उस परब्रह्म से अभिन्न हैं।

तथा चाह—

यही कहते हैं—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२४॥

* 'प्रकृतिपुरुषयोः पङ्ग्वन्धवत्किलान्योन्यापेक्षा वृत्तिः' इति पुस्तकान्तरेष्वधिकः पाठः ॥

पुरुषम्	=	पुरुष को	सः	=	वह
च	=	और	सर्वथा	=	सब प्रकार से
गुणैः	=	गुणों	वर्तमानः	=	व्यवहार करता हुआ
सह	=	सहित	अपि	=	भी
प्रकृतिम्	=	प्रकृति को	भूयः	=	फिर
यः	=	जो (योगी)	न अभिजायते	=	जन्म नहीं लेता है।
एवम्	=	इस भांति (अभेद रूप ब्रह्म दर्शन से)			
वेत्ति	=	जानता है			

एवम्—अनेन सर्वाभेदरूपेण ब्रह्मदर्शनेन यो योगी प्रकृतिं, पुरुषं गुणांश्च तद्विकारान् जानाति। सर्वेण प्रकारेण यथा तथा वर्तमानोऽपि, स मुक्त एवेत्यर्थः ॥२४॥

इस प्रकार इस ब्रह्म का दर्शन करने से जो योगी सभी प्रकृति, पुरुष, पदार्थों और प्रकृति के विकारों को अभेद-दृष्टि से (भगवत् रूप) जानता है वह सर्व प्रकार से जिस तिस रूप में ठहरा हुआ या यों कहें सभी दशाओं में किसी भी अवस्था में क्यों न ठहरा हो, मुक्त ही है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२५॥

आत्मानम्	=	परमात्मा को,	योगेन	=	योग के द्वारा
केचित्	=	कई साधक	च अपरे	=	और कई अन्य
आत्मना	=	अपनी सूक्ष्म बुद्धि से	कर्म-योगेन	=	निष्काम कर्म-योग के द्वारा
ध्यानेन	=	ध्यान के द्वारा	(पश्यन्ति)	=	देखते हैं।
आत्मनि	=	हृदय में			
पश्यन्ति	=	देखते हैं।			
अन्य	=	दूसरे			
सांख्येन-	=	सांख्य			

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणः ॥२६॥

तु	=	किन्तु	उपासते	=	उपासना करते हैं
अन्ये	=	(इन ज्ञानियों से) दूसरे मन्द बुद्धि वाले पुरुष	च	=	और
			ते	=	वे
एवम्	=	इस प्रकार	श्रुतिपरायणाः	=	सुनने में लगे हुए साधक
अजानन्तः	=	न जानते हुए	अपि	=	भी
अन्येभ्यः	=	तत्त्व को जानने वाले ज्ञानियों से	मृत्युम्	=	जन्म-मरण (रूप संसार-सागर को)
			अतितरन्ति	=	पार कर
श्रुत्वा	=	(ज्ञान) सुन कर	एव	=	ही जाते हैं।

ईदृशं च ज्ञानं प्रधानं कैश्चिदात्मतया उपास्यते। अन्यैः प्रागुक्तेन सांख्यनयेन। अपरैः कर्मणा। इतरैरपि स्वयमीदृशं ज्ञानमजानद्भिरपि श्रवणप्रवणैर्यथाश्रुतमेवोपास्यते। तेऽपि मृत्युं संसारं तरन्ति। येनकेनचिदुपायेन भगवत्तत्त्वमुपास्यमानमुत्तारयति। अतः सर्वथैवमासीतेत्युक्तम् ॥२६॥

ऐसे प्रधान ज्ञान की उपासना कई साधक आत्म रूप से करते हैं। दूसरे कई सांख्य-शास्त्र, जिसे हम पहिले कह आये हैं, के आधार पर प्रभु की उपासना करते हैं। कई अन्य निष्काम कर्म करते रहते हैं। शेष कई अद्वैत ज्ञान को स्वयं न जानने पर भी केवल-मात्र सत्संग सुनने में लगे हुए जो भी सुनते आये हैं उसी के अनुसार भजन करते हैं। वे भी मृत्यु रूप संसार से पार हो जाते हैं। जिस भी किसी उपाय से भगवान् के स्वरूप की उपासना की गई मनुष्य का उद्धार ही करती है। अतः सदा इसी भांति अभ्यास करने पर आरूढ होना चाहिए।

यावत्किञ्चित्संभवति सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२७॥

भरत-ऋषभ	=	हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन !	तत्	=	उस सभी को (तुम)
यावत्	=	जो भी	क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ	=	प्रकृति और पुरुष के
किञ्चित्	=	कुछ (संसार में)	संयोगात्	=	मिलाप से ही (उत्पन्न हुआ)
स्थावर	=	जड़			
जङ्गमम्	=	चेतन रूप	विद्धि	=	जानो।
सत्त्वम्	=	वस्तु			
संभवति	=	उपलब्ध है			

यत्किंचित् चरमचरं च तत्सर्वं क्षेत्रज्ञातिरेकि न संभवतीति ।

जड़ और चेतन रूप जो भी कुछ इस विश्व में है, वह सभी क्षेत्रज्ञ (ईश्वर) के बिना ठहर ही नहीं सकता ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।२८।।

यः = जो भक्त,		**परमेश्वरम्** = परमात्मा को	
विनश्यत्सु = नष्ट होते हुए		**समम्** = सम-भाव(एक जैसा)ही	
सर्वेषु = सभी		**तिष्ठन्तम्** = ठहरा हुआ	
भूतेषु = जड़-चेतन पदार्थों मे		**पश्यति** = देखता है	
अविनश्यन्तम् = नाश न होने वाले		**सः** = वही	
		पश्यति = सार्थक रूप में देखता है ।	

अत एव—

इसलिए कहते हैं कि—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।२९।।

हि = क्योंकि (वह साधक)	**न हिनस्ति** = हिंसा नहीं करता है ।
सर्वत्र = सब में	**ततः** = तभी (वह)
सम-अवस्थितम् = एक रूप से ठहरे हुए	**पराम्** = उच्च
ईश्वरम् = परमेश्वर को	**गतिम्** = गति को
समम् = समान	**याति** = प्राप्त होता है !
पश्यन् = देखता हुआ	
आत्मना = अपने आप	
आत्मानम् = अपनी	

(अथवा)

हि = क्योंकि (वह भक्त)	**न हिनस्ति** = नष्ट नहीं करता है
समम् = सम	**ततः** = इससे (वह)
ईश्वरम् = ईश्वर को	**परम्** = परम
सम-अवस्थितम् = एक समान ठहरे हुए ही	**गतिम्** = अवस्था को
सर्वत्र = सब में	**याति** = प्राप्त करता है।
पश्यन् = देखता हुआ	
आत्मना = अपने द्वारा	
आत्मानम् = अपने आप को	

सर्वत्रैव समबुद्धिर्योगी आत्मानं न हिनस्ति दुस्तरे संसारार्णवे न पातयति ॥२९॥

समान बुद्धि रखता हुआ योगी, सभी दशाओं में रहकर भी आत्मा का वध नही करता है— पार होने में कष्ट-साध्य इस संसार-सागर में अपने आत्मा को डुबोता नहीं है।

प्रकृत्यैव हि कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥३०॥

हि	= सत्य तो यह है कि	**तथा**	= और
यः	= जो साधक	**आत्मानम्**	= अपने आपको
कर्माणि	= (सभी) कर्मों को	**अकर्तारम्**	= न कुछ करने वाला
सर्वशः	= सब प्रकार से	**पश्यति**	= देखता हैं
प्रकृत्या	= प्रकृति के द्वारा	**सः**	= वही
एव	= ही	**पश्यति**	= सही रूप में देखता है।
क्रियमाणानि	= किया हुआ (जानता है)		

यस्य हि ईदृशी स्थिरतरा बुद्धिर्भवति; 'प्रकृतिरेवेदं करोति, नाहं किंचित्' स सर्वं कुर्वाणोऽपि न करोति। एवमकर्तृत्वम् ॥३०॥

निश्चित रूप से जिस योगी को इस प्रकार की स्थिर बुद्धि हो कि 'प्रकृति ही यह सभी कार्य करती है, मैं तो कुछ भी नही करता हूं" वह सभी कर्म करता हुआ भी, कुछ भी नही करता। इस रीति से उसमें कर्त्तापन का अभिमान नहीं होता।

यदि वा—

अथवा—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३१॥

यदा	= जब (साधक)	**विस्तारम्**	= विश्व-विस्तार का होना
भूत-पृथग्भावम्	= पदार्थों के भिन्न-भिन्न, रूप को	**(पश्यति)**	= देखता है
एकस्थम्	= एक परमात्मा मे ही ठहरा हुआ	**तदा**	= तब तो
अनुपश्यति	= देखता है	**ब्रह्म**	= परमात्मा को ही
च	= और	**संपद्यते**	= प्राप्त होना है।
तत एव	= उस परमात्मा की इच्छा से ही		

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३२॥

कौन्तेय	= हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन !	**परमात्मा**	= ईश्वर,
अन-आदित्वात्	= आदि-प्रारम्भ से रहित (तथा)	**शरीरस्थः**	= शरीर में ठहरा हुआ
		अपि	= भी
		न	= न (कुछ कर्म)
निर्गुणत्वात्	= गुणातीत होने से	**करोति**	= करता है और
अयम्	= यह	**न**	= नहीं (उन कर्मों से)
अव्ययः	= अविनाशी	**लिप्यते**	= लपेटा जाता है ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३३॥

यथा	= जैसे	**सर्वत्र**	= सभी
सर्व-गतम्	= चारों ओर व्याप्त	**देहे**	= शरीर में
आकाशम्	= आकाश	**अवस्थितः**	= ठहरा हुआ
सौक्ष्म्यात्	= सूक्ष्म होने से	**आत्मा**	= आत्मा
न लिप्यते	= दिशाओं आदि के होने = से सीमितता को नहीं प्राप्त करता	**न लिप्यते**	= शरीर के बिगड़ने पर भी स्वयं नहीं बिगड़ता ।
तथा	= वैसे ही		

विस्तीर्णत्वेन सर्वव्याप्त्या यदा भूतानां पृथक्तां भिन्नताम् आत्मन्येव पश्यति, आत्मन एव चोदितां तां मन्यते । तदापि सर्वकर्तृत्वान्न लेपभाक् । यतोऽसौ परमात्मैव शरीरस्थोऽपि न लिप्यते—आकाशवत् ॥३३॥

(ईश्वर के) विशाल तथा व्यापक होने से, जब प्राणियों की पृथकता—भिन्नता को अपनी आत्मा में ही देखता है और उस पृथकता को आत्मा के द्वारा ही स्फूर्ति में आया हुआ जानता है तभी सर्वकर्तृता का आश्रय लेकर (वह योगी कुछ भी करता हुआ) कर्मों में लपेटा नहीं जाता क्योंकि यह योगी शरीर में ठहरा हुआ भी परमात्मा ही है । अतः आकाश की भांति निर्लेप है ।

यथा प्रकाशयत्येक: कृत्स्नं लोकमिमं रवि: ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३४॥

भारत	= हे अर्जुन !	**प्रकाशयति**	= प्रकाशित करता है
यथा	= जैसे	**तथा**	= वैसे ही
एक:	= अकेला	**क्षेत्री**	= यह आत्मा
रवि:	= सूर्य,	**कृत्स्नम्**	= सभी
इमम्	= इस	**क्षेत्रम्**	= शरीर को
कृत्स्नम्	= सभी	**प्रकाशयति**	= चेतनता प्रदान करता है ।
लोकम्	= ब्रह्माण्ड को		

ननु एक: परमात्मा कथमनेकानि क्षेत्राणि व्याप्नोति ? इत्याशङ्का प्रसिद्धेन रविणा दृष्टान्तेनापाकृता । कृत्स्नं क्षेत्रं चराचराणि क्षेत्राणीत्यर्थ: ॥३४॥

प्रश्न उठता है कि एक परमात्मा कैसे अनेक शरीरों में व्याप रहा है ? इस शंका को प्रसिद्ध सूर्य का दृष्टान्त देकर दूर करते हैं । सभी क्षेत्र का तात्पर्य जड़ और चेतन के शरीरों से है ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३५॥

एवम्	= इस प्रकार	**ज्ञान-चक्षुषा**	= ज्ञान-नेत्रों से
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयो:	= शरीर और आत्मा के	**विदु:**	= जानते हैं
अन्तरम्	= भेद को	**ते**	= वे
च	= और	**परम्**	= पर-ब्रह्म परमात्मा को
भूत-प्रकृति-मोक्षम्	= पाँचमहाभूत और प्रकृति से छूटने के उपाय को	**यान्ति**	= पाते हैं अर्थात् ईश्वर का दर्शन करते हैं ।
ये	= जो साधक,		

एवमध्यायेन यदुक्तं ज्ञेयं, ज्ञानं, क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरं, भूतप्रकृतेश्च स्वल्पात्परिणामधर्मत्वान्मोचनं, तत् ये ज्ञानलक्षणेन सर्वत्राप्रतिहतेनालौकिकेन चक्षुषा पश्यन्ति ते वासुदेवतां प्राप्य लभन्त एव परमं शिवमिति शिवम् ॥३५॥

इस प्रकार से इस अध्याय में ज्ञेय(परमात्मा), ज्ञान, क्षेत्र (जीव), क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का परस्पर अन्तर बतलाया गया तथा पंचमहाभूतों और प्रकृति से परिमित परिणाम-धर्म से छूटने का भी उपदेश दिया । ऐसे ज्ञान को जो स्वतन्त्र होकर अलौकिक ज्ञान-नेत्रों से देखते हैं वे वासुदेव परमात्मा को प्राप्त करके परम कल्याण के भागी बनते हैं । इति शिवम् ।

अत्र संग्रह श्लोकः।

पुमान्प्रकृतिरित्येष भेदः संमूढचेतसाम् ।
परिपूर्णास्तु मन्यन्ते निर्मलात्ममयं जगत् ॥१३॥

सार श्लोक

'यह पुरुष है और यह प्रकृति है' इस प्रकार की भेद-बुद्धि मूर्खों में होती है। आप्त काम ज्ञानी जन तो जगत् को निर्मल स्वात्म-स्वरूप से युक्त मानते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं।

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (क्षेत्र क्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम) त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

श्रीमहामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त जी द्वारा निर्मित 'गीतार्थ-संग्रह' का
(क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विभाग योग नाम का) तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ

चतुर्दशोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

भगवान बोले;

ज्ञानानाम्	= ज्ञानों में भी	**ज्ञात्वा**	= जान कर
उत्तमम्	= सबसे श्रेष्ठ	**सर्वे**	= सभी
परम्	= परम	**मुनयः**	= मननशील साधक
ज्ञानम्	= ज्ञान को (मैं)	**इतः**	= इस संसार से (छूट कर)
भूयः	= (तुम्हें) फिर	**पराम्**	= परम
प्रवक्ष्यामि	= (ठीक ठीक) कहूंगा	**सिद्धिम्**	= सिद्धि को
यत्	= जिस को	**गताः**	= प्राप्त हुए हैं।

यदेव पूर्वोक्तं ज्ञानं, तदेव पुनः प्रकर्षेण प्रत्येकं गुणस्वरूपनिरूपणया वैतत्येन वक्ष्यामि। यज्ज्ञात्वा इत्यनेनास्य ज्ञानस्य दृष्टप्रत्ययतां प्रसिद्धिं चाह ॥१॥

जो ज्ञान, पहिले कहा गया है उसी को फिर से विस्तार पूर्वक प्रत्येक गुणों (सत्त्व, रज तथा तम) का निर्णय करते हुए भली-भांति कहूँगा। जिसे जानकर ऋषि, मुनि सिद्ध बने हैं— इस वाक्य से यह संकेत मिलता है कि यह ज्ञान नया नहीं है अपितु इस की साक्षात्कारात्मिका (अनुभूत) प्रसिद्धि पहिले से ही चली आ ई है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इदम्	= इस	**सर्गे**	= सृष्टि के प्रारम्भ में
ज्ञानम्	= ज्ञान को	**न उसजायन्ते**	= उत्पन्न नहीं होते हैं
उप-आश्रित	= ग्रहण करके	**च**	= और
मम	= मेरे	**प्रलये**	= प्रलय-सृष्टि के अन्त में
साधर्म्यम्	= स्वरूप को	**अपि**	= भी
आगताः	= प्राप्त हुए (साधक)	**न व्यथन्ति**	= दुःखी नहीं होते हैं।

व्यथन्तीति[1] च्छान्दसत्वात्तिङ्प्रत्ययः। एवमन्यत्रापि सुप्तिङ्प्रत्यये वाच्यम् ॥२॥

व्यथन्ति शब्द व्याकरण के दृष्टिकोण से अशुद्ध है किन्तु भगवान् का वाक्य होने से स प्रत्यय का प्रयोग वेदवत् शुद्ध है। इसी प्रकार यदि और भी कहीं सुप्तिङ् प्रत्यय में अशुद्धि तो वहां भी वह आर्ष मान कर वेद-तुल्य ही शुद्ध माननी चाहिए।

तत्रादौ संसृतौ क्रममाह—

अब पहिले संसार के क्रम का ही निर्णय करते हैं—

मम[2] योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

---

१. व्यथधातोरनुदात्तेत्वादात्मनेपदेन भाव्यमित्यत आह।

२. मम—परब्रह्मस्वरूपस्य, महत्—स्थूलं यतो वेद्यतया परामृश्यमानं, गर्भं—संविल्लक्षणस्ववीर्यसंक्रान्तिम्। अयं भावः,—परब्रह्मस्वरूपं परामृशन् प्रकृतिलक्षणं तत्त्वमवभासयामि; तस्येदन्तायामपि चित्प्रकाशानुप्रवेशं विना प्रकाशमानत्वाभावात् ब्रह्मस्वरूपत्वं, व्यवच्छिन्नवेद्य स्वरूपत्वात् तु स्थूलत्वम् इति सकलजगद्भावभेदकैहेतुभूतेदन्तात्मकं महद्ब्रह्म मम—जगत्सिसृक्षारसिकस्य योनिस्थानीयमित्यन्यत्र।

भारत	=	हे अर्जुन !	**गर्भमं**	=	विमर्श-शक्ति का आश्रय लेकर) गर्भ को
मम	=	मुझ परमानन्द स्वरूप की	**ददामि**	=	प्रदान करता हूं। (अतः)
महत्	=	महान	**सर्व-भूतानाम्**	=	सभी प्राणियों की
ब्रह्म	=	स्वातन्त्र्य-शक्ति ही (जगत् को उत्पन्न करने में)	**संभवः**	=	उत्पत्ति
योनि	=	कारण है ।	**ततः**	=	उस विमर्श-शक्ति से हीं
अहम्	=	मैं	**भवति**	=	होती है।
तस्मिन्	=	उस (शक्ति रूपी योनि) में			

हातव्ये ज्ञाते तत्कारणे च, सुकरं हि हानम्। मम—तावदव्यपदेश्यपरमानन्दरूपस्य महद्ब्रह्मबृंहकात्मीयशक्तिरूपं ब्रह्म। आत्मीयामेव हि विमर्शशक्तिमालम्ब्याहमनादीनात्माणून् अनुग्रहार्थं संसारयामि ।।३।।

छोड़ने योग्य वस्तु तथा उसके कारण को जान लेने के बाद उसका त्यागना सहज हो जाता है । नाम-रहित तथा परम-आनन्द-स्वरूप मुझ परमात्मा की शक्ति ही विकास रूप पर ब्रह्म है क्योंकि अपनी विमर्श-शक्ति का आश्रय लेकर ही मैं अनादि काल से आये हुए जीवों अनुग्रह करने के लिए ही संसार में उत्पन्न करता हूं।

अत एव—

इसीलिए

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।४।।

कौन्तेय	=	हे अर्जुन !	**महत्-ब्रह्म**	=	ब्रह्मरूप स्वातन्त्र्य शक्ति ही महान् कारण है
सर्व-योनिषु	=	सभी योनियों में	**(च)**	=	और
याः	=	जितनी भी	**अहम्**	=	मैं
मूर्तयः	=	आकृतियां	**बीज-प्रदः**	=	उस में बीज प्रदान करने वाला
संभवन्ति	=	उत्पन्न होती हैं	**पिता**	=	पिता (ईश्वर) हूं।
तासाम्	=	उन सभी आकृतियों में			

सर्वासु योनिषु आदिकारणतया बृंहिका भगवच्छक्तिः - सकलसंसार वमनस्वभावा माता । पिता त्वहं —शक्तिमानव्यपदेश्यः ॥४॥

सभी योनियों में मुख्य कारण होने से विकास को देने वाली भगवान् की स्वातन्त्र्य शक्ति-सभी संसार को उगलने वाली माता है और मैं अनाम शिव ही पिता हूं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

महाबाहो	= हे अर्जुन !	**प्रकृति**	= प्रकृति से
सत्त्वम्	= सत्त्व-गुण	**संभवाः**	= उत्पन्न हुए
रजः	= रजो-गुण (और)	**गुणाः**	= तीनों गुण
		अव्ययम्	= अविनाशी
		देहिनम्	= देहधारी जीवात्मा को
तमः	= तमोगुण	**देहे**	= शरीर में
इति	= ऐसे ये	**निबध्नन्ति**	= बांधते हैं।

देही चायमात्मतया सत्त्वरजस्तमोभिर्धर्मैरपवर्गपर्यन्ताय भोगाय निबध्यते ॥५॥

यह देहधारी जीव, शरीर को आत्मा मानने से और सत्त्वोगुण, रजोगुण और तमोगुण के व्यवहारों से मोक्ष तक सांसारिक भोगों को भोगने के लिए बंधा जाता है।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

अनघ	= हे निष्पाप अर्जुन !	**निर्मलत्वात्**	= निर्मल होने के कारण
तत्र	= उन तीन गुणों में (प्रथम)	**सुख-सङ्गेन**	= सुख के अनुराग से
		च	= और
प्रकाशकम्	= प्रकाश करने वाला	**ज्ञान-सङ्गेन**	= ज्ञान के अभिमान से
अनामयम्	= विकार-रहित		
सत्त्वम्	= सत्त्व-गुण तो	**बध्नाति**	= बांधता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

कौन्तेय	= हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन !	**विद्धि**	= जानो।
रागात्मकम्	= राग रूप	**तत्**	= वह (रजोगुण)
रजः	= रजोगुण को	**देहिनम्**	= (इस) जीव को
तृष्णा-सङ्ग-समुद्भम्	= कामनाओं में लगाव होने से उत्पन्न हुआ	**कर्म-सङ्गेन**	= कर्मों की आसक्ति से
		निबध्नाति	= बांधता है।

क्रमेणैषां रूपमुच्यते। सत्त्वं—निर्मलम्। तृष्णा सङ्गस्य समुद्भवो यतः ॥७॥

इन गुणों का लक्षण क्रम पूर्वक करते हैं। सत्त्वगुण का स्वरूप निर्मल है। (रजोगुण तृष्णा से ही उत्पन्न हुआ है) क्योंकि विषय-संबन्धी तृष्णा, आसक्तियों का कारण है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

भारत	= हे अर्जुन !	**प्रमाद**	= प्रभु को याद न करना
सर्व-देहिनाम्	= सभी जीवों को	**आलस्य**	= शुभ-कार्यों में अलसाना
मोहनम्	= मोहित करने वाले	**निद्राभिः**	= बुरे व्यसनों में फँसाने वाली निद्रा अर्थात् अज्ञता से
तमः	= तमोगुण को	**निबध्नाति**	= बांधता है।
अज्ञानजम	= अज्ञान से उत्पन्न हुआ		
विद्धि	= जानो।		
तत्	= वह		
(देहिनम्)	= इस जीवात्मा को		

दुर्लभस्यापि चिरतरसञ्चितपुण्यशतलब्धस्यापवर्गप्राप्त्येककारणस्य मानुष्यकस्य वृथातिवाहनंप्रमादः। तथाह्युक्तं—

'आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते।
स वृथा नीयते येन स प्रमादी नराधमः ॥'

इति। आलस्यं—शुभकरणीयेषु। निःशेषेण द्राणम् कुत्सिता गतिः—निद्रा ॥८॥

अति कठिनता से प्राप्त यह मनुष्य जन्म तो बहुत समय से संचित किये गए सैंकड़ों पुण्यों के कारण मिलता है और यही मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन बना हुआ है। ऐसे मनुष्य-जन्म को बेकार बिताना ही प्रमाद है। कहा भी है—

"सभी रत्नों को न्यौछावर करके भी मनुष्य की आयु का एक क्षण भी लौटाया नहीं जा सकता है। ऐसे अमूल्य अनन्त क्षणों की आयु को जो जन व्यर्थ व्यतीत करता है वह ही प्रमादी और मनुष्यों में अधम है।"

शुभ कामों में अलसाना आलस्य कहलाता है। पूर्णरूप से द्राण अर्थात् कुमार्ग पर चलना निद्रा कहलाती है।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥

भारत	= हे अर्जुन!	**तमः**	= तमोगुण
सत्त्वम्	= सत्त्व-गुण (इस जीव को)	**तु**	= तो
सुखे	= सुख में	**ज्ञानम्**	= ज्ञान को
संजयति	= मिलाता है अर्थात् सुख देता है।	**आवृत्य**	= ढक कर
रजः	= रजोगुण	**प्रमादे**	= ईश्वर को भुलाने में
कर्मणि	= कार्य के करने में (उत्साह देता है।)	**उत**	= ही
		संजयति	= लगाता है।

संजयति—योजयति ॥९॥

संजयति—मिलाता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भारत वर्धते।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

भारत	= हे अर्जुन!	**च**	= और
रजः	= रजोगुण और	**रजः**	= रजोगुण (तथा)
तमः	= तमोगुण को	**सत्त्वम्**	= सत्त्व-गुण को
अभिभूय	= दबा कर	**(अभिभूय)**	= पीछे हटाकर
सत्त्वम्	= सत्त्वगुण		
वर्धते	= बढ़ता है।		

तमः	= तमोगुण	**सत्त्वम्**	= सत्त्व-गुण को
(वर्धते)	= (बढ़ता है)	**अभिभूय**	= दबा कर
तथा	= वैसे	**रजः**	= रजोगुण
एव	= ही		
तमः	= तमोगुण (और)	**वर्धते**	= आगे बढ़ता है।

रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वं वर्धते। रजस्तु सत्त्वतमसी। तमः सत्त्वरजसी। उक्तं हि—

'अन्योन्याभिभवेन गुणवृद्धिः।'

इति ॥१०॥

रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्व-गुण बढ़ता है। सत्त्व-गुण और तमोगुण को एक ओर करके रजोगुण बढ़ता है। सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बल पकड़ता है। कहा भी है—"परस्पर एक दूसरे को दबाने पर गुण की वृद्धि होती है।'

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश[1]मुपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

यदा	= जब	**उपजायते**	= उत्पन्न होता है
अस्मिन्	= इस	**तदा**	= तब
देहे	= शरीर के	**इति**	= ऐसा
सर्व-द्वारेषु	= अन्तःकरण और इन्द्रियों में	**विद्यात्**	= जानना चाहिए
		उत	= कि
प्रकाशम्	= प्रकाशात्मक स्फूर्तिमय	**सत्त्वम्**	= सत्त्व-गुण
ज्ञानम्	= ज्ञान	**विवृद्धम्**	= बढ़ रहा है

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

भरत-ऋषभ	= हे अर्जुन !	**आरम्भः**	= करने की इच्छा,
रजसि	= रजोगुण के	**अशमः**	= मन की चंचलता
विवृद्धे	= बढ़ने पर	**तृट् च**	= और (भोगों की) तृष्णा
लोभः	= लालच,		
प्रवृत्तिः	= संसार के कामों में लगाव,	**एतानि**	= ये सभी (मानसिक विकार)
कर्मणाम्	= सभी कामों को	**जायन्ते**	= उत्पन्न होते हैं।

१. 'प्रकाशं'—स्फुटम् असन्दिग्धं कृत्वेत्यर्थः।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।१३।।

कुरुनन्दन	= हे अर्जुन !	**प्रमादः**	= भगवान् के भजन में अवहेलना,
तमसि	= तमोगुण के	**च**	= तथा
विवृद्धे	= बढ़ने पर	**मोहः**	= संबन्धियों के प्रति स्नेह जो अन्त:करणों को मोह में फंसाता है,
अप्रकाशे	= प्रतिभा—तीव्र बुद्धि का अभाव,	**एतानि**	= यह सब
अप्रवृत्तिः	= शास्त्र में कहे हुए हवन, पूजा, ध्यान आदि में अरुचि	**एव**	= ही
च	= और	**जायन्ते**	= उत्पन्न होते हैं ।

सर्वद्वारेषु—सर्वेन्द्रियेषु । लोभादयः क्रमेणैव रजस्युद्रिच्यमाने जायन्ते । एवमप्रकाशादयः क्रमेणैव तमोविवृद्धावाविर्भवन्ति ।।१३।।

सभी द्वारों अर्थात् सभी इन्द्रियों में । रजोगुण के बढ़ने पर लोभ आदि विकार उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार तमोगुण के बल पकड़ने पर अप्रकाश—अज्ञान आदि आ टपकते हैं ।

यदा सत्त्वे विवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।१४।।

यदा	= जब	**तदा**	= तब
देहभृत्	= यह जीव	**तु**	= तो
सत्त्वे	= सत्त्व-गुण की	**उत्तम-विदाम्**	= पुण्य-कर्म करने वालों के
प्रवृद्धे	= बढ़ती में	**अमलान्**	= निर्मल (स्वर्ग आदि)
प्रलयम्	= मृत्यु को	**लोकान्**	= लोकों को
याति	= प्राप्त होता है	**प्रतिपद्यते**	= प्राप्त होता है ।

यदा समग्रेणैव जन्मनानवरतसात्त्विकव्यापाराभ्यासात्सत्त्वं विवृद्धं भवति, तदा प्राप्त-प्रलयस्य शुभलोकावाप्तिः ॥१४॥

जब आजीवन सदा सत्त्व-गुण के व्यवहार में लगे रहने से सत्त्वगुण की वृद्धि होती है तब मरने के आ उपस्थित होने पर स्वर्ग-लोक की प्राप्ति होती है ।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजसि	= रजोगुण की वृद्धि पर	**तथा**	= और
प्रलयम्	= मृत्यु को	**तमसि**	= तमोगुण के बढ़ने पर
गत्वा	= प्राप्त होकर (जीव)	**प्रलीनः**	= मरा हुआ जीव
कर्म-सङ्गिषु	= कर्मों में लगाव रखने वाले मनुष्य-शरीरों में	**मूढ-योनिषु**	= नरक, पशु, वृक्ष, पत्थर आदि मूढ योनियों में
जायते	= उत्पन्न होता है	**जायते**	= उत्पन्न होता है ।

एवं जन्माभ्यस्तराजसकर्मणः प्रयाणात् विमिश्रोपभोगाय मानुष्यावाप्तिः । तथा—तेनैव क्रमेण यदा समग्रेण जन्मना तामसमेव कर्माभ्यस्यते तदा नरकतिर्यग्वृक्षादिदेहेषूत्पद्यते । येतु व्याचक्षते—मरणकाल एव सत्त्वादौ विवृद्धे एतानि फलानि'—इति । ते न सम्यक्शारीरेऽनुभवे प्रविष्टाः । यतः सर्वस्यैव सर्वथान्त्ये क्षणे मोह एवोपजायते । अस्मद्व्याख्यायां च संवादीनीमानि श्लोकान्तराणि ॥१५॥

इसी प्रकार जीवन-पर्यन्त राजस कर्मों से आदी बने हुए व्यक्तियों को मरने के बाद मनुष्य जन्म की ही प्राप्ति होती है । इसीरीति से जब आजीवन तामस रूप कर्मों के करने में ही लगा हुआ हो, तब वह मरने के बाद नरक, पक्षी, वृक्ष आदि के शरीरों में उत्पन्न होता है । अब जो इस श्लोक की व्याख्या यों करते हैं— मृत्यु के समय ही सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति होती है (अतः आजीवन प्रभु-भजन या शुभ-कर्मों के करने का लाभ ही क्या है ?) वे वास्तव में शरीर संबन्धी रोग आदि उतार-चढ़ाव के अनुभव से अनभिज्ञ हैं । सच तो यह है कि मृत्यु-क्षण में तो सभों को पूर्ण रूप से मूढ-अवस्था ही आ उपस्थित होती है । हमारी इस व्याख्या में तो भगवान् के ये आगे कहे गए श्लोक प्रमाण हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सुकृतस्य	= पुण्य	रजसः	= राजस कर्म का
कर्मणः	= कर्मों का	फलम्	= फल
तु	= तो	दुःखम्	= दुःख (तथा)
सात्त्विकम्	= सात्त्विक सुख, ज्ञान और वैराग्य आदि	तमसः	= तामस (कर्म) का
निर्मलम्	= निर्मल	फलम्	= परिणाम
फलम्	= फल		
आहुः	= कहा है (और)	अज्ञानम्	= अज्ञान (कहा) है।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ जायेते तमसोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वात्	= सत्त्व-गुण से	च	= और
ज्ञानम्	= आत्मिक ज्ञान	तमसः	= तमोगुण से
संजायते	= उत्पन्न होता है	अज्ञानम्	= अज्ञान
च	= और		
रजसः	= रजोगुण से	प्रमाद-मोहौ	= ईश्वर-भजन में अनवधानता तथा मोह
एव	= तो		
लोभः	= (धन कमाने का) लालच (उत्पन्न) होता है	एव	= ही
		जायेते	= उत्पन्न होते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्व-स्थाः	= सत्त्वगुण में ठहरे हुए व्यक्ति,	तिष्ठन्ति	= जन्म लेते हैं—ठहरते हैं। (तथा)
ऊर्ध्वम्	= स्वर्ग आदि उत्तम लोकों में	जघन्य-गुण-वृत्ति-स्थः	= निन्दनीय नीच कामों में लगे हुए
गच्छन्ति	= जाते हैं।	तामसाः	= तमोगुणी पुरुष,
राजसाः	= रजोगुण में ठहरे हुए जन	अधः	= नीच पशु, पक्षी, सांप आदि योनियों को
मध्ये	= मध्य, मनुष्य-लोक में	गच्छन्ति	= प्राप्त होते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भाव सोऽधिगच्छति ॥१९॥

यदा	= जब	**च**	= और
द्रष्टा	= देखने वाला प्रमाता	**गुणेभ्यः**	= तीन गुणों से परे
गुणेभ्यः	= तीनों गुणों के सिवाय	**परम्**	= परमात्मा को
अनन्यम्	= और किसी को	**वेत्ति**	= जानता है
कर्त्तारम्	= कर्त्ता	(तदा)	= तब (जाकर)
न	= नहीं	**सः**	= वह
अनुपश्यति	= देखता है	**मत्-भावम्**	= मेरे स्वरूप को
		अधि गच्छति	= प्राप्त होता है ।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

देही	= देह को धारण करने वाला जीव,	**अतीत्य**	= लांघ कर
एतान्	= इन	**जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः**	= जीने, मरने और बुढ़ापे के दुःखों से
देह-सम्-उद्भवान्	= स्थूल शरीर की उत्पत्ति का कारण बने हुए	**विमुक्तः**	= छूट कर
त्रीन्	= तीनों	**अमृतम्**	= परमानन्द को
गुणान्	= गुणों को	**अश्नुते**	= प्राप्त करता है ।

अत्र केचिदसंबद्धाः श्लोकाः कल्पिताः, पुनरुक्तत्वात्ते त्याज्या एव । एतद्गुणातीतवृत्तिस्तु मोक्षायैव कल्पते ॥२०॥

यहां पर कई ऐसे श्लोक जोड़े गये हैं जो कल्पित तथा विषय से मेल नहीं रखते हैं । साथ ही पुनरुक्ति दोष होने से वे श्लोक हमने छोड़ रखे हैं । जो पुरुष इन गुणों से पार हो जाता है वह मोक्ष के लिए ही ठहरता है—मुक्त हो जाता है । (इन गुणों से पार होने की वृत्ति, मोक्ष-पद दिलाती है ।)

ननु यदि अयं देही, तत्कथं गुणातीतो भवति। सर्वथैव हि कयाचिच्चित्तवृत्त्या वर्तते, सा च त्रैगुण्यादन्यतमा अवश्यं भवति ? अनेनाभिप्रायेण पृच्छति अर्जुनः—

यदि यह आत्मा, देह को धारण किए हुए है तो वह कैसे गुणातीत हो सकता है। क्योंकि यह देहधारी किसी न किसी चित्त-वृत्ति को धारण करके ही जीवित रहता है और वह चित्त-वृत्ति तीन गुणों (सत्त्व, रज और तम) में से किसी न किसी गुण में से एक के साथ अवश्य संयुक्त होगी। इस अभिप्राय को लेकर अर्जुन पूछता है—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोला

प्रभो	=	हे भगवन् !	**आचारः**	=	आचरण वाला
त्रीन्	=	तीनों	**(भवति)**	=	होता है तथा
गुणान्	=	गुणों को	**कथम्**	=	कैसे
अतीतः	=	लांघने वाला पुरुष	**एतान्**	=	इन
कैः	=	किन	**त्रीन्**	=	तीन
लिङ्गैः	=	लक्षणों से	**गुणान्**	=	गुणों को
भवति	=	पहचाना जाता है	**अति-वर्तते**	=	लांघ जाता है।
च	=	और			
किम्	=	कैसे			

अत्रोत्तर—

इस का उत्तर भगवान् देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

भगवान् बोले

पांडवः	= हे अर्जुन !	**न**	= न (तो)
प्रकाशम्	= प्रकाश रूप सत्त्व गुण,	**संप्रवृत्तानि**	= (उन में) संलग्न होने पर
च	= और	**द्वेष्टि**	= (उन्हें) बुरा समझता है
प्रवृत्तिम्	= प्रवृत्ति रूप रजोगुण,	**च**	= और
च	= तथा	**न**	= नहीं
मोहम्	= मोह रूप तमोगुण को	**निवृत्तानि**	= उनसे छूट जाने पर
एव	= भी	**कांक्षति**	= (उन को प्राप्त करने की) इच्छा करता है।

यद्यपि प्रकाशादिकाः सर्वेषु धर्मेषु वर्तन्ते, तथापि योगिनस्तेषु प्रकाशादिषु न रज्यन्ते, नापि द्वेषवन्तो भवन्ति। अपितु केवलपिण्डधर्मतयैते स्थिताः, न मां क्षोभयितुमलम्'– इति मन्वाना गुणातीता भवन्ति ॥२२॥

यद्यपि प्रकाश आदि तीनों गुणों की वृत्तियां, सभी व्यावहारिक अवस्थाओं में हैं ही; फिर भी योगीजन उन प्रकाश आदि धर्मों में अनुरक्त नहीं बनते। न उन वृत्तियों से किनारा लेते हैं। इसके उलट 'ये गुण सम्बन्धि वृत्तियां तो केवल शरीर के धर्म होने से आ उपस्थित हुई हैं। मुझे तो विचलित बनाने में असमर्थ हैं'—इस प्रकार समझते हुए गुणातीत बनते हैं।

अत एवाह—

इसीलिये कहते हैं—

> उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
> गुणा वर्तन्त इत्येव योऽज्ञस्तिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

यः	= जो (साधक)	**वर्तन्ते**	= ठहरे हैं अर्थात् सभी इन्द्रियों के अपने अपने विषय स्वतः भोगे जाते हैं।
उदासीनवत्	= उदासीन की भांति	**इति**	= इस प्रकार
आसीनः	= ठहरा हुआ	**अज्ञः**	= निर्विवेक होकर
गुणैः	= सत्त्व-गुण आदि गुणों से	**तिष्ठति**	= व्यवहार करता है
विचाल्यते	= ढांवाढोल	**न इङ्गते**	= अपने स्वरूप से नहीं डिगता है।
न	= नहीं होता (और)		
यः	= जो		
गुणाः एव	= गुण ही गुणों में		

समदुःखसुखस्वप्नः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

(यः)	= जो योगी	**प्रिय**	= मित्र (और)
दुःख	= दुःख	**अप्रिय**	= शत्रु में
सुख	= सुख (और)	**तुल्यः**	= जो एक जैसा व्यवहार रखता है (ऐसा)
स्वप्नः	= स्वप्न में		
सम	= एक समान (सजग) रहता है;	**धीरः**	= धीरज रखने वाला साधक
लोष्ट	= मिट्टी के डले में,	**आत्म निन्दा**	= अपनी निन्दा (सुनने में)
अश्म	= पत्थर में (और)		
कांचनः	= सोने में (भी)	**आत्म-संस्तुतिः**	= अपनी प्रशंसा सुनने में भी
सम	= (जिस की बुद्धि) एक जैसी रहती है,	**तुल्यः**	= मन का संतुलन एक जैसा रखता है।

मानावमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भफलत्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

मान-अवमानयोः तुल्य	= अपनी प्रतिष्ठा और अनादर होने में (जो योगी) एक जैसा रहता है।	**सः**	= वह
		सर्व आरम्भ-फल त्यागी	= सभी प्रारम्भ किए हुए कार्यों के फल का त्याग करने वाला
मित्र	= मित्र (और)		
अरि-पक्षयोः	= शत्रु के पक्षों में (भी)	**गुणातीतः**	= गुणों को लांघने वाला (गुणातीत)
(यः)	= जो		
तुल्यः	= सम-बुद्धि (वाला है)	**उच्यते**	= कहलाता है।

यः अज्ञो निर्विवेकस्तिष्ठति स एव ज्ञः—सम्यग्ज्ञानात् । तथा हि । नेङ्गते—न स्वरूपाच्च्यवते । अत्र चोपायः—शरीरेन्द्रियादिस्वभाव एष यत्प्रवर्तनम्, न तु फलं किंचिदहमभिसन्दध इति स्थिरा बुद्धिः ॥२५॥

जो (ज्ञानी) विकल्प-रहित होकर मूर्ख सा बना हुआ ठहरता है वही वास्तविक ज्ञान के होने से ज्ञानी है। इस को दर्शाते हैं—वह चलायमान नहीं होता अर्थात् अपने स्वरूप से नहीं डिगता। इस स्थिति के लिए युक्ति बताते हैं- शरीर और इन्द्रिय आदि का अपने-अपने विषयों में बर्तना स्वभाव ही है। मैं तो इनके कार्यों के फल की तनिक भी इच्छा नहीं करता हूं। ऐसी निश्चित बुद्धि का होना (गुणातीत अवस्था प्रदान करती है)।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।२६।।

यः	=	जो (भक्त)	**सः**	=	वह
अव्यभिचारेण	=	अटल	**एतान्**	=	इन
भक्ति-योगेन	=	भक्ति-योग से	**गुणान्**	=	(सत्त्व-गुण आदि) गुणों को
माम्	=	मुझे			
च	=	ही केवल	**सम-अतीत्य**	=	पूर्ण रूप में लांघ कर
सेवते	=	अपनाता है	**ब्रह्म-भूयाय-कल्पते**	=	ब्रह्म बनने की योग्यता रखता है।

अनेन मूलभूतमुपायमुदिशति, मां चेति। च शब्दोऽवधारणे, यो मामेव सेवते। अनेन—फलादिसाकाङ्क्षो मामङ्गत्वेनाश्रयति, फलं प्रधानतया—इति निरस्तः। अत एव नास्याव्यभिचारिणी भक्तिः—फलं प्रति ह्यसावास्थावानिति। यस्तु फलं किंचिदप्यनभिलष्यन् 'किमेतदलीकमनुतिष्ठसि'—इति पर्यनुयुज्यमानोऽपि निरन्तरभगवद्भक्तिवेधविद्रुतान्तःकरणतया कण्टकितरोमवान् वेपमानतनुर्विस्फारितनयनयुगलपरिवर्तमानसलिलसंपातः तूष्णींभावेनैवोत्तरं प्रयच्छति। स एवाव्यभिचारिण्या भगवतो महेश्वरस्याग्रशक्तया भक्त्या पवित्रीकृतो नान्य इति ज्ञेयम् ।।२६।।

इस श्लोक से आधार बने हुए मुख्य उपाय का उपदेश करते हैं—यहां 'मां च' इस शब्द में 'च' वर्ण निश्चय के अर्थ में लागू हुआ है। जो केवल मेरी ही उपासना करता है। (यह अर्थ च का है) इस श्लोक से इस धारणा का खंडन किया गया है कि फल-प्राप्ति की आकांक्षा को लेकर मेरे स्वरूप की प्राप्ति को तो गौण रूप से ग्रहण किया जाये और फल की प्राप्ति के लिए पूजा आदि क्रिया, प्रधान मान कर की जाये। ऐसे व्यक्ति को प्रभु के लिए अटल भक्ति नहीं है। वह तो फल प्राप्ति के लिए ही श्रद्धा रखता है। अब जो भक्त, फल प्राप्ति की जरा भी अभिलाषा नहीं रखता है उसे यदि कोई नास्तिक केवल मात्र इतना ही कहे कि तुम इस मनगढन्त भगवत्-मार्ग पर क्यों ठहरे हो— आस्था क्यों रखते हो— ऐसे आक्षेप करने पर भी वह भक्त, जिस का हृदय निरन्तर भगवान् की भक्ति से बिंधा होता है, जिसके अन्तःकरण

विघलित हुए होते हैं, रोमांचित बना हुआ, कांपते हुए शरीर से युक्त, खुले नेत्रों से बहते हुए आसुओं की धारा से युक्त होकर चुप रह कर मौन-भाषा में ही वह उस (नास्तिक) को उत्तर देता है। वही तो भगवान् की अटल और उत्तम चरम कोटि की भक्ति से पवित्र बना हुआ होता है। अन्य नहीं। ऐसा जानना चाहिए।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

अव्ययस्य	=	अविनाशी	**ऐकान्तिकस्य**	=	अखण्ड एक रस
ब्रह्मणः	=	प्रभु का			
च	=	और	**सुखस्य**	=	आत्म-सुख का
अमृतस्य	=	अमृत का			
च	=	तथा	**अहम्**	=	मैं अहम्
शाश्वतस्य	=	सनातन			
धर्मस्य	=	धर्म का	**एव**	=	ही
च	=	और	**प्रतिष्ठा**	=	आश्रय हूं।

अहमेव हि ब्रह्मणः प्रतिष्ठा। मयि सेव्यमाने ब्रह्म भवति; अन्यथा जडरूपतया ब्रह्म उपास्यमानं मोक्षमपि सौषुप्तादविशिष्टमेव प्रापयेदिति शिवम्॥२७॥

मैं ही तो ब्रह्म-प्राप्ति की आधार-शिला हूं। मेरा अभ्यास करने पर ही साधक ब्रह्म बनता है। नहीं तो मेरा अनुसन्धान रखे बिना जड रूपता से उपासित ब्रह्म, सुषुप्ति के समान आनन्द-रहित सामान्य मोक्ष ही प्रदान करायेगा। इति शिवम्।

अत्र संग्रह श्लोक

लसद्भक्तिरसावेशहीनाहंकारविभ्रमः ।
स्थिथेऽपि[2] गुणसंमर्दे गुणातीतः समो यतिः ॥१४॥

सार-श्लोक

भक्ति-रस के आवेश से शोभित होने के फलस्वरूप जिसका अहंकार रूप भ्रम दूर हो गया हो वह (साधक) गुणों के संघर्ष में रहते हुए भी गुणातीत है। सम-भाव में स्थित है। संन्यासी—जितेंद्रिय है।

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (गुणत्रयविभागयोगो नाम) चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

श्री महामाहेश्वर आचार्य श्रीमान् अभिनवगुप्त जी द्वारा रचित 'गीतार्थसंग्रह' का (गुणत्रयविभाग योग नाम का) चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

---

१. अनेन हि सद्रूपस्य ब्रह्मणः परमानन्दस्य विश्रान्तिस्थानमहमिति विमर्शात्मकमुक्तम्।
२. स्थितोऽपि इति घ० पाठः।

अथ

पञ्चदशोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

भगवान् बोले

ऊर्ध्व मूलम्	=	आदि पुरुष परमात्मा जो प्रशान्त है; उस की प्राप्ति, पूर्ण रूप से निवृत्त होने पर ही होती है। वही जो मूल कारण है और पर-धाम में अवस्थित है। वही ऊर्ध्व-मूल है।
अधः शाखम्	=	इसकी शाखाएँ नीचे की ओर हैं।
अश्वत्थम्	=	इस संसार रूपी पीपल के वृक्ष को
अव्ययम्	=	अविनाशी
प्राहुः	=	कहते हैं।
यस्य	=	जिस के
छन्दांसि	=	वेद,
पर्णानि	=	पत्ते (माने गए) हैं।
तम्	=	उस(संसार रूपी वृक्ष)को
यः	=	जो (साधक) मूलतः (ब्रह्म रूप ही)
वेद	=	जानता है
सः	=	वह
वेदवित्	=	वेद से उपलक्षित, ब्रह्म को पूर्ण रूप से जानता है।

अनेन शास्त्रान्तरेषु यदुच्यते—'अश्वत्थः सर्वं, स एवोपासनीय—इत्यादि, तस्य भगवद्ब्रह्मोपासा तात्पर्यमित्युच्यते। मूलं—प्रशान्तं रूपम्। तत् ऊर्ध्वं—सर्वतो हि निवृत्तस्य तदाप्तिः। छन्दांसि पर्णानीति;—यथा वृक्षस्य मानत्वफलवत्त्वसरसतादयः पूर्णैः सूच्यन्ते, एवं ब्रह्मतत्त्वस्य वेदोपलक्षितशास्त्रद्वारिका प्रतीतिरित्याख्यायते॥१॥

अन्य शास्त्रों में जो कहा है कि यह सम्पूर्ण विश्व, 'अश्वथ-वृक्ष—पीपल के पेड़ के समान है इसकी ही उपासना करनी चाहिए' इत्यादि। उस अश्वथ वृक्ष का तात्पर्य, भगवान् का जो रूप ब्रह्म है, उसकी उपासना करने से है। प्रशान्त रूप भगवान् का स्वरूप ही इस वृक्ष की जड़ है और वह जड़ ऊपर की ओर ठहरी है। तत् ऊर्ध्व का भाव यह है कि सभी कार्यों से विरत होकर ही उस उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है। वेद, इस वृक्ष के पत्ते हैं। जैसे वृक्ष का ढांचा और उस के रसीले फलों का अनुमान, पत्तों से ही किया जाता है, उसी भांति ब्रह्म-स्वरूप का ज्ञान भी, वेद से उपलक्षित किये गये सभी शास्त्रों के द्वारा ही होता है। (यहां वेद का अर्थ सभी शास्त्रों से है) यह बात तो प्रसिद्ध ही है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृता यस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाला: ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।२।।

यस्य	=	जिस(अश्वत्थ वृक्ष)की
शाखा:	=	देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनि रूप टहनियां
गुण-प्रवृद्धा:	=	सत्त्व आदि गुणों तथा देवता से लेकर जड़-वर्ग तक बढ़ी हुई-फैली हुई
विषय-प्रवाला:	=	विषय भोग रूप कोंपलों वाली
अध:	=	नीचे—पाप
च	=	और
ऊर्ध्वम्	=	ऊपर—पुण्य के रूप में फैली हुई हैं ।
मनुष्य-लोके	=	मनुष्य लोक में
कर्म अनुबन्धीनि	=	कर्मों के अनुसार बांधने वाली
मूलानि	=	अहंता, ममता आदि जड़ें
(**अपि**)	=	भी
अध:	=	नीचे-नरक में
च	=	और
ऊर्ध्वम्	=	ऊपर स्वर्ग तक
अनु-संततानि	=	चारों ओर व्याप्त हैं ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल--
मसङ्गशस्त्रेण शितेन च्छित्त्वा ।।३।।

अस्य	=	इस प्रकार के वृक्ष का
रूपम्	=	स्वरूप
तथा	=	जैसे वर्णित हुआ है
इह	=	इस संसार में
न	=	नहीं
उप-लभ्यते	=	पाया जाता है
(**यत:**)	=	क्योंकि

न = न (तो इसका)
आदिः = प्रारम्भ है
न = न ही
अन्तः = अन्त है
च = और
न = न ही
संप्रतिष्ठा = (कल्पना में भी) इसकी स्थिति है ।
(अतः) = इसलिए
एनम् = इस (यह)
अश्वत्थम् = संसार रूपी पीपल का वृक्ष
(यः) = जो
सुविरूढमूलम् = अहंता, ममता और वासना की जड़ों वाला है (उसे)
शितेन = तीव्र, तेज
असङ्ग-शस्त्रेण = वैराग्य रूपी शस्त्र-कुल्हाड़े से
छित्वा = काट कर

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गतो न निवर्तंत भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये—
द्यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।४।।

ततः = उसके बाद
तत् = उस
पदम् = प्रशान्त अव्यय अवस्था की
परि-मार्गितव्यम् = खोज करनी चाहिए
यस्मिन् = जिस में
गतः = गए हुए (साधक)
भूयः = फिर से
न निवर्तंत = संसार में नहीं लौटते हैं
च = और
यतः = जिस परमेश्वर से
पुराणी = सदा से चली आई हुई
प्रवृत्तिः = जीने मरने की वृत्ति
प्रसृता = फैली हुई है,
तम एव = उस ही
आद्यम् = सब के मूल-भूत बने हुए
पुरुषम् = परमात्मा का
प्रपद्येत् = आश्रय लेना चाहिए ।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै—
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।५।।

निर्मान-मोहाः	= अभिमान और मोह से छूटे हुए,	**अमूढाः**	= सजग ज्ञानी जन,
जित-सङ्ग-दोषाः	= आसक्ति रूप दोष को जीतने वाले,	**तत्**	= उस
अध्यात्म-नित्याः	= परमात्मा के अनुसंधान में सदा रमे हुए,	**अव्ययम्**	= अविनाशी
सुख-दुःख-संज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः	= सुख-दुःख नाम वाले द्वन्द्वों से रहित बने हुए	**पदम्**	= परम-पद को
		गच्छन्ति	= प्राप्त करते हैं ।

गुणैः—सत्त्वादिभिः । प्रवृद्धः—देवादिस्थावरान्ततया । तस्य च शुभाशुभात्मकानि कर्माणि अधस्तनमूलानि । तं छित्त्वेति—विशेष्ये क्रियाभिधीयमाना सामर्थ्यादत्र विशेषण-पदमुपादत्ते 'दण्डी प्रैष्याननुब्रूयात्'—इति विधिवत् । तेनाधोरूढानि मूलान्यस्यच्छिन्द्यादिति । तत्-पदं-प्रशान्तम्, अव्ययं पदं तदेव ॥५॥

सत्त्व आदि (रज और तम) गुण कहलाते हैं । ये शाखायें देवता आदि से लेकर वृक्ष आदि जड़ पदार्थों तक फैली हुई हैं । उस 'अश्वत्थ' नाम वाले संसार की पुण्य और पाप-कर्म रूपी जड़ें नीचे की ओर हैं । उन्हीं को काट कर यहाँ क्रिया का प्रयोग विशेषण के आधार पर किया गया है । क्योंकि क्रिया का भाव हृदय में रख कर ही विशेषण पद का प्रयोग हुआ है ।

तात्पर्य यह है कि विशेष्य जो अश्वथ वृक्ष है उस के काटने से तात्पर्य नहीं है अपितु उस के विशेषण जो पुण्य-पाप रूप जड़ें हैं उन्हें काटना चाहिए । (यही व्यास मुनि का अभि-प्राय है ।) उदाहरण के तौर पर जैसे—'दंडी सेवकों को उपदेश करता है' (इस वाक्य में दंडी का अर्थ दंडधारी न होकर संन्यासी ही लिया जाएगा) इसी प्रकार 'छित्वा' इस क्रिया-विशेषण से, नीचे की ओर झुकी हुई सुदृढ़ जड़ों को ही काटना चाहिए । यही अर्थ लिया जाएगा । वह स्थान (संकल्प-विकल्पों के न होने के कारण) प्रशान्त पद है और वही अव्यय—नाश न होने वाली अवस्था है ।

न[1] तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

१. तत्परमं धाम स्वाभामत्वात् सूर्याद्यवभास्यो न भवति, प्रत्युत सूर्यादीनां प्रकाश्यत्वात् तत्प्रकाशमन्तरेण प्रकाशमानतैव न स्यात् । तस्मात्पर एव प्रकाशः तत्तत्सूर्याद्यात्मना प्रस्फुरेदिति भावः । उपहितस्वरूपत्वादेव सूर्यादिप्रकाशः स्वप्रकाशने संवित्प्रकाशमपेक्षते । तदुक्तमाचार्यपादैरेव श्रीतन्त्रालोके—

"सूर्यादिषु प्रकाशोऽसावुपाधिकलुषीकृतः ।
संवित्प्रकाशं माहेशमत एव ह्यपेक्षते ॥"

इति । संविच्छब्देनात्र जडात् सूर्यादिप्रकाशात् परस्य प्रकाशस्य वैलक्षण्यं प्रदर्शितम् ।

तत्	= उस पर-प्रकाश को	**भासयते**	= प्रकाशित कर सकता है (क्योंकि ये सभी तो प्रमेय प्रकाश हैं)
सूर्यः	= सूरज	**यत्**	= जिस परं-पद को
न	= नही	**गत्वा**	= प्राप्त होकर (मनुष्य)
भासयते	= दिखा सकता (क्योंकि सूर्य-तेज की वहां पहुंच ही नहीं है)	**न**	= फिर नहीं
न	= न	**निवर्तन्ते**	= संसार में लौटते हैं
शशाङ्कः	= चन्द्रमा (और)	**तत्**	= वही
न	= न	**मम**	= मेरा
पावकः	= अग्नि (ही)	**परमम्**	= उच्च (प्रमातृ रूप)
		धाम	= धाम-स्थिति है ।

सूर्यादीनां तत्रानवकाशः। तेषां कालाद्यवच्छेदात्, वेद्यत्वात्, करणोपकारकत्वात्। तस्य तु दिक्कालाद्यनवच्छेदात्, वेदकत्वात् करणप्रवर्तकत्वात् - तदतीतत्वात् ॥६॥

सूर्य आदि प्रकाशों के लिए वहाँ कोई भी अवकाश नहीं है। क्योंकि वे प्रकाश, काल की परिधि में आकर अवच्छेद से युक्त हैं, ज्ञेय हैं और इन्द्रियों का उपकार करने वाले हैं। इस के उलट ईश्वर, देश काल आदि से छेदित-सीमित नहीं हैं, वेदक है, इन्द्रियों को प्रवृत्ति में लाने वाला है (और) उन प्रकाशों से परे अर्थात् उच्च है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

जीवलोके	= इस शरीर में	**प्रकृति**	= तीन गुणों वाली प्रकृति में
जीवभूतः	= यह जीवात्मा	**स्थानि**	= ठहरी हुई
मम	= मुझ प्रभु का	**मनः**	= मन सहित
एव	= ही	**षष्ठानि इन्द्रयाणि**	= छैओं (पाँच) इन्द्रियों को
सनातनः	= सदा से चला आया हुआ	**कर्षति**	= अपनी ओर खेंचता है।
अंशः	= अंश है (और वही इन)		

ब्रह्मण एवायमंश इति। अज्ञानधर्मतया परिपूर्णस्यासंवेदनाच्चेतनतानिवृत्तेश्चांशत्वमुपचरितं, न पुनर्वस्तुतोऽशवत्तोपपद्यते—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्ताः ।' (अविकल्पश्च)इति हि श्रुतिः । एवंच चौपचारिकता यथावसरं योजनीयेति न विप्रतिपत्तव्यम् ॥७॥

यह जीव तो ईश्वर का ही अंश-भाग है। (अंश का भाव यह नहीं है कि ईश्वर के ही अनेक खंड हुए हैं) अज्ञान के कारण, सर्वज्ञता को खो बैठने से, आत्मिक चेतनता को भूल जाने से, जीव को ईश्वर के अंश होने का आरोपन्न हुआ है। नहीं तो वास्तव में ईश्वर के प्रति, अंशता का होना कैसे युक्त है।

'प्रत्येक वस्तु का एक परिमित रिक्त-स्थान भी उस ईश्वर के विश्व-व्यापक स्वरूप से तनिक भी छूटा नहीं है' (और कल्पना में नहीं आ सकता) यह तो श्रुति कहती है—

इस प्रकार की आलंकारिक भाषा में कहे गये कथन को स्थान-स्थान पर स्वयं बूझना चाहिए। प्रयोग के आभास मात्र को देख कर शंका नहीं करनी चाहिए।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

इव	=	जैसे
वायुः	=	(व्यापक) वायु
आशयात्	=	(किसी भी) स्थान से
गन्धान्	=	गन्ध को अपने साथ ले जाता है
(तथा एव)	=	वैसे ही
ईश्वरः	=	ईश्वर
अपि	=	भी
यत्	=	जिस
(शरीरम्)	=	पहिले शरीर को
उत्क्रामति	=	छोड़ता है
च	=	और
यत्	=	जिस
(अन्यत)	=	दूसरे
शरीरम्	=	शरीर को
अवाप्नोति	=	प्राप्त करता है
(सः)	=	वह
एतानि	=	इन मन सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा (गन्ध) को लेकर (पुर्यष्टक) से
संयाति	=	संबन्ध जोड़ता है।

१. एतद्वेदान्तवादिवचसा संवादयति—'प्रदेशोऽपि' इति । यथा घटाकाशं पटाकाशमित्याकाशस्य घटादियोगेन कल्पिताः प्रदेशा आकाशस्य यावद्रूपं विभुत्वादि तेनानूनाधिकाः, एवं ब्राह्मणो बृहत्त्वेन व्यापकस्य बृंहकत्वेन विश्वसृष्टयाप्यायनविधायिनः प्रकाशरूपस्य स्वशक्तिप्रत्यवभासितनीलाद्युपाधिकृता ये प्रदेशाः—नीलप्रकाशः पीतप्रकाश इत्यादयस्ते, ब्रह्मणि यत्सार्वरूप्यं—सर्वशक्त्यविभागवृत्तित्वं, यच्च प्रकाशमानतामात्ररूपेण प्रतियोगिवैकल्यादपोहनीयाभावे विकल्परूपत्वायोगादप्रतियोगसंवेदनरूपमविकल्पं तत्प्रत्येकमनतिक्रान्तास्ततो मनागप्यनधिकाश्च । द्वयमन्योन्यं हेतुहेतुमद्भावं द्योतयति ।

अवाप्नोति—गृह्णाति। उत्क्रामति—त्यजति। एतैः सह। यथा वायुः सर्वगतो विश्रान्तिधाम पार्थिवं प्राप्य ततो गन्धमानीय स्थानान्तरे तत्सहित एव संक्रामति, एवं जीवः पुर्यष्टकेन सह। एवं सृष्टौ संहारे चैतैः साहित्यमस्योक्त्वा स्थितावापि स्थानासनमननादिरूपायां विषयग्रहणात्मिकायां तत्सहितस्यैवास्य व्यापार इति निश्चीयते ।८॥

शरीर को प्राप्त करता है अर्थात् शरीर को धारण करता है। शरीर का उत्क्रमण करता है अर्थात् शरीर को छोड़ता है। इन मन सहित छः इन्द्रियों के विषयों को लेकर दूसरे शरीर में चला जाता है। जैसे वायु सभी स्थानों में व्यापक होने पर भी, पृथ्वी, जो सभों का विश्रान्ति-स्थान है, उस पर अच्छी गंध और बुरी गंध को लेकर अन्यान्य स्थानों में गंध को ले जाती है। इसी भांति जीव, पुर्यष्टक (मन, बुद्धि और अहंकार) सहित अनेकानेक शरीरों में प्रविष्ट होता है। अतः यह जीवात्मा केवल जीने और मरने में ही इन छः इन्द्रियों को अपने साथ नहीं रखता अपितु संसार के व्यवहार में भी स्थान ढूंढने के समय, फिर वहां बैठने और उस विषय में संकल्प-विकल्प करने में तथा विषयों को स्वीकार करने में भी जीव का उन छः इन्द्रियों के साथ ही व्यवहार होता है। ऐसा निश्चित है !

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

अयम्	= यह जीवात्मा,	**घ्राणम्**	= नाक
श्रोत्रम्	= कान,	**च**	= और
चक्षुः	= आंख	**मनः**	= मन (बुद्धि अहंकार) को
च	= और	**अधिष्ठाय**	= अपना सहारा बना कर
स्पर्शनम्	= त्वचा को	**एव**	= ही
च	= तथा	**विषयान्**	= विषयों का
रसनम्	= जीभ,	**उप-सेवते**	= भोग करता है।

तिष्ठन्तमुत्क्रामन्तं वा भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

तिष्ठन्तम्	= शरीर में ठहरते हुए		होने के कारण)
वा	= या	**न**	= नहीं
उत्क्रामन्तम्	= शरीर को छोड़ते हुए	**अनुपश्यन्ति**	= देख पाते हैं।
वा	= अथवा	**ज्ञान-चक्षुषः**	= ज्ञान-नेत्रों वाले ज्ञान-वान् (ही)
भुञ्जानम्	= विषयों को भोगते हुए	**पश्यन्ति**	= बोध का अनुसन्धान करते हुए इस आत्मा की वास्तविकता को जानते हैं।
गुण-अन्वितम्	= तीन गुणों से सम्बन्ध करते हु		
(आत्मानम्)	= इस आत्मा को		
विमूढाः	= अज्ञानी जन(अप्रबुद्ध		

मन इत्यनेनान्तःकरणमुपलक्ष्यते। अत एव शरीरस्थितियोगात्तिष्ठन्तम्। शरीरान्तर-ग्रहणाय उत्क्रामन्तम्। विषयान्वा भुञ्जानं मूढा न पश्यन्ति—अप्रबुद्धत्वात्। प्रबुद्धास्तु सर्वत्रैव बोधरूपमेवानुसन्दधाना जानन्त्येव, इत्यलुप्तसमाधयः तेषां यत्नपरत्वात् ॥१०॥

मन से अन्तःकरण की ओर संकेत किया जाता है। इसलिए शरीर में ठहरे हुए आत्मा को, अन्य शरीरों को ग्रहण करने के कारण उत्क्रांति करने वाले आत्मा को तथा विषयों के भोगने वाले इस आत्मा को मूर्ख व्यक्ति, सूक्ष्म बुद्धि के न होने से देख नहीं सकते। इस के उलट प्रबुद्ध— सत्तर्क की बुद्धि रखने वाले जन संवित्स्वरूप का ही अनुसन्धान करने पर इस आत्मा को (तात्विक रूप से) जानते हैं। इसीलिए इन की समाधि कभी नष्ट नहीं होती क्योंकि वे सदा अभ्यास करने में लगे होते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

योगिनः	= योगीजन	**अचेतसः**	= सजगता से रहित अज्ञानी जन
आत्मनि	= अपने भीतर	**यतन्तः**	= यत्न करते हुए
अवस्थितम्	= ठहरे हुए	**अपि**	= भी
एनम्	= इस आत्मा का	**एनम्**	= इस आत्मा को
यतन्तः	= अभ्यास करते हुए ही	**न पश्यन्ति**	= देख नहीं पाते हैं।
पश्यन्ति	= दर्शन— अनुभव करते हैं		
च	= और		
अकृतात्मानः	= जिन्होने अन्तःकरण शुद्ध नहीं किए हैं (ऐसे)		

अकृतात्मनां तु यत्नोऽपि न फलाय—अपरिपक्वकषायत्वात्। नहि शरदि सलिलादि-सामग्रीसंमर्देऽपि धान्यबीजानि उप्यमानानि फलसंपदेऽलम्। अत एव सामग्री एव सास्य न भवति,—अन्यदेव किल मधुमाससंभूतजलधरपटलीप्रेरितमम्भः। काचिदेव च सा भूः, यस्यां

शिशिरविवशीकृतायां रविकरस्पर्शेनैव कान्तिः। एवमकृतात्मनां यत्नो न सकलाङ्गपरिपूर्णत्वमायाति। अतएव प्राप्याप्युपायं पारमेश्वरदीक्षादि, ये तथाविधक्रोधमोहादिग्रन्थिसन्दर्भगर्भीकृतान्तर्दृशः, तेषूपाय एव साकल्यं न भजतीति मन्तव्यम्। यदुक्तं—

'क्रोधादौ दृश्यमानेहि दीक्षितोऽपि न मुक्तिभाक्।'

इति ॥११॥

सच तो यह है कि मन को न जीतने वालों का यत्न भी (स्वरूप-लाभ के) फल को नहीं दे सकता। क्योंकि उनके अन्तःकरण के राग, द्वेष आदि मल समाप्त नही हुए होते हैं। जैसे जल आदि सभी सामग्री के होते हुए भी शरद काल में बीजा गया धान, फल नहीं दे सकता क्योंकि वह शरत् ऋतु का जल आदि सामग्री वास्तव में (फल देने की) सामग्री ही नहीं है। वह वसन्त-ऋतु के द्वारा धारण की गई मेघमालाओं से प्रेरित तथा प्रसारित हुआ वर्षा का जल, कुछ और ही सत्ता रखता है। इतना ही नहीं वह वसन्तकालीन भूमि भी निराली ही होती है जो शिशिर ऋतु में वर्षा, हिम-पात आदि के कारण बेबस बनी हुई, वसन्तकालीन सूर्य की किरणों के स्पर्श लगने से ही अलौकिक फल देने वाली कांति से सुशोभित होती है। ऐसे ही मन को न जीतने वालों का यत्न भी वास्तविक भक्ति के न होने से फल न देकर परिपूर्णता को नहीं प्रदान करता। इसीलिए परमेश्वर सम्बन्धी दीक्षा आदि उपायों का आश्रय लेकर भी जो जन, अपने अन्तःकरणों को, क्रोध, मोह आदि अनेकानेक गंठियों से बांधते हैं, उन के लिए प्रयत्न करना भी व्यर्थ ही है। क्योंकि उन्हें ऐसा प्रयत्न सफलता प्रदान नहीं करा पाता। इस कथन को ध्यान में रखना चाहिए। कहा भी है कि 'गुरु-उपदेश द्वारा दीक्षित होने पर भी यदि क्रोध आदि विकार अभी साधक में विद्यमान ही हों तो वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाता।'

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

यत्	= जो	**चन्द्रमसि**	= चंद्रमा में ठहरी हुई कांति है
आदित्य-गतम्	= सूर्य में ठहरा हुआ	**च**	= तथा
तेजः	= प्रकाश	**यत्**	= जो
अखिलम्	= सारे	**अग्नौ**	= अग्नि में गर्मी है
जगत्	= जगत् को	**तत**	= वह (सभी)
भासयते	= प्रकाशित करता है	**मामकम्**	= मुझ प्रमातृरूप का ही
च	= और	**तेजः**	= प्रकाश
यत्	= जो	**विद्धि**	= जानो

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधी: सर्वा: सोमो भूत्वा रसात्मक: ।।१३।।

च = और
अहम् = मैं ही (तो)
गाम् = पृथ्वी में
आविश्य = प्रवेश करके
ओजसा = अपनी शक्ति से
भूतानि = सभी प्राणियों को
धारयामि = सत्ता प्रदान करता हूं ।
च = तथा
रसात्मक: = अमृतरूप
सोम: = चन्द्रमा
भूत्वा = बनकर
सर्वा: = सभी
ओषधी: = ओषधियों को
पुष्णामि = पुष्ट करता हूं ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थित: ।
प्राणापानसमायुक्त: पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।१४।।

अहम् = मैं (ही)
प्राणिनाम् = (सभी) प्राणियों के
देहम् = शरीर में
आस्थित: = ठहरा हुआ
वैश्वानर: = अग्नि रूप
भूत्वा = बन कर
प्राण-अपान-समा-युक्त: = प्राण और अपान से युक्त हुआ
चतुर्विधम् = चार प्रकार के (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य)
अन्नम् = अन्न को
पचामि = पचाता हूं

अर्कादितेजस्त्रयरूपतया दशमाध्यायसूचितसृष्टिस्थितिसंहारप्रकटीकरणे श्रीगुरव: प्राहु:—भूत पञ्चकस्य समस्तव्यस्ततया यल्लोकधारकत्वं तद्भगवत एव माहेश्वर्यमित्येत्तदनेन। तथाहि। रवितेजस: प्रकाशकत्वं धारकत्वं च—तेजोधराद्वयतादात्म्यात् । तदेतदुक्तं,—'यदादित्यगतम्' इति 'गामाविश्य च' इति चार्धद्वयेन । चान्द्र तेज: प्रकाशकं पोषकं च;—जलतेजोयोगात् । तदुक्तं,—'यच्चन्द्रमसि' इत्यनेन भागेन,

'पुष्णामि चौषधी: सर्वा: सोमो भूत्वा रसात्मक: ।' इति चार्धश्लोकेन। वाहनं तु तेज: प्रकाशनशोषणदहनस्वेदनपचनात्मकं— पृथिव्यप्तेजोवायुयोगात् । तदेतदिहोक्तं, 'यच्चाग्नौ' इत्यनेन, 'अहं वैश्वानर:'—इत्यनेन च । नभस्तु बोधावकाशरूपतया सर्वगतमेव ।।१४।।

सूर्य आदि (चन्द्रमा तथा अग्नि) तीन तेजों के रूप को दसवीं अध्याय में सृष्टि, स्थिति तथा संहार को जतलाने के लिए ही संकेत किया गया है। श्री गुरूजनों का कहना है

कि पांच महाभूतों में भिन्न-भिन्न रूप से जो भी लोकों को धारण करने वाली सत्ता है वह वास्तव में परमात्मा का ही महेश्वरत्व है। इस भाव को स्पष्ट करते हैं— सूर्य के तेज में प्रकाशकता और धारण करने की सत्ता है। क्योंकि उसमें प्रकाश और पृथ्वी का संमिश्रण हुआ है। यह आशय 'यदादित्यगतम्, इस आधे श्लोक से प्रकट होता है। चन्द्रमा संबन्धी तेज प्रकाश करने वाला और जगत् को पुष्टि देने वाला है क्योंकि जल और तेज का इस में योग है। इस भाव को 'यच्चन्द्रमसि' यह पद और 'पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमोभूत्वा रसात्मकः,'—यह आधा श्लोक प्रकट करता है। अग्नि का तेज तो प्रकाश करने वाला, सुखाने वाला, जलाने वाला, पचाने वाला और पसीना उत्पन्न करने वाला है। यतः इसमें पृथ्वी, जल, तेज और वायु का मिलाप है— यह कथन तो 'अहं वैश्वानरो भूत्वा,' इस श्लोक से प्रकट होता है। आकाश तो चेतनता का प्रतीक होने से सर्वव्यापक ही है।

अतएव बोध्यरूपतामुक्त्वा तद्बोध्यस्वरूपपृष्ठपतितस्वातन्त्र्यबोधस्वभावमात्मानं परस्वभावं परमेश्वररूपं सर्वज्ञानस्वतन्त्रं सर्वकर्तारं दर्शयितुमाह—

इस प्रकार परमेश्वर की ज्ञेय-रूपता, जो जगत से संबन्धित है, उस को कह कर, उस ज्ञेय स्वरूप के बाद ही जो स्वतन्त्र, ज्ञान रूप आत्मा का अति उच्च स्वभाव, परमेश्वर संबन्धि सभी ज्ञानों को जानने में स्वतन्त्र, सबों का ईश्वर जाना जाता है— उसी का वर्णन करते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः[1] स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

च	= और	**संनिविष्ठः**	= ठहरा हुआ हूं।
अहम्	= मैं	**मत्तः**	= मुझ से
सर्वस्य	= सभी वेद्यों का (जो)	**स्मृतिः**	= स्मरण-शक्ति,
हृदि	= हृदय (आहरण स्वभाव वाला बोध का स्वरूप है उस) में	**ज्ञानम्**	= ज्ञान
		च	= और
		अपोहनम्	= विस्मृति (भूल जाने की आदत)

---

१. अत्र च, मत्त इति—मत्सामर्थ्यादेतत्, न ममेत्यभिप्रायः। अयं भावः—यदबलात्तद्भवति तन्मम स्वातन्त्र्यमिति।

भवति	= होती है	**वेदान्तकृत्**	= वेदान्त को बनाने वाला
च	= तथा	**च**	= और
सर्वैः	= सभी	**वेदवित्**	= वेदों के मर्म को जानने वाला (भी)
वेदैः	= वेदों के द्वारा		
अहम्	= मैं	**अहम्**	= मैं
एव	= ही	**एव**	= ही
वेद्यः	= जाना जाता हूं।	**(अस्मि)**	= हूं।

सर्वस्य—वेद्यस्य यत् हृत्—समस्ताहरणस्वतन्त्रबोधस्वभावं, तत्राहमिति यो विमर्शस्तत एवापूर्वाभासनामयं ज्ञानं विश्वमहासृष्टिरूपम्। 'अयं घट एव'—इति सर्वात्मकभावखण्डनासारं विकल्पज्ञानात्मकमपोहनं पाशवसृष्टिरूपमायामय प्रमातृचितम्। स्मरणं च संस्कारशेषतां नीतस्य संहृतस्य पुनरवभासनात्मकमिति। इयता समस्तज्ञानानि संहृतानि। इति सर्वसर्वज्ञतापूर्वकं स्वातन्त्र्यरूपं कर्तृत्वमुक्तम्। सर्वैरिति—संभूय किल सर्वशास्त्राणां परमेशतत्त्वमेव निरूप्यम्। वेदवेदान्तकर्तृत्वेन कर्मफलसंबन्धादिद्वारतया अशेषविश्वनिर्माणे, तदुन्मूलनेन पुनः स्वरूपप्रतिष्ठापने भगवत एव स्वातन्त्र्यमिति विश्वकर्तृत्वमुक्तम्। अन्ये तु अपोहनम्—अनेनाकृतेनेदं भवति, इति व्यतिरेकबुद्धिः। वेदान्तं करोति इत्यात्मसाद्भावेन। एवं वेदम् ॥१५॥

सभी वेद्य-वर्ग जैसे घड़ा, वस्त्र आदि वस्तुओं का जो हृदय है—सभी वस्तुओं को सम्पन्न करने वाला स्वतन्त्र ज्ञान का जो स्वरूप है, उसमें जो अहं रूप विमर्श है, उसी से जगत् की महासृष्टि और अपूर्व प्रकाश को प्रकट करने वाला ज्ञान, स्फुरित होता है। यह घडा ही है (अन्य वस्तु नहीं) इस प्रकार का ज्ञान, (परमेश्वर के) सर्वात्मभाव को समाप्त करता है। केवल घड़े के आभास में ही सीमित रूप से रह कर अन्य सभी जगत् में ठहरे हुए पदार्थों के विकल्पों का अपोहन करवाता है—अन्य पदार्थों को भुला डालता है और पशु-सृष्टि (जीव-सृष्टि) के अनुसार जीवात्मा के ही अन्तर्गत है और उसी के योग्य है।

अनुभव-ज्ञान के संस्कार से शेष बचा हुआ संहृत—भूली हुई वस्तु का पुनः अवभासन करने वाला (ज्ञान) स्मरण कहलाता है। इस भांति इन तीनों प्रकार के ज्ञानों (महासृष्टि, अपोहन, स्मरण) से ही सभी ज्ञानों का संकेत किया गया। इस प्रकार ईश्वर की सर्वज्ञता के साथ-साथ स्वातन्त्र्य रूप कर्तृता जतलाई गई। 'सभी वेदों को बनाने वाला और वेद आदि सभी मैं हूं'—यह कहने का अभिप्राय यही है कि समस्त शास्त्रों में प्रभु का स्वरूप ही बखान किया गया है। ऐसा निश्चित है। वेदों और वेदान्तों (उपनिषदों) को बनाने वाला कर्त्ता, कर्म-फल और कर्म-फलों के सम्बन्ध के द्वारा सभी विश्व को बनाने में, उस जगत् को समूल नष्ट करने में तथा फिर जगत् को उत्पन्न करने में भगवान् का ही स्वातन्त्र्य है। अतः ईश्वर को 'सर्व-कर्तृ-भाव' विशेषण से विभूषित किया गया है।

अन्य कई टीकाकार अपोहन का अर्थ—कर्मों का न करना तथा भेद-बुद्धि का होना मानते हैं। वेदान्त को जो शास्त्र, स्वरूप की एकात्मकता से वर्णन करता है उसे 'वेदान्तकृत्' कहते हैं। इसी प्रकार वेद-कर्त्ता भी जानना चाहिए।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

लोके	= इस संसार में	**सर्वाणि**	= सभी
क्षरः	= नाशवान् (सभी पदार्थ)	**भूतानि**	= प्राणियों के शरीर तो
च	= और	**क्षरः**	= नष्ट होते हैं
अक्षर	= अविनाशी (आत्मा)	**च**	= और
एव	= ही	**कूटस्थः**	= स्थिर रहने वाला, जीवात्मा
इमौ	= ये		
द्वौ	= दो प्रकार की	**अक्षरः**	= न नष्ट होने वाला अविनाशी
पुरुषौ	= सत्तात्मक स्थिति है (उनमें)	**उच्यते**	= कहा जाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

तु	= किन्तु	**बिभर्त्ति**	= सबका पालन-पोषण करता है।
उत्तम	= उत्तमः (श्रेष्ठ) पुरुष (तो)		
अन्यः	= (इन दोनों से) न्यारा ही है	**इति**	= अतः
		अव्ययः	= अविनाशी
यः	= जो	**ईश्वरः**	= प्रभु
लोकत्रयम्	= तीनों लोकों में	**परमात्मा**	= परमात्मा
आविश्य	= प्रवेश करके	**उदाहृतः**	= कहलाया जाता है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

यस्मात्	= क्योंकि	**उत्तमः**	= उत्तम (श्रेष्ठ) हूं।
अहम्	= मैं	**अतः**	= इसलिए
क्षरम्	= नाशवान् जड-वर्ग क्षेत्र से	**लोके**	= संसार में
		च	= और
अतीतः	= परे—न्यारा हूं	**वेदे**	= वेद में (भी)
च	= और	**पुरुषोत्तमः**	= पुरुषों में उत्तम (इस नाम से)
अक्षरात्	= अविनाशी जीवात्मा से	**प्रथितः**	= प्रसिद्ध
अपि	= भी	**अस्मि**	= हूँ।

'लोके द्वाविमौ पुरुषौ'—इति ग्रन्थेनेदमुच्यते;—लोके तावदप्रबुद्धस्वभावोऽपि सर्वः पृथिव्यादिभूतारब्धशरीरमात्मानं चेतनं क्षररूपं जानातीति लोकस्य मूढत्वाद द्वैतधीर्न निवर्तते। अहं तु सकलानुग्राही द्वैतग्रन्थिम् विभिद्य सकललोकव्यापकतया वेद्य इति। क्षरमतीतः–भूतानां जडत्वात्। अक्षरमतीतः—आत्मनोऽप्रबुद्धत्वे सर्वव्यापकत्वखण्डनात्। 'पुरुषोत्तमो लोके वेदेऽपि' स उत्तमः पुरुषः,—इत्यादिभिर्वाक्यैः स एव परमात्माद्वय एवमुच्यते॥१८॥

'लोक में ये दो प्रकार की सत्तात्मक स्थिति है' इस श्लोक संदर्भ से यह जतलाया जाता है कि इस विश्व में अज्ञानी जन पृथ्वी, जल आदि पांच महाभूतों से उत्पन्न बने हुए शरीर को ही चेतन आत्मा मानते हैं। इस नाशवान शरीर को आत्मा कहते हैं। इस प्रकार मूर्ख होने के नाते इस संसारी जन की द्वैत-बुद्धि न ही हटती। इसके उलट 'मैं ईश्वर, सभों को अनुग्रह करने वाला, द्वैत की गांठ को काटकर सभी लोकों में सर्व-व्यापक रूप से जानने योग्य हूं। क्षर-नाशवान पदार्थों से अतीत हूं, क्योंकि सभी पंचमहाभूतों से बने हुए पदार्थ जड़ हैं। अक्षर से मैं परे हूँ। क्योंकि जीवात्मा के अप्रबुद्ध होने पर ईश्वर की सर्वव्यापकता खण्डित होती है। जो पुरुष लोक में और वेद में सबसे उच्च होकर प्रसिद्ध है वह उत्तम पुरुष कहलाता है। (अत:) उस परमात्मा की अद्वैतरूपता ही इन ऊपर कहे गये वाक्यों से प्रकट होती है।

> यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
> स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥

भारत	= हे अर्जुन !	**माम्**	= (व्यापक जानकर सभी वस्तुओं में) मुझ
एवम्	= इस प्रकार (तात्त्विक रूप से)	**पुरुषोत्तमम्**	= पुरुषों में उत्तम परमात्मा को
यः	= जो		
असंमूढः	= ज्ञानी जन	**जानाति**	= जानता है

सः	= वह	**माम्**	= मुझे
सर्ववित्	= सर्वज्ञ पुरुष	**(एव)**	= ही
सर्वभावेन	= मूर्ति, क्रिया और ज्ञान से	**भजति**	= स्मरण करता है।

एवं जानानः सर्वमयं मामेव ब्रह्मतत्त्वमुपासीनः सर्वं मन्मयत्वेन विदन् सर्वेण भावेन—मूर्ति क्रियाज्ञानात्मकेन मामेव भजते। यत्पश्यति, तद्भगवन्मूर्तितयेत्यादि। तथा च मयैव शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्रे—

'तव च काचन न स्तुतिरम्बिके
सकलशब्दमयी किल ते तनुः।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो
मनसिजासु बहिष्प्रसरासु च॥
इति विचिन्त्य शिवे शमिताशिवे
जगति जातमयत्नवशादिदम्।
स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता
न खलु काचन कालकलापि मे'॥

इति—

इस रीति से (भक्त) मुझ सर्वव्यापक ब्रह्मतत्त्व का आश्रय लेकर सभी पदार्थों को मेरा रूप ही जानकर सर्वभाव से—मूर्ति, क्रिया और ज्ञान रूप से मुझे ही पूजता है। जो कुछ देखता है उसे भगवान् का रूप समझ कर ही देखता है। इत्यादि। (जो भी क्रिया करता है उसे भगवान् का काम समझ कर ही करता है। जो जानता है उसे भगवान् का ज्ञान समझ कर ही जानता है।) यही भाव मैं ने 'शिव-शक्ति-अविनाभाव स्तोत्र में प्रकट किया है—

हे माता! आप का वास्तविक स्वरूप तो सभी शब्दों से परिपूर्ण है फिर भला आप की स्तुति कौन नहीं करता है। (सारा दिन जो कुछ मैं बोलता हूँ वह तो सभी आपका ही गुणानुवाद करता हूं।) मुझे तो संसार की सभी मूर्तियों में आप का ही पर-संबन्ध, मन में उत्पन्न हुए संकल्पों में तथा बाहिर फैले हुए पदार्थों में दिखाई देता है। ऐसा विचार कर हे अशुभों को दूर भगाने वाली पार्वती! जगत् में मुझे तो बिना यत्न के किसी काल का एक निमेष भर भी आपकी स्तुति, जप और चिन्तन के बिना नहीं बीतता।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतदबुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

अनघ	= हे निष्पाप	**उक्तम्**	= कहा है।
भारत	= अर्जुन !	**एतत्**	= इस को
इति	= इस रीति से	**बुद्ध्वा**	= ठीक ठीक जानकर
इदम्	= यह	**बुद्धिमान्**	= ज्ञानवान् भक्त,
गुह्यतमम्	= सभी अद्वैत-शास्त्रों को सिद्ध करने वाला	**कृतकृत्यः**	= सफल-मनोरथ
शास्त्रम्	= शास्त्र,	**स्यात्**	= बनता है।
मया	= मैं ने		

गुह्यतमं—सर्वाद्वयप्रतिपादकत्वात्। एतदेव बुद्ध्वा बुद्धिमत्त्वं, न तु व्यवहार-बुद्ध्या। एतेन च ज्ञातेनैव कृत्यकृत्यता। नतु कृतेनापि शत्रुविजयार्थाहरणस्त्र्युपभोगादिना। चकारोऽद्भुतद्योतकः। कृतेन हि कृतकृत्यता दृष्टा, एतेन तु ज्ञातेनैवेति चित्रम्। इतिशब्देन शास्त्रस्य समाप्तिः सूचिताः,—वक्तव्यस्य परिपूर्णतया समाप्तत्वात्। तथाहि। षोडशाध्यायेन शिष्यस्यार्जुनस्य केवलं योग्यता प्रतिपाद्यते। नतूपदिश्यते किंचित्। "दैवी ह्येवंविधा संपत्, आसुरी चाविद्यामय्येतादृशी संपत्। त्वं च विद्यामयीं दैवीं संपदमभिप्राप्तः'—इत्येतावति हि तात्पर्यम्। यद्वक्ष्यति 'मा शुचः संपदं दैवीं'—इति। अत एव पूर्वं विद्याविद्यासंघट्टनिरूपणावसरे देवासुरसंग्रामच्छलेन विद्याविद्ययोः संघर्ष इति सूचितम्। एवं च शिष्यस्वरूपे प्राधान्येन निरूप्यमाणे, प्रसङ्गतोऽन्यदप्युक्तम्। इत्यध्यायद्वयं भविष्यति। उपदेशस्त्वित एव परिसमाप्तः। सर्वभावेन हि परमेश्वरभजनसमावेशरूपं प्राप्यम्। तदर्थं चान्यत्सर्वमित्युक्तं प्राक्। सर्वमाहेश्वरस्वरूपावेश एव हि परमं सर्वमिति शिवम्॥२०॥

पूर्ण रूप से रहस्य से भरा हुआ—सभी अद्वैत-शास्त्रों को सिद्ध करने से यह गीता-शास्त्र रहस्य से युक्त है। इस पारमार्थिक रहस्य को जानने में ही बुद्धिमत्ता है। व्यवहार बुद्धि से वास्तविक बुद्धिमत्ता प्राप्त नहीं होती। इस (परमार्थ) को समझने से ही सफलता होती है किन्तु शत्रु को जीत कर, धन कमाने पर तथा स्त्री-संभोग आदि कर्म करने पर भी व्यक्ति कृतार्थ नहीं बनता। श्लोक में 'च' वर्ण अद्भुतता का सूचक है। विश्व में कुछ कार्य करने पर ही सफलता होती देखी गई है किन्तु इस मार्ग में जानने से ही कृतकृत्यता होती है। यह आश्चर्य है। श्लोक के शुरू में 'इति' शब्द से गीता-शास्त्र की समाप्ति सूचित की जाती है। अतः जो विषय कहना था वह तो भली-भांति (पन्द्रहवीं अध्याय में ही) पूर्ण रूप से समाप्त हुआ है। इसको जतलाने के लिए सोलहवीं अध्याय में केवल, शिष्य अर्जुन की योग्यता का बखान करते हैं। कोई विशेष उपदेश इस सोलहवीं अध्याय में नहीं किया गया है। 'दैवी-सम्पदा' ऐसी है और 'आसुरी संपदा' तो अविद्या से युक्त इस प्रकार की है। पर हे अर्जुन ! तुम तो विद्या से पूर्ण दैवी संपदा को ही प्राप्त किए हो। इतना ही इस अध्याय का अभिप्राय है। उसी अध्याय में कहा भी है—'मा शुचः संपदं दैवीं—दैवी-सम्पदा से तो

तुम पवित्र बने हो अतः शोक काहे का'। इसी आशय को लेकर पहिले (प्रथम अध्याय में) भी विद्या और अविद्या के आपसी टकराव का निर्णय करने के साथ ही देवताओं और असुरों के मिस से विद्या और अविद्या का पारस्परिक संघर्ष सूचित किया गया है। ऐसे ही मुख्य-रूप से शिष्य का स्वरूप निर्णय करने पर प्रसंग रूप से अन्य विषयों का निर्णय भी किया है।(इन अन्य विषयों के निर्णय के लिए सत्तारहवीं और अठारहवीं दो अध्याय कहे जाएँगे।) उपदेश तो यहीं (पंद्रहवीं) अध्याय में ही समाप्त हुआ है। पत्ते की बात तो यही है कि पूर्ण रूप से ईश्वर का आवेश-पूर्ण भजन ही प्राप्त करने योग्य है। उसको प्राप्त करने के लिए ही अन्य सब—पूजा, जप, अभ्यास आदि क्रियाएँ कही गई हैं। ये तो हम पहिले कह ही चुके हैं। सभी दशाओं और व्यवहार में महेश्वर का भावावेश होना ही परम-कल्याण है। इति शिवम्।

अत्र संग्रहश्लोकः

हृत्वा द्वैतमहामोहं कृत्वा ब्रह्ममयीं चितिम्।
लौकिके व्यवहारेऽपि मुनिर्नित्यं समाविशेत् ॥१५॥

सार-श्लोक

भेद के भयंकर अंधेरे को हटाकर (और) अपनी संवित्ति को ब्रह्म-मय बनाकर, मनन-परायण योगी, लौकिक व्यवहार में भी ईश्वर के समावेश से युक्त ही होता है।

इति श्री महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (पुरुषोत्तमयोगो नाम) पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

श्रीमहामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त जी द्वारा रचित गीतार्थ-
संग्रह का (पुरुषोत्तम योग नाम का) पंद्रहवां
अध्याय समाप्त हुआ।

अथ

षोडशोऽध्यायः

एतबुद्ध्वेत्युक्तम्। बोधश्च नाम, श्रुतिमयज्ञानानन्तरं 'इदमित्थम्'—इत्येवंभूत-युक्तिचिन्ताभावनामयज्ञानोदयेन विचारविमर्शपरामर्शादिरूपेण विजातीयन्यक्कारविरहिततद्भावनामयस्वभ्यस्ताकारविज्ञानलाभे सति, भवति। यद्वक्ष्यते—

'विमृश्यैवमशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु' ॥

(१८ अ०।६३ श्लोक)

इति। तत्र श्रुतिमये ज्ञाने गुरुशास्त्रे एव प्राधान्येन प्रभवतः। युक्तिचिन्ताभावनामये तु विमर्शक्षमता असाधारणा शिष्यगुणसंपत् प्रधानभूता। अतोऽर्जुनश्शास्त्येवासौ। इत्यभिप्रायेण वक्ष्यमाणं 'विमृश्यैवम'—इति वाक्यं सविषयं कर्तुं परिकरबन्धयोजनाभिप्रायेणाह भगवान्गुरु—

इस ज्ञान को जानकर मनुष्य कृतकृत्य होता है—यह बात तो कही। वह ज्ञान तब प्राप्त होता है जब शास्त्र ज्ञान को सुनने के बाद 'यह (ज्ञान) ऐसा ही है'—इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान, युक्ति, चिन्तन तथा भावनात्मक विचार, विमर्श और परामर्श करने से, द्वैत को जतलाने वाले विजातीय ज्ञान को हटा कर केवल परामर्श रूप भावना के अभ्यास से विज्ञान (आत्मज्ञान) का लाभ हुआ हो। इसी अभिप्राय को लेकर आगे कहेंगे—इस भांति पूर्ण रूप से विमर्श करने के बाद तुम्हें जो इच्छा हो वही करो। इति।

उन ज्ञानों में से शास्त्र-ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु और शास्त्र ही मुख्यतया समर्थ हैं। युक्ति, चिन्तन और भावनामय ज्ञान के लिए तो असामान्य विमर्श-सहिष्णुता से युक्त शिष्य की दैवी गुणों की सम्पदा मुख्य मानी जाती है। अतः अर्जुन को तो यह (दैवी-संपदा) प्राप्त ही है। इस अभिप्राय से आगे कहे गये 'विमृश्यैवम्'—इस बात की सार्थकता सिद्ध करने के लिए नींव डालने की योजना के अभिप्राय से गुरु बन कर भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

अभयं[1] सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

---

१. सर्वतः कुतश्चिच्चेतनाचेतनरूपाद्भावजाताद्यथोक्ताद्वयज्ञानप्रतिष्ठितबुद्धित्वे सति आत्माभेदेन प्रतिपाद्यमानाद्भयस्य-आत्मव्यतिरिक्तपदार्थाश्रयस्य प्रेप्सितविषयाप्राप्तिविघातादि-हेतोः साध्वसस्याभावः।

भगवान् बोले

अभयम् = किसी भी प्रकार का भय न होना,
सत्त्व-संशुद्धिः = अन्तःकरणों की निर्मलता,
ज्ञान-योग-व्यवस्थितः = ज्ञान-योग में दृढ़ता का होना,
च = और
दानम् = सात्त्विक दान
दमः = इन्द्रियों पर काबू पाना,
यज्ञः = स्वात्म-अनुसंधान रूप यज्ञ,
स्वाध्यायः = रात-दिन अभ्यास करने का चाव,
च = और
तपः = तपस्या, सहन-शीलता का होना (तथा)
आर्जवम् = मन की सरलता

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागःशान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोल्यं च मार्दवं[1] ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा = मन, वाणी और शरीर से किसी को कष्ट न देना,
सत्यम् = यथार्थ और प्रिय भाषण,
अक्रोधः = क्रोध न होना,
त्यागः = कर्मों में कर्त्तापन के अभिमान का त्याग
शान्तिः = मन में संतोष होना,
अपैशुनम् = निन्दा न करने का स्वभाव,
भूतेषु = सभी प्राणियों पर
दया = दया करने का भाव,
अलोल्यम् = इन्द्रियों के विषय में लगाव का न होना,
च = और
मार्दवम् = मन की सरलता,
ह्रीः = बुरे कामों में लज्जा,
अचापलम् = चंचलता का न होना,

तेजः क्षमा धृतिस्तुष्टिरद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

(च) = और
तेजः = ओज
क्षमा = करुणा के कारण अपराध होकर भी क्षमा करने का स्वभाव,
धृतिः = सहन-शक्ति,
तुष्टिः = दुःख-सुख में संतोष,
अद्रोहः = किसी से भी द्रोह न रखना,
अतिमानिता = कार्य करके अपनेपन का अभाव,
(एते) = ये सभी
भारत = हे अर्जुन !
दैवीम् = दिव्य
संपदम् = संपदा को
अभिजातस्य = प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण
भवन्ति = हैं ।

---

१. चित्तस्य काठिन्यराहित्यं शीतलता ।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

पार्थ	= हे अर्जुन !	**च**	= और
दम्भः	= लोगों के सामने अभ्यास करने की आदत, लत	**पारुष्यम्**	= कठोर वाणी,
दर्पः	= घमण्ड	**अज्ञानम्**	= ईश्वर को याद न करना,
च	= और	**आसुरीम्**	= राक्षसी
अभिमानः	= अहंकार	**संपदम्**	= संपदा को
च	= तथा	**अभिजातस्य**	= प्राप्त हुए पुरुष के
क्रोधः	= क्रोध	**(लक्षणम्)**	= लक्षण हैं ।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

पाण्डव	= हे अर्जुन !	**मा शुचः**	= (तुम) शोक मत करो,
दैवी-संपत्	= दिव्य संपदा तो	**(त्वम्)**	= तुम तो
विमोक्षाय	= संसार से छूटने के लिए (और)	**दैवीम्**	= अलौकिक (सत्त्व-गुण-पूर्ण)
आसुरी	= राक्षसी (रजोगुण और तमोगुणी) संपदा तो	**संपदम्**	= सम्पदा को
निबन्धाय	= संसार में बांधने के लिए	**अभिजातः**	= प्राप्त किए हुए
मता	= मानी गई है ।	**असि**	= हो

आसुरभागसंनिविष्टा तामसी किलाविद्या । सा प्रवृद्धया दिव्यांशग्राहिण्या विद्यया बाध्यते, इति वस्तुस्वभाव एषः । त्वं च विद्यात्मानं दिव्यमंशं सात्त्विकमभिप्रपन्नः । तस्मादान्तरीं मोहलक्षणामविद्यां विहाय बाह्याविद्यात्मशत्रुहननलक्षणं शास्त्रीयव्यापारम् अनुतिष्ठ—इत्यध्यायारम्भः । तथाहि दिव्यांशस्येमानि चिह्नानि तानि स्फुटमेवाभिलक्ष्यन्ते दमः इन्द्रियजयः । चापलं पूर्वापरमविमृश्य यत्करणं, तदभावोऽचापलम् । तेजः—आत्मन्युत्साहग्रहणेन मितत्वापकरणम् । दैवी संपदेषा । सा च तव विमोक्षाय;—कामनापरिहारात् ।

---

१. परवञ्चनार्थं विहितानुष्ठानम् ।

२. स्वगुणसंभावनया हर्षमोहात्मकचित्तविकारः ।

३. स्वस्मिन्नेवोत्कृष्टबुद्धिरभिमानः ।

अतस्त्वं शोकं मा प्राप: । यथा—'भ्रात्रादीन् हत्वा सुखं कथमश्नुवीय'—इति । शिष्टं स्पष्टम् ॥५॥

वास्तव में बात तो यों है कि तमोगुण रूपिणी अविद्या आसुरी खंड में ठहरी हुई है ; यह अविद्या, प्रौढता को प्राप्त हुई और अलौकिक अंश को ग्रहण करने वाली (सत्त्व-गुण) विद्या के द्वारा रोकी जाती है। यह तो वस्तुओं का अपना-अपना स्वभाव-गुण ही है। तुम तो विद्या से युक्त होकर दिव्य अंश रूप जो सात्त्विक-वृत्ति है, उसे प्राप्त किए हुए हो । अत: आन्तरिक मोह रूपिणी अविद्या को छोड़ कर बाह्य-अविद्या, जो संसार में प्रचलित है, जिसे शास्त्रीय कर्म कहते हैं कि 'शत्रु का वध करो' इस पर तुम डटे रहो। यही आशय लेकर इस अध्याय का आरम्भ हुआ है । इस प्रकार दिव्य-अंश वाले व्यक्ति के जो ये चिन्ह हैं, उन का लक्षण स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना—इन्द्रियों को काबू करना दम कहलाता है । अगली और पिछली दशा को न विचार कर जो कार्य किया जाता है उसे चपलता कहते हैं और उस चंचलता का न होना अचापलता-अचंचलता कही जाती है। अपने आत्मा में उत्साह को स्थान देना और परिमितता को त्यागना तेज कहलाता है । ये सभी दैवी संपत्तियाँ हैं । अत: कामनाओं को हटाने से—अर्थात् इन पर (स्वात्म-विमर्श करने से) यही (संपदायें) तुम्हें मोक्ष दिलायेंगी । इसलिए तुम यह शोक न करो कि 'बांधवों को मार कर मैं सुख कैसे प्राप्त करूँगा' । शेष (अर्थ) स्पष्ट ही है ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरत: प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु ॥६॥

पार्थ	= हे अर्जुन !	**दैव:**	= देवों का स्वभाव
अस्मिन्	= इस	**एव**	= तो
लोके	= विश्व में	**विस्तरत:**	= खोल कर
भूत-सर्गौ	= प्राणियों के स्वभाव	**प्रोक्त:**	= कह दिया (अब)
द्वौ	= दो प्रकार के	**आसुरम्**	= असुरों का स्वभाव
(मतौ)	= माने गए हैं (एक तो)	**मे**	= मुझसे
दैव:	= देवताओं के गुण वाला	**श्रृणु**	= सुनो ।
च	= और (दूसरा)		
आसुर:	= राक्षसों के स्वभाव जैसा (है) (उन में से)		

एषा दैवी संपदुक्ता 'अभयमित्यादिना' । आसुरीमाह -

'अभयम्' आदि श्लोकों से दैवी-संपदा का वर्णन किया गया । आसुरी संपदा का वर्णन करते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।७।।

आसुरा	=	राक्षस प्रकृति वाले	**न**	=	न तो
जनाः	=	मनुष्य (तो)	**शौचम्**	=	बाहर भीतर की शुद्धि है
प्रवृत्तिम्	=	पुण्य-कर्मों में प्रवृत्ति	**न**	=	नहीं
च	=	और	**आचारः**	=	उत्तम आचरण है
निवृत्तिम्	=	पाप-कार्यों से पीछा छुड़ाना	**च**	=	और
च	=	भी	**न**	=	नहीं
न	=	नहीं	**सत्यम्**	=	सच्च बोलने की आदत
विदुः	=	जानते हैं। (अतः)	**अपि**	=	ही
तेषु	=	उन में	**विद्यते**	=	होती है।

प्रवृत्तिः—कुत इदमुत्पन्नमिति । निवृत्तिः—क्व प्रलीयते इति ।।७।।

यह संसार कहां से प्रारम्भ हुआ—ऐसे विचारों को प्रवृत्ति कहते हैं। ससार का अन्त किसमें होता है—इसे निवृत्ति कहते हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतमकिंचित्कमहेतुकम् ।।८।।

ते	=	वे आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य,	**अनीश्वरम्**	=	बिना ईश्वर के,
आहुः	=	कहते हैं (कि)	**अपरस्पर-संभूतम्**	=	पारस्परिक मेल से उत्पन्न हुआ
जगत्	=	संसार	**अकिंचित्कम्**	=	कर्म-रहित (और)
अप्रतिष्ठम्	=	आश्रय से रहित,	**अहेतुकम्**	=	माया, प्रकृति, ईश्वर आदि कारण के बिना ही ठहरा है।
असत्यम्	=	कुकर्म का बुरा फल न देने वाला (तथा)			

न किंचित् दृष्टादन्यत् कार्यं विद्यते यत्रेति—अकिंचित्कम् ।।८।।

प्रत्यक्ष वस्तु के बिना, परोक्ष प्रभु जहां हो ही नहीं उसे अकिंचित्कम् कहते हैं।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽशुभाः ।।९।।

एताम्	=	ऐसे	**उग्र-कर्माणः**	=	भयंकर पापदायक कर्म करने वाले,
दृष्टिम्	=	(शुष्क) ज्ञान का	**अशुभाः**	=	कलंकित (मनुष्य)
अवष्टभ्य	=	सहारा लिए हुए	**जगतः**	=	जगत का अर्थात् अपना
नष्ट-आत्मनः	=	आत्म-अनुसंधान को खो बैठने वाले	**क्षयाय**	=	नाश करने के लिए ही
अल्प-बुद्धयाः	=	मंद बुद्धि से युक्त,	**प्रभवन्ति**	=	उत्पन्न होते हैं।

कामममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भलोभमदान्विताः ।
असदग्रहाश्रिता क्रूराः प्रचरन्त्यशुचिव्रताः ॥१०॥

दम्भ-लोक-मद-अन्विताः	=	पाखंड, लालच और अहंकार से युक्त बने हुए (नास्तिक व्यक्ति)	**असद्-ग्रह-आश्रिताः**	=	बेकार के सिद्धान्तों को मान कर के
			क्रूराः	=	अरोचक-भयानक कर्म करने वाले,
दुष्पूरम्	=	किसी प्रकार भी न होने वाली	**अशुचि-व्रताः**	=	भ्रष्ट आचरण करने में लगे हुए (संसार में)
कामम्	=	कामनाओं का	**प्रचरन्ति**	=	व्यर्थ ही घूमते रहते हैं।
आश्रित्य	=	सहारा लेकर,			

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

प्रलयान्ताम्	=	मरने तक रहने वाली	**काम-उपभोग-परमाः**	=	विषय भोगों को भोगने में लगे हुए
अपरिमेयाम्	=	अनन्त			
चिन्ताम्	=	चिन्ताओं-फिकरों को	**एतावद्**	=	इतना ही तो आनन्द है
उप-आश्रितः	=	अपने साथ लगाए रखने वाले	**इति**	=	ऐसा
च	=	और	**निश्चिताः**	=	मानने वाले हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थानन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

(ऐसे असुरों के समान स्वभाव वाले व्यक्ति)

आशा-पाश-शतैः	= आशा रूपी सैकड़ों झंझटों से	**काम-भोग-अर्थम्**	= विषयों को भोगने के लिए
बद्धाः	= बंधे हुए,	**अन्यायेन**	= अनीति से
काम-क्रोध-परायणाः	= काम तथा क्रोध करने में तत्पर,	**अर्थ-सञ्चयान्**	= धन को जुटाने की ही
		ईहन्ते	= चेष्टा करते हैं।

चिन्ता तेषां प्रलयान्ता—अविरतं संसृतिप्रलयाव्युपरमात्। एतावदिति-कामोपभोग एव परं कृत्यं, तन्नाशश्च परं क्रोधः। अत एवाह 'कामक्रोधपरायणः' इति ॥१२॥

निरन्तर जीने-मरने को न हटाने के कारण उन की (भोग भोगने की) चिन्ता मरने तक बनी रहती है। वे तो इतना ही विचारते हैं—कामनाओं को भोगना ही श्रेष्ठ कार्य है। अतः काम के उपभोग में विघ्न आने पर तीव्र क्रोध आ घेरता है। इसी लिए कहा कि वे काम और क्रोध में लगे हुए हैं।

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

मया	= मैं ने	**मे**	= मेरे पास
अद्य	= आज	**इदम्**	= यह (इतना)
इदम्	= यह धन तो	**धनम्**	= धन
लब्धम्	= प्राप्त किया है (और)	**अस्ति**	= है
इदम्	= (अब) इस	**पुनः**	= फिर
मनोरथम्	= अभिलाषा को	**अपि**	= और भी
प्राप्स्ये	= प्राप्त करूँगा (तथा)	**इदम्**	= यह (धन)
		भविष्यति	= मिलेगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

असौ	= यह	**अपि**	= भी
शत्रुः	= शत्रु	**अहम्**	= मैं
मया	= मैं ने	**हनिष्ये**	= मारूँगा।
हतः	= मारा है। (अब)	**अहम्**	= मैं
अपरान	= अन्य शत्रुओं को		

ईश्वरः	=	ऐश्वर्यवान्	**सिद्धः**	=	हर काम में सिद्ध-हस्त हूं।
च	=	और	**बलवान्**	=	शक्तिशाली हूं (और)
भोगी	=	भोगों को भोगने वाला हूं।	**सुखी**	=	सुखी हूं।
अहम्	=	मैं			

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

(अहम्) आढ्यः	=	मैं धनवान् (और)	**दास्यामि**	=	दान दूंगा,
अभिजनवान्	=	बड़े परिवार वाला	**मोदिष्ये**	=	हर्षित बनूंगा,
अस्मि	=	हूं।	**इति**	=	ऐसी (मनगढंत बातों के चक्कर में पड़कर)
कः	=	कौन	**(ते)**	=	(वे मूर्ख)
मया	=	मेरे	**अज्ञान-विमोहिताः**	=	अज्ञान से एकदम मोहित बने होते हैं।
सदृशः	=	बराबर का			
अन्यः	=	दूसरा			
अस्ति	=	है।			
यक्ष्ये	=	(मैं) यज्ञ करूंगा,			

अनेकचित्ता विभ्रान्ता मोहस्यैव वशं गताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति निरयेऽशुचौ ॥१६॥

(ऐसी बहिर्मख वृत्ति वाले व्यक्ति)

अनेक चित्त-विभ्रान्ताः	=	किसी भी निश्चय पर न टिकने से भ्रमित मन वाले,	**काम-भोगेषु**	=	विषय-भोगों में
मोहस्य-एव	=	मोह के ही	**प्रसक्ताः**	=	लगाव रखने वाले,
वशम्	=	चंगुल में	**अशुचौ**	=	अपवित्र (अवीचि आदि या जन्म-मरण रूपी)
गताः	=	फंसे हुए,	**नरके**	=	नरक में
			पतन्ति	=	जा गिरते हैं।

अनेकचित्ता इति—निश्चयाभावात् । अशुचौ निरये—अवीच्यादौ, जन्ममरणसंताने च ॥१६॥

(वे) अनेक मन वाले होते हैं क्योंकि उन्हें किसी भी सिद्धान्त पर दृढ़ निश्चय नहीं होता है। अपवित्र अवीचि आदि नरक में या जीने मरने के अनथक प्रवाह में जा गिरते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

ते	= वे	**नाम-यज्ञैः**	= नाम-मात्र के यज्ञों द्वारा या अपना नाम कमाने के लिए
आत्म-संभाविता:	= अपने आप को बड़ा मानने वाले		
स्तब्धा:	= घमण्डी व्यक्ति		
धन-मान-मद-अन्विता:	= धन और अभिमान के गर्व से युक्त बने हुए	**दम्भेन**	= पाखण्ड से
अविधि-पूर्वकम्	= शास्त्र की विधि से रहित	**यजन्ते**	= (व्यर्थ ही) यज्ञ करते हैं ।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकारम्	= अभिमान	**अभ्य-सूयका:**	= दूसरों की (निष्कारण) निन्दा करने वाले व्यक्ति
बलम्	= सामर्थ्य		
दर्पम्	= घमण्ड		
कामम्	= इच्छा	**आत्म-पर देहेषु**	= अपने और दूसरों के शरीरों में ठहरे हुए
च	= और		
क्रोधम्	= क्रोध आदि के	**माम्**	= मुझ(प्रभु) से ही
संश्रिता:	= वश में हुए (तथा)	**प्रद्विषन्तः**	= विरोध करते हैं ।

यज्ञैर्यजन्ते नाम निष्फलमित्यर्थः । **क्रोधेन** हि सर्व **नश्यतीत्यर्थः । यद्वा । नामयज्ञैः—संज्ञामात्रेणैव ये यज्ञास्तैः** । अथवा । नामार्थ—प्रसिद्धयर्थं **ये यज्ञाः; येन 'यज्ञयाज्ययम्'– इति व्यपदेशो जायते** । ते दम्भपूर्वका एव, ननु फलन्ति । **क्रोधादिरूषितत्वादेव लोकान्द्विषन्तो मामेव द्विषन्ति । अहं वासुदेवो हि सर्वावासः** ॥१८॥

(वे रजोगुणी प्रकृति रखने वाले जन) सिद्धि के लिए यज्ञ करते हैं—अत: उनका सभी कर्म, फल नही दे पाता । क्रोध से तो सभी सुकर्म नष्ट हो जाते हैं । वे नाम के लिए ही यज्ञ करते हैं—यज्ञ तो करते हैं पर उसमें उन्हें धन को खर्चने में संकोच होता है । अत: वह नाम-मात्र का यज्ञ होता है । अथवा 'नामयज्ञैः' का दूसरा अर्थ यों है—वे प्रसिद्धि—नाम कमाने के लिए यज्ञ रचाते हैं – जिस यज्ञ करने के बाद लोग यह कहें कि यह तो यज्ञों को करता ही रहता है । इस प्रकार की प्रसिद्धि जिस यज्ञ करने से उत्पन्न हो, वे सभी यज्ञ, कपटपूर्ण ही हैं । इसीलिए फल नहीं देते । क्रोध आदि(मानसिक विकारों) से आत्मा के ढके जाने के कारण, जो जन लोगों से द्वेष करते हैं वे तो मुझ से ही द्वेष करते हैं क्योंकि मैं ही तो सभी प्राणियों में रह रहा हूं ।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभास्वासुरीष्वेव योनिषु ॥१६॥

तान	= उन	**अहम्**	= मैं
द्विषतः	= मुझ से अर्थात् अपने आप से ही द्वेष रखने वाले	**अशुभासु**	= अपवित्र
		आसुरीषु	= राक्षसों की
		एव	= ही
क्रूरान्	= भयंकर कार्य करने वाले	**योनिषु**	= योनियों में
नर-अधमान्	= मनुष्यों में अधम व्यक्तियों को	**अजस्रम्**	= बार-बार
		क्षिपामि	= जन्म देता हूं ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

कौन्तेय	= हे अर्जुन !	**माम्**	= मुझे
मूढाः	= (ऐसे) ईश्वर को याद न करने वाले मूर्ख व्यक्ति	**अप्राप्य**	= न प्राप्त करके
		ततः	= उस से भी
		अधमम्	= नीची—जड़
जन्मनि-जन्मनि	= हर जन्म में	**गतिम्**	= गति को
आसुरीम्	= राक्षसों के	**एव**	= ही
योनिम्	= वंश में	**यान्ति**	= प्राप्त होते हैं (घोर नरकों में जाते हैं ।)
आपन्नाः	= पहुंच कर-जन्म लेकर		

आत्मनि च द्वेषवन्तः आत्मनो ह्यहितं निरयपातहेतुमाचरन्ति । **तांश्चाहं आसुरीष्वेव योनिषु क्षिपामि** ॥२०॥

अपने आत्मा से द्वाह करने वाले, अपना अपकार करते हुए नरक में जाने के योग्य आचरण करते हैं । उन्हीं को मैं असुरों की (नीच) योनियों में ही धकेलता हूं—जन्म देता हूँ ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम,	= भोगों की वासना,	**नाशनम्**	= नाश करने वाले हैं— अधोगति में ले जाने वाले हैं
क्रोध:	= क्रोध	**तस्मात्**	= अत:
तथा	= और	**एतत्**	= इन
लोभ:	= लालच	**त्रयम्**	= तीनों को
इदम्	= यह	**त्यजेत्**	= छोड़ना चाहिये अर्थात् इनकी लपट में नहीं आना चाहिये ।
त्रिविधम्	= तीन प्रकार के		
नरकस्य	= नरक के		
द्वारम्	= द्वार		
आत्मन:	= आत्मा का		

यत: कामादिकं त्रयं नरकस्यैव द्वारम्, तस्मादेतत्त्यजेत् ।।२१।।

क्योंकि काम आदि तीन वृत्तियां नरक ही के द्वार—कारण हैं अत: इन्हें—काम, क्रोध और लोभ को छोड़ना चाहिये अर्थात् इन्हें सीमा में रखकर भोगना चाहिये ।

एतैर्वियुक्त: कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नर: ।
आचरत्यात्मन: श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।२२।।

कौन्तेय	= हे अर्जुन !	**आत्मन:**	= अपने
एतै:	= इन	**श्रेय:**	= कल्याण का
त्रिभि:	= तीनों (काम, क्रोध और लोभ रूपी)	**आचरति**	= आचरण करता है,
तमो-द्वारै:	= नरक के अंधकार से पूर्ण द्वारों से	**तत:**	= ऐसा करने से
वियुक्त:	= छूटा हुआ	**पराम्**	= श्रेष्ठ
नर:	= व्यक्ति,	**गतिम्**	= गति को
		याति	= प्राप्त होता है ।

न चैतत् पुरुषवचनमित्यनादरणीयम्, अपितु अनादि शास्त्रमत्र प्रमाणम्—इत्युच्यते ।

इस प्रकार की (मूल्यवान्) बात, साधारण पुरुष-वचन न होने से अनादर करने योग्य नहीं है । अपितु अनादि प्राचीन शास्त्र ही इस कथन के प्रमाण हैं—यही कहते हैं ।

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत: ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।२३।।

यः	= जो व्यक्ति	सिद्धिम्	= सांसारिक सफलता को
शास्त्र-विधिम्	= शास्त्रों के नियमों को	अवाप्नोति	= प्राप्त करता है (और)
उत्सृज्य	= छोड़ करके	न	= नही
कामकारतः	= अपनी मनमानी से ही	पराम्-गतिम्	= पारमार्थिक गति (तथा)
वर्तते	= व्यवहार करता है	न	= नहीं
सः	= वह	सुखम्	= तात्त्विक सुख को
न	= न तो	(अवाप्नोति)	= प्राप्त करता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

तस्मात्	= इसलिए	ज्ञात्वा	= जानकर (तुम)
ते	= तुम्हें	शास्त्र-विधान-उक्तम्	= शास्त्र-विधि से निश्चित किए हुए
इह	= इस	कर्म	= कर्म
कार्य-अकार्य-व्यवस्थितौ	= कर्तव्य और अकर्तव्य के चुनाव करने में	कर्तुम्	= करने के लिए
शास्त्रम्	= शास्त्र (ही)	अर्हसि	= योग्य हो ।
प्रमाणम्	= निश्चायक हैं।		
(एवम्)	= ऐसा		

शास्त्रविधिं त्यजतः स्वमनीषयैव कार्याकार्यविचारं कुर्वतः प्रत्युत नरकपातः। तस्मादात्मबुद्ध्या कार्याकार्यव्यवस्थां मा कार्षीरिति तात्पर्यम् ॥२४॥

शास्त्र में कही गई विधि—रीति को छोड़कर जो जन, मनमाने रूप से ही कार्य—पुण्य और अकार्य—पाप का विचार करते हैं, (वे उन्नत दशा को प्राप्त करने के) उलट, नरक में ही अपना स्थान बनाते हैं। अतः अपनी (अल्प) बुद्धि से कार्य और अकार्य का अनुमान कभी मत करो। यह अभिप्राय है।

अत्र संग्रहश्लोकः

अबोधे स्वात्मबुद्धयैव कार्यं नैव विचारयेत् ।
किन्तु शास्त्रोक्तविधिना शास्त्रं बोधविवर्धनम् ॥१६॥

सार-श्लोक

अज्ञान दशा में, अपनी बुद्धि से (पुण्य और पाप रूप) कार्य का विचार कभी नहीं करना चाहिए। किन्तु शास्त्र में कही गई रीति के अनुसार ही कार्य करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रज्ञान ही, जीव की बुद्धि का विकास करता है।

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (दैवासुर-संपद्विभागयोगो नाम) षोडशोऽध्यायः ।।१६।।

श्रीमहामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त जी द्वारा रचित गीतार्थ-संग्रह का (दैवासुरसंपद्विभागयोग नाम का) सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।।१।।

अर्जुन बोला

कृष्ण	= हे कृष्ण !	**तेषाम्**	= उनको
ये	= जो व्यक्ति	**निष्ठा**	= स्थिति
शास्त्र-विधिम्	= शास्त्र की मर्यादा को	**तु**	= भला
उत्सृज्य	= छोड़कर	**का**	= क्या
श्रद्धया	= श्रद्धा	**सत्त्वम्**	= सात्त्विक है
अन्विताः	= पूर्वक	**आहो**	= या
वर्तन्ते	= (किन्तु) मनमाने रूप से व्यवहार करते हैं,	**रजः**	= राजसी है (या)
		तमः	= तामसी है

शास्त्रविधिमनालम्ब्य ये व्यवहारमाचरन्ति, तेषां का गतिरिति प्रश्नः ॥१॥

जो जन, शास्त्र की विधि का आश्रय न लेकर व्यवहार करते हैं, उनकी क्या गति होती है यह प्रश्न है।

तदत्रोत्तरं श्रद्धानुसारेण दीयते श्रीभगवता—

उसी पिछले प्रश्न का उत्तर भगवान् (अपनी-अपनी) श्रद्धा के अनुसार देते हैं—

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति ताः शृणु ॥२॥

भगवान बोले

देहिनाम्	=	शरीर-धारी मनुष्यों की	**राजसी**	=	रजोगुण रूप
			च	=	और
सा	=	वह (शास्त्रीय-संस्कारों के बिना)	**तामसी**	=	तमोगुण रूप
			इति	=	इस प्रकार
स्वभावजा	=	अपने स्वभाव से उत्पन्न हुई	**त्रिविधा**	=	तीन प्रकार की
			एव	=	ही
			भवति	=	होती है
श्रद्धा	=	श्रद्धा	**ताम्**	=	उनका (विवरण तुम)
सात्त्विकी	=	सत्तोगुण रूप	**मत्तः**	=	मुझ से
च	=	तथा	**शृणु**	=	सुनो।

तत्र चायमाशयः, शास्त्रं नाम किल पक्षपातारूषितबुद्धिपूर्वकत्वविहीनम्, तथा परामर्शदार्ढ्यरूपं बोधस्वातन्त्र्यादेव दृढपरामृष्टतया फलादिस्वभावम्, शुद्धविमर्शनिःष्यन्दवाक्तत्त्वपरमार्थपरब्रह्मस्वभावम्: स्वतन्त्रप्रसरतया आन्तराद्बोधस्वभावाद्बहिःप्रसरपर्यन्तम्, सुसूक्ष्मप्रणवादिरूपात् व्यवहारप्रसिद्धप्रवादपरम्परापर्यन्तम्। यदाह—

'तद्विदां च स्मृतिशीले।'

इति। तच्च स्वत एव हिताहितोपदेशाय कार्याकार्यविवेचकम्। यस्य स्वभावत एव सत्त्वातिरेकसुकुमारं हृदयं, तेनाचरितं शास्त्रितमेव। अन्यस्तु रजस्तमः कलुषीकृतः शास्त्रोक्तमप्याचरन्नाचरति—शास्त्रार्थस्य कात्स्न्येनाननुष्ठानात्। शास्त्रं हि सत्त्ववतामेव फलवदिति शास्त्रमेवाह—

'यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च शीलं च स तीर्थफलमश्नुते ॥'

इति, नान्योऽसंयतत्वात्। तस्माच्छास्त्रार्थः परित्यक्तकामक्रोधमोहेषु सफल इति तात्पर्यमस्याध्यायस्य, तदेवैतत्प्रतायते स्पष्टार्थत्वाच्च न विव्रियते। किन्तु केवलं पाठविप्रतिपत्तिनिवारणायैव लिख्यते ॥२॥

इस श्लोक का अभिप्राय यह है—वास्तव में शास्त्र, पक्षपात से रंजित बनी हुई बुद्धि-ज्ञान से विहीन होता है। विचारों को पक्का बनाता है। ज्ञान-स्वातन्त्र्य से ही अनथक परामर्श करने से पारमार्थिक फल-प्रदान करने वाला होता है। शुद्ध विमर्श से प्रसरित बनी हुई शास्त्र रूपी वाणी, सत्य होने से ईश्वर के स्वरूप से अभिन्न बनी हुई और निरर्गल रूप से व्याप्त होने के कारण, आन्तरिक ज्ञान से लेकर बाह्य जगत् तक फैला हुआ है। इतना ही नहीं अति सूक्ष्म प्रणव—ओंकार के रूप से व्यवहार में जो प्रसिद्ध आपसी बात-चीत है, उस परम्परा तक शास्त्र ही फैला हुआ है। कहा भी है—

'शास्त्रज्ञ पुरुषों का स्मरण और आचरण ही लोक-व्यवहार में प्रमाण है।'

ऐसे लक्षणों से युक्त शास्त्र, स्वयं ही हित तथा अहित को दिखाते हुए शुभ तथा अशुभ कार्य का विवेचन कराता है। जिस व्यक्ति का हृदय सत्तोगुण के बहुत मात्रा में होने से स्वभावतः सरल और कोमल बना हुआ हो, उसका आचरण शास्त्र-अनुकूल ही होता है। इसके उलट रजोगुण और तमोगुण के कारण मलिन अन्तःकरणों वाला व्यक्ति, यदि शास्त्रों के अनुसार ही आचरण करता हो तो भी वह शास्त्रों की आज्ञा का पालन तात्त्विक रूप से नहीं करता है, क्योंकि उसे शास्त्रों का अभिप्राय वास्तव में मालूम ही नहीं होता है। शास्त्र तो सत्त्व-गुण-संपन्न व्यक्तियों में ही सफलता प्रदान करता है। शास्त्र ही कहता है—

'जिस व्यक्ति ने अपने हाथ, पैर और मन पर काबू पाया हो और विद्या, तप तथा चरित्र पर भी जिन्होंने विजय प्राप्त की हो जो जन इन ऊपर कहे गए गुणों से युक्त होने पर भी अभिमान को स्थान न देते हों, वे ही शास्त्रों के यथार्थ फल को प्राप्त करते हैं।' इति।

अन्य व्यक्ति, अपनी इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण, शास्त्र के उपदेश रूपी फल को नहीं प्राप्त कर पाते। अतः काम, क्रोध और मोह को त्याग कर ही मनुष्य सफल मनोरथ बनता है। यही इस अध्याय का आशय है। इसी भाव को जतलाने के लिए इस अध्याय का प्रस्ताव रूप से वर्णन किया गया है। श्लोकों के स्पष्ट अर्थ का निर्णय विस्तार पूर्वक नहीं किया जायेगा। केवल पाठ भेद की अनुपलब्धि को हटाने के लिए ही श्लोक लिखे जाते हैं।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत !
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

भारत	= हे अर्जुन !	(अतः)	= इसलिए
सर्वस्य	= सभी मनुष्यों की	यः	= जो जन
श्रद्धा	= श्रद्धा	यत्	= जैसी
सत्त्व-अनुरूपा	= (अपने-अपने) स्वभाव के अनुसार	श्रद्धः	= श्रद्धा रखता है
भवति	= होती है।	सः	= वह (स्वयम्)
अयम्	= यह	एव	= भी
पुरुषः	= व्यक्ति	सः	= वैसी ही प्रकृति का है।
श्रद्धामयः	= श्रद्धा वाला है		

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
भूतप्रेतपिशाचांश्च यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विकाः	=	सत्त्व-गुण वाले व्यक्ति	**तामसाः**	=	तमोगुणी
देवान्	=	देवताओं को	**जनाः**	=	मनुष्य
यजन्ते	=	पूजते हैं।	**भूत**	=	भूतों,
राजसाः	=	रजोगुण की प्रवृत्ति वाले जन,	**प्रेत**	=	प्रेतों
यक्ष	=	यक्षों (और)	**च**	=	और
रक्षांसि	=	राक्षसों की पूजा करते हैं।	**पिशाचान्**	=	पिशाचों की
			यजन्ते	=	पूजा करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तपस्तप्यन्ति ये जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

ये	=	जो	**तप्यन्ति**	=	करते हैं(और जो)
जनाः	=	मनुष्य	**दम्भ-अहंकार-संयुक्ताः**	=	पाखंड तथा अहंकार से युक्त (तथा)
अशास्त्र-विहितम्	=	शास्त्र उपदेश से रहित (मनमाने रूप से)	**काम राग-बल-अन्विताः**	=	कामना, आसक्ति और शारीरिक बल के अभिमान वाले हैं ;
घोरम्	=	भयंकर			
तपः	=	तपस्या			

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतनम् ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

(ते)	=	वे	**एव**	=	ही
अचेतनम्	=	अविवेकी (अज्ञानी) होने के कारण	**कर्षयन्तः**	=	कष्ट देते हैं। (इस भांति वे शास्त्र-विरुद्ध आचरण करते हैं)
शरीरस्थम्	=	शरीर के रूप में ठहरे हुए			
भूत-ग्रामम्	=	पंचमहाभूतों के समुदाय को	**तान्**	=	ऐसे व्यक्ति को तो (तुम)
च	=	और	**आसुर**	=	राक्षसी
अन्तःशरीरस्थम्	=	शरीर के भीतर ठहरे हुए	**निश्चयान्**	=	स्वभाव वाला ही
मां	=	मुझ (प्रभु) को	**विद्धि**	=	जानो।

सत्त्वानुरूपा इत्यत्र सत्त्वशब्दः स्वभावपर्यायः। अयं पुरुषः—आत्मा, श्रद्धया अन्यव्यापारोपरिवर्तिन्या अवश्यं संबद्धः। स च तन्मय एव बोद्धव्यः। अचेतनम्-अविवेकित्वात्। मां च कर्षयन्तः—शास्त्रार्थाननुष्ठानात्। अतएव ते स्वबुद्धिविरचितां तपश्चर्यां कुर्वाणाः, **प्रत्युत तामसाः ॥६॥**

इस पद में सत्त्व, शब्द स्वभाव का वाचक है। पुरुष से जीवात्मा की ओर संकेत है। अन्य संसारिक भी व्यवहारों में स्थित श्रद्धाओं से निश्चित रूप से सम्बन्ध जुटाने के कारण यह पुरुष श्रद्धामय है, ऐसा समझना चाहिए। यह संसारी व्यक्ति, अविवेकी होने से **अचेतन**—जड के समान ज्ञान-हीन ही माना गया है। ऐसे व्यक्ति शास्त्रमर्यादा पर न चलने के कारण मुझे भी दुःख देते हैं। अतः अपनी परिमित बुद्धि के अनुसार तपस्या आदि कर्म करते हुए भी तमोगुणी ही कहलाते हैं।

आहारोऽपि सत्त्वादिभेदात् त्रिधा श्रद्धावत्। तथा **यज्ञतपोदानानि,—तदुच्यते—**

अपनी अपनी निष्ठा के अनुसार आहार भी सत्त्व आदि भेद से तीन प्रकार का है। इसी भांति यज्ञ, तपस्या, दान भी तीन प्रकार के हैं। यही कहते हैं—

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दान तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

आहारः	= भोजन	**तथा**	= वैसे ही
अपि	= भी	**यज्ञः**	= हवण,
तु	= तो	**तपः**	= तपस्या,
सर्वस्य	= सभों को (अपनी-अपनी रुचि के अनुसार)	**दानम्**	= दान (भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार किए जाते हैं)
त्रिविधः	= तीन प्रकार का	**तेषाम्**	= उनके
		इमम्	= इन
प्रियः	= भाता	**भेदम्**	= (आपसी) भेद को
भवति	= है।	**शृणु**	= (मुझ से) सुनो।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयुः	= आयु,	**रस्याः**	= रसीले,
सत्त्व	= बुद्धि,	**स्निग्धाः**	= चिकने (और)
बल	= शारीरिक बल,	**स्थिराः**	= ठोस
आरोग्य	= स्वस्थता (तथा)	**हृद्याः**	= मन को भाने वाले,
सुख	= रुचिकर, मधुरता से सन्ने हुए	**आहाराः**	= खाने के पदार्थ (तो)
प्रीति	= तृप्ति को	**सात्त्विकप्रियाः**	= सात्त्विक प्रकृति से युक्त व्यक्ति को भाते हैं।
विवर्धनाः	= देने वाले		

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः[1] ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

कटु	= कड़वे, तीखे,	विदाहिनः	= ज़बान को जलाने वाले,
अम्ल	= खट्टे,	दुःख-शोक-आमय-प्रदाः	= दुःख, शोक और रोगों को उत्पन्न करने वाले
लवण	= तेज़ नमक वाले,	आहाराः	= खाने के पदार्थ
अति उष्ण	= गरम गरम,	राजसस्य	= रजोगुण प्रकृति वालों को
तीक्ष्ण	= मिर्च आदि मसाले से चरपरे,	इष्टः	= अच्छे लगते हैं।
रूक्ष	= रूखे, रस-रहित,		

यातयामं गतरसं पूति[2] पर्युषितं[3] च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

यत्	= जो	उच्छिष्टम्	= भुक्तावशिष्ट—खाकर बचा हुआ
भोजनम्	= भोजन	च	= तथा
यातयामम्	= बासी,	अमेध्यम्	= अपवित्र
गत-रसम्	= रस-रहित, शुष्क,	अपि	= भी हो
च	= और	(तत्)	= वह भोजन
पर्युषितं	= उच्छिष्ट (जूठा),	तामस-प्रियम्	= तमोगुणी को भाता है।

यातयाममिति—याता यामा यस्य ॥१०॥

जिस आहार को बनाये हुए तीन पहर बीते हों उसे यातयाम कहते हैं।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमित्येव मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

---

१. रूक्षाः—स्नेहशून्याः प्रियङ्ग्वादयः ।

२. दुर्गन्धि ।

३. अतिक्रान्तरात्रिकम् ।

यः	= जो	**मनः**	= मन को
यज्ञः	= यज्ञ	**समाधाय**	= सिधा कर
विधि दृष्टः	= शास्त्र में कही हुई विधि से नियत किया हुआ है (तथा)	**अफल-आकांक्षिभिः**	= फल को न चाहने वाले (सात्त्विक पुरुषों द्वारा)
		इज्यते	= किया जाता है
यष्टव्यम्	= करना ही है	**सः**	= वह (यज्ञ तो)
इति एव	= इस प्रकार	**सात्त्विकः**	= सात्त्विक है।

मनः समाधाय — निश्चयेनानुसन्धाय ॥११॥

मन में विचार करके—दृढ़ विश्वास से मन को समझा कर।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यः।
इज्यते विद्धि तं यज्ञं राजसं चलमध्रुवम् ॥१२॥

यः	= जो यज्ञ	**तम्**	= उस
फलम्	= फल का	**यज्ञम्**	= यज्ञ को (तुम)
अभिसन्धाय	= ध्यान रखकर	**राजसम्**	= राजस
तु	= ही	**चलम्**	= (फल देने में) बाधा-युक्त
च	= और		
एव	= केवल	**(च)**	= और
दम्भार्थम्	= दिखावे के लिए	**अध्रुवम्**	= अस्थिर
अपि	= ही		
इज्यते	= किया जाता है,	**विद्धि**	= जानो।

दम्भार्थमपीति। दम्भो — लोको मामेवंविधं जानीयादिति ॥१२॥

लोग मुझे (यज्ञ करने वाला) इस प्रकार और इस भाव से प्रशंसा करेंगे— इस लक्ष्य को ध्यान में रख कर हवण आदि करना दम्भ कहलाता हैं।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

विधि-हीनम्	= बिना शास्त्र-विधि के	**श्रद्धा-विरहितम्**	= श्रद्धा के बिना (नाम कमाने के लिए ही किया गया)
असृष्ट-अन्नम्	= अन्न का दान किए बिना		
		यज्ञम्	= यज्ञ
मन्त्र-हीनम्	= मन्त्र पढ़े बिना	**तामसम्**	= तामस (यज्ञ)
अदक्षिणम्	= बिना दक्षिणा के (और)	**परिचक्षते**	= कहा जाता है।

विधिहीनमिति— शास्त्रोक्तक्रियाहीनम् । तदेवासृष्टान्नादिभिर्विशेषणैर्वितन्यते ।।१३।।

विधि से रहित—शास्त्र में कही गई क्रिया से रहित । उसी यज्ञ का 'अन्न-दान किए बिना' इत्यादि विशेषणों के द्वारा खोल कर निर्णय किया गया है ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।१४।।

देव	= देवता	**ब्रह्मचर्यम्**	= इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त करना
द्विज	= ब्राह्मण		
गुरुः	= गुरु-जन		
(च)	= और	**च**	= तथा
प्राज्ञ	= ज्ञानवानों का	**अहिंसा**	= मन, वाणि और कर्म से किसी को दु:ख न देना (ये)
पूजनम्	= आदर-सत्कार करना		
मुवशौ	= शरीर और मन की पवित्रता,		
आर्जवम्	= व्यवहार में सरलता किन्तु तथ्य सिद्धान्त के लिए पक्षपात से रहित होकर सत्य कहना	**शारीरम्**	= शरीर संबन्धि
		तप:	= तपस्या
		उच्यते	= कही जाती है ।

आर्जवम्—ऋजुता । (आगोप्यविषया धृष्टता) ।।१४।।

सरल-स्वभाव—व्यवहार में सीधे पन का होना । (किन्तु) युक्तियुक्त सिद्धान्त का पालन करने के लिए साहस का होना ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।१५।।

यत्	= अब जो	**स्वाध्याय-अभ्यसनम्**	= पारमार्थिक ग्रन्थों के पढ़ने का अभ्यास है
अनुद् वेगकरम्	= दु:ख न पहुंचाने वाला		
प्रिय-हितम्	= बोल में मीठा और अंत में हित करने वाला	**च एव**	= वह तो
		वाङ्मयम्	= वाणी की
सत्यम्	= यथार्थ	**तप:**	= तपस्या
वाक्यम्	= भाषण है		
च	= और (जो)	**उच्यते**	= कही जाती है ।

सत्यमिति। अस्यैव स्वरूपनिरूपणं प्रियहितम्—इत्यनेन क्रियते। प्रियं च तत्काले, हितं च कालान्तरे ईदृशं वाक्यं सत्यमित्युच्यते, नतु यथावृत्तकथनमात्रम् ॥१५॥

सत्य का ही निर्णय प्रिय और हित कारक —इन दो विशेषणों से किया गया है। जो (वाक्य) उस समय प्रिय हो और बाद में उसका परिणाम हितकारक हो ऐसा वाक्य सत्य कहलाता है। किन्तु यथार्थ भाषण को सत्य नहीं कह सकते। (उदाहरण के रूप में अन्धे को अन्धा कहना यथार्थ होने पर भी सत्य-भाषण नहीं है।)

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मनः	=	मन की	**भाव-संशुद्धिः**	=	हृदय की पवित्रता,
प्रसादः	=	निर्मलता,	**इति**	=	इस प्रकार
सौम्यत्वम्	=	अन्तःकरणों में शान्ति का होना,	**एतत्**	=	यह
मौनम्	=	भगवान् के अनुसन्धान में लगे रहने से व्यर्थ बातें न करना,	**मानसम्**	=	मन की
			तपः	=	तपस्या
आत्म-विनिग्रहः	=	मन का संयम (और)	**उच्यते**	=	कही जाती है।

भावः—आशयः, तस्य सम्यक् शुद्धिः भावसंशुद्धिः ॥१६॥

भाव—हृदय को कहते हैं। उस हृदय की पूर्ण शुद्धि को भाव-संशुद्धि कहते हैं।

श्रद्धया परयोपेतं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

तत्	=	वह	**श्रद्धया**	=	श्रद्धा
तपः	=	तप भी	**उपेतम्**	=	पूर्वक
त्रिविधम्	=	तीन प्रकार का है	**(यः)**	=	जो
अफल-अकांक्षिभिः	=	फल को न चाहने वाले	**तपः**	=	तपस्या
			(क्रियते)	=	की जाती है
युक्तैः	=	निष्कामी	**(सः)**	=	वह
नरैः	=	मनुष्यों के द्वारा	**सात्त्विकम्**	=	सात्त्विक
परया	=	परम	**परिचक्षते**	=	कही जाती है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

यत् च	=	अब जो	**क्रियते**	=	की जाती है
तपः	=	तपस्या	**तत्**	=	वह
सत्कार-मान	=	अपनी बढ़ाई, प्रतिष्ठा (और)	**अध्रुवम्**	=	अनिश्चित (और)
पूजा-अर्थम्	=	अपनी पूजा करने के लिए	**चलम्**	=	क्षणिक फल वाली
दम्भेन	=	केवल पाखण्ड से	**इह**	=	यहां (शास्त्रों में)
एव	=	ही	**राजसम्**	=	रजोगुणी तपस्या
			प्रोक्तम्	=	कही गई है ।

मूढग्रहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

यत्	=	जो	**वा**	=	या
तपः	=	तपस्या	**परस्य-उत्सादन् अर्थम्**	=	दूसरे को उजाड़ने के लिए
मूढ ग्रहेण	=	मूढता को लेकर हठ-पूर्वक,	**क्रियते**	=	की जाती है,
आत्मनः	=	मन, वाणी और शरीर को	**तत्**	=	वह
पीडया	=	दुःख देकर	**तामसम्**	=	तमोगुणी (तपस्या)
			उदाहृतम्	=	कही जाती है ।

त्रिविधेऽपि तपसि श्रद्धा । सात्त्विकस्य हि तन्मयी एव श्रद्धा । राजसस्य तु रजसि—दम्भादावेव श्रद्धा । तमोनिष्ठस्य पुनः परोत्सादनादावेव श्रद्धा । इति त्रिविधमपि तपः श्रद्धयोपेतं मुनिराह ॥१९॥

तीन प्रकार की तपस्या में भी अपने-अपने प्रकार की श्रद्धा होती है । सात्त्विक प्रकृति वाले को सत्त्वगुणमय ही श्रद्धा होती है। रजोगुणी को रजोगुण—पाखंड आदि करने में ही श्रद्धा होती है। तमोगुण में लगे रहने वाले को दूसरे को उजाड़ने में ही श्रद्धा—तत्परता होती है । इसी अभिप्राय से व्यास मुनि ने कहा कि तीनों प्रकार की तपस्या (अपने लक्ष्य पर) श्रद्धा से युक्त होती है ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दातव्यम्	=	दान देना ही चाहिये	**पात्रे**	=	उचित दान लेने वाले के मिलने पर
इति	=	ऐसी भावना से	**अन्-उपकारिणे**	=	प्रत्युपकार की भावना न रख कर
यत्	=	जो	**दीयते**	=	दिया जाता है
च	=	भी	**तत्**	=	वह
दानम्	=	दान	**दानम्**	=	दान (तो)
देशे	=	उचित देश,	**सात्त्विकम्**	=	सात्त्विक
काले	=	उचित समय	**स्मृतम्**	=	कहा गया है ।
च	=	और			

दातव्यमिति— दद्यादिति नियोगमात्रं पालनीयमिति ॥२०॥

दान देना मेरा कर्त्तव्य है—दान देना चाहिए—इस प्रकार शास्त्र में कहे गये नियोग—आज्ञा का ही पालन करना चाहिए ।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमिति स्मृतम् ॥२१॥

यत् तु	=	अब जो दान	**फलम्-उद्दिश्य**	=	फल-प्राप्ति की भावना को लेकर
परि-क्लिष्टम्	=	खीझ कर (कम मात्रा में	**पुनः**	=	फिर कहीं जाकर (मन को ननवा कर)
च	=	और	**दीयते**	=	दिया जाता है
प्रति-उपकार अर्थम्	=	उपकार को अपना स्वार्थ-सिद्ध करने के प्रयोजन से	**तत्**	=	वह
			इति	=	ऐसा दान
			राजसम्	=	राजस
वा	=	अथवा	**स्मृतम्**	=	कहा गया है ।

दोषाभिसन्धानाय परिक्लिष्टं—मितादिदोषात् ॥२१॥

(दान लेने वाले में) दोषों की जांच-पड़ताल करने के बाद जो दान बहुत खेद पूर्वक और अल्प मात्रा में दिया जाये उसे राजस दान कहते हैं ।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

च	=	और	**अदेश-काले**	=	अयोग्य देश-काल में
यत्	=	जो	**अपात्रेभ्यः**	=	कुपात्रों पाखंडियों को
दानम्	=	दान	**दीयते**	=	दिया जाता है
असत्कृतम्	=	बिना सत्कार के	**तत्**	=	वह (दान)
वा	=	या	**तामसम्**	=	तामस
अवज्ञातम्	=	निरादर पूर्वक	**उदाहृतम्**	=	कहा गया है ।

दानस्य चासत्करणं तत्संप्रदानाद्यसत्करणात् । एवं लौकिकानां सात्त्विकादित्रिप्रकाराशयानुसारेण क्रिया व्याख्याता ।।२२।।

दान का असत्कार करना—इस अभिप्राय से कहा है कि वह तामस प्रकृति वाला व्यक्ति उस दान करने की ही निन्दा करता है । इस प्रकार सांसारिक जनों की दृष्टि से सत्त्वी आदि तीन गुणों वाले मनुष्यों के आशयों—हृदयों के अनुसार (ही) उनकी क्रिया की भ व्याख्या की गई ।

इदानीं ये गुणत्रितयसंकटोत्तीर्णधियस्ते क्रियां कथमाचरन्तीति तादृक् प्रकार उच्यते—

जो अब तीन गुणों की आपत्ति—झंझट से पार हो जाते हैं, वे काम कैसे निभाते हैं, उनके व्यवहार का ढंग कहते हैं—

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।२३।।

ओम्	=	ओम्	**तेन**	=	उसी से
तत्	=	तत्	**पुरा**	=	सृष्टि के प्रारम्भ में
सत्	=	सत्	**ब्राह्मणाः**	=	ब्राह्मण
इति	=	ऐसा (यह)	**च**	=	और
त्रिविधः	=	तीनों रूपों वाला	**वेदाः**	=	वेद
ब्राह्मणः	=	पर-ब्रह्म का	**च**	=	तथा
निर्देशः	=	नाम	**यज्ञाः**	=	यज्ञ (आदि)
स्मृतः	=	कहा	**विहिताः**	=	रचे गये हैं ।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप: क्रिया: ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ता: सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

तस्मात्	= अत:	**यज्ञ-दान-तप:-क्रिया**	= यज्ञ, दान और तप रूप क्रियायें,
ब्रह्म वादिनाम्	= वेद का बखान करने वाले	**सततम्**	= सदा
		ओम्	= ओम्
विधान उक्ता:	= शास्त्र का निर्माण करने वाले (श्रेष्ठ व्यक्तियों की)	**इति**	= इस प्रकार
		उदाहृत्य	= उच्चारण करके ही
		प्रवर्तंते	= प्रारम्भ की जाती हैं ।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतप:क्रिया: ।
दानक्रियाश्च विविधा: क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभि: ॥२५॥

तत्	= तत् नाम से कहे जाने वाले प्रभु का ही यह सभी विस्तार है,	**यज्ञ-तप:-क्रिया:**	= यज्ञ तप रूप क्रियायें
		च	= तथा
इति	= ऐसी भावना से	**दान-क्रिया**	= दान रूप क्रियायें
फलम्	= फल को	**मोक्ष-कांक्षिभि:**	= मोक्ष को चाहने वाले साधक,
अन-अभिसंहाय	= न चाह कर		
विविधा:	= नाना प्रकार की	**क्रियन्ते**	= करते हैं ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द: पार्थ गीयते ॥२६॥

पार्थ	= हे अर्जुन !	**प्रयुज्यते**	= प्रयुक्त किया जाता है ।
सत्	= सत्	**तथा**	= और
इति	= ऐसा	**प्रशस्ते**	= पुण्य
एतत्	= यह (परमात्मा का नाम)	**कर्मणि**	= कामों में (भी)
		सत्	= सत्
सत्-भावे	= सत्य भाव में (और)	**शब्द:**	= शब्द
साधु-भावे	= श्रेष्ठ भाव में	**गीयते**	= लागू होता है ।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।

च	= और	**इति**	= ऐसे
यज्ञे	= हवन	**उच्यते**	= कही जाती है
तपसि	= तपस्या	**च**	= और
च	= तथा	**तद्-अर्थीयम्**	= उस परमात्मा के निमित्त किया हुआ
दाने	= दान में	**कर्म**	= कर्म,
(या)	= जो	**एव**	= निश्चय रूप से
स्थितिः	= स्थिति है	**सत्**	= सत् है
(सा)	= वह	**इति**	= ऐसे
एव	= भी	**अभिधीयते**	= कहा जाता है।
सत्	= सत् है		

ओं-तत्-सत्-इत्येभिस्त्रिभिः शब्दैर्ब्रह्मणो निर्देशः—संमुखीकरणम्। तत्र ओम्—इत्यनेन शास्त्रार्थोऽयमादेहसंबन्धमूरीकार्य इति सूच्यते। तत्—इति सर्वनामपदेन सामान्यमात्राभिधायिना विशेषपरामर्शमात्रासमर्थेन फलानभिसंधानं ब्रह्मणमुच्यते; अभिसंधानस्य विशेषपरिग्रहमन्तरेणाभावात्, सकलविशेषानुग्राहित्वेऽपि सकलफलसंधाने सर्वकर्तृतायामपि विशिष्टफलायोगात्। सत्—इत्यमुया श्रुत्या प्रशंसाभिधीयते। क्रियमाणमपीदं यज्ञादिकं, दुष्टमिति बुद्धया क्रियमाणं तामसतामेति। विशिष्टफलाभिधानेय च क्रियमाणं न च सत्, बन्धाधायकमेवेति। तस्मात् 'कर्तव्यमिदम्'—इति मन्वाना यज्ञादि कुर्वाणा अपि न बध्यन्ते। अनेनैवाभिप्रायेणादिपर्वण्युक्तं—

'तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः
स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्क—
स्तान्येव भावोपहातानि कल्कः।। (महा० भा०)

इति। कल्कः - बन्धकः। स्वाभाविक इति 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गं वेदादि अध्येतव्यम्'—इति। प्रसह्य-शास्त्रलोकप्रसिद्धोचितया चेष्टया। भावेन-सत्त्वादिगुणत्रययोगिना चित्तेन उपहतान्येतान्येव बन्धकानि, नान्यथेति तात्पर्यम्। अतो यज्ञादि यावच्छरीरभावितया कार्यमेव। तदर्थे (तदर्थं) विहितं कर्म—अर्जनादि। यदि वा—ओम्—इत्यनेन समुपशान्तसमस्तप्रपञ्चं। तत्—इत्यनेनोद्भिद्यमानविश्वतरङ्गपरामर्शमात्रात्मकेच्छास्वातन्त्र्यस्वभावम्।

सत्—इत्यनेनेच्छास्वातन्त्र्यभरविजृम्भमाणभेदकम्, पूर्णत्वेऽपि तावच्चित्रस्वभावतया भवनमिति प्रतिपाद्यते। तथा चोक्तं 'सद्भावे साधुभावे च' इति। तेन परमं प्रशान्तं रूपं पुरस्कृत्य दित्सा—यियक्षा—तितप्सात्मकेच्छातरङ्गसंगतं च मध्येकृत्य दानयज्ञतपः क्रियाकारककलाप-परिपूर्णं यच्चरमं वपुरिदमुल्लसितम्, एतत्खलु समं त्रितयमनर्गलस्य स्वाभाविकं रूपम्, इति कस्य किं कथं कुतः क्व केन फलं स्यादिति ॥२७॥

ओम्-तत्-सत्—इन तीन शब्दों से परब्रह्म परमात्मा का निर्देश किया गया है। उन का स्वरूप (नेत्रों के) सामने रखा जाता है। उन तीन शब्दों में से ओम् शब्द, यह सूचित करता है कि सभी शास्त्रों का अर्थ, देह के व्यावहारिक सम्बन्ध तक स्वीकृत करना चाहिए। किसी विशेष परामर्श को न जतलाने वाले, सामान्य परामर्श के वाचक तत्—इस सर्वनाम पद से यह जतलाया जाता है कि ईश्वर के स्वरूप में ठहर कर किसी भी फल-विशेषज्ञ का प्रयोजन नहीं रखना चाहिए। क्योंकि तत्- इस शब्द से किसी विशेष पदार्थ का बोध न होकर सामान्य रूप (परमेश्वर) का ही बोध होता है। अतः यह तत् शब्द ब्रह्म को ही जत-लाता है। किसी पदार्थ विशेष के बिना सामान्य रूप से अनुसन्धान करना कोई भी अर्थ नहीं रखता है। सभी विशेष पदार्थों को ग्रहण करने पर सभी फलों का अनुसन्धान करने के कारण सर्वकर्तृता के सिद्ध होने पर भी किसी विशेष फल की आकांक्षा नहीं रहती।

सत् शब्द से ऊपर वर्णित विषय की प्रशंसा की जाती है। इसलिए यज्ञ करने पर भी दुष्ट बुद्धि (यह यज्ञ मैंने व्यर्थ ही किया या ओम का अनुसन्धान न रखना) का आश्रय लेकर वह किया गया यज्ञ तामस यज्ञ ही कहलाता है। इतना ही नहीं किसी विशेष सांसारिक फल की प्राप्ति के लिए किया गया वह यज्ञ सत तो है ही नहीं, अपितु बन्धन को देने वाला ही है। इस कारण यह यज्ञ करना ही चाहिए'—इस रीति से मानने वाले, यज्ञ आदि कर्मों को करते हुए भी बन्धनों से छूट जाते हैं। इसी अभिप्राय से महाभारत के आदि पर्व में भी कहा है—

'तपस्या करना पाप नहीं है। न वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन करना पाप है। न स्वाभाविक रूप से वेद-विधि का अनुष्ठान करना पाप है और न हठपूर्वक धन का किसी से छीनना ही पाप है। किन्तु ये सभी कर्म तभी पाप बनते हैं जब अन्तःकरणों में अभिमानात्मक मल से दूषित किये जायें।'

इस श्लोक में कल्क का अर्थ पाप न होकर 'बन्धक' मानना चाहिए। 'बिना किसी फल के प्रयोजन से ब्राह्मण को षडङ्गों सहित वेद आदि पढ़ने चाहियें'—प्रायः इस प्रकार के नियोगों—आज्ञाओं को स्वाभाविक वेद-विधि कहते हैं। हठ-पूर्वक—शास्त्र के द्वारा तथा लोक-प्रसिद्धि उचित चेष्टाओं के आधार पर धन का अपहरण करना बरजोरी वित्त-अपहरण कहलाता है। भाव से—सत्त्व आदि तीन गुणों के मिलाप से अशुद्ध बने हुए चित्त के द्वारा किये गये ही ये तपस्या—आदि कर्म, बन्धन बनते हैं। नहीं तो ये कर्म बन्धन क्यों बनेंगे? यह

तात्पर्य है। अतः जब तक शरीर है तब तक यज्ञ आदि कर्म करने ही चाहियें। इन यज्ञ आदि (शुभ) कर्मों के लिए (शास्त्रों के अनुसार) धन भी कमाना चाहिये।

नहीं तो दूसरा अर्थ इस श्लोक का यों हो सकता है—ओम्—इस शब्द से वह अवस्था सूचित की जाती है, जहां सभी सांसारिक भेद-कलनायें एकदम शांत हो जाती हैं।

तत् शब्द से ऊपर वर्णित ओम् शब्द से प्रतिपादित शान्त अवस्था के बाद जगत् को बनाने में इच्छात्मक स्वातन्त्र्य की ओर संकेत किया है। अतः तत् शब्द से परम-प्रशान्त रूप अवस्था की वह दूसरी अवस्था सूचित की गई है जिस में जगत् बनाने की केवल इच्छा शक्ति ही रहती है और जगत्, शान्ति-रूप में ही ठहरता है। सत् – इस शब्द से इच्छा शक्ति के प्रबल स्वातन्त्र्य से विकसित भेद-प्रथा की ओर संकेत है। यद्यपि ये तीनों अवस्थायें जगत् से पूर्ण ही हैं तथापि सत् – शब्द से प्रतिपादित अवस्था में ही अनेक रूप से जगत् का आभास होता है। इसी लिए कहा है—सद्भाव और साधुभाव में सत् शब्द प्रयुक्त हुआ है।

भाव यह है—पहिले परम प्रशान्त रूप को दृष्टि में रख कर [जिस से ओम् शब्द की सूचना मिलती है] उसके बाद दित्सा—दान देने की इच्छा, यियक्षा·· यज्ञ करने की इच्छा ये तीन अवस्थाएँ मध्य में ठहरा कर [जिस से तत् शब्द की अवस्था देखी जाती है] उसके बाद दान, यज्ञ और तपस्या रूप क्रियाओं की सामग्रियों के समुदाय से पूर्ण बना हुआ जो अन्तिम स्वरूप विकास में आया है [जिससे कि सत् शब्द की सूचना मिलती है] सत्यतः ये ही तीन अवस्थायें [ओम्-तत् और सत् - प्रत्येक कार्य में पहिले निर्विकल्प अवस्था, उसके बाद कार्य के करने की इच्छा और अन्त में कार्य-तत्परता] स्वातन्त्र्यमय भगवान् का स्वाभाविक स्वरूप है। अतः ऐसी भावना करने वाले को कैसे, क्या, किस भांति किस से, कहां और क्यों कर सांसारिक पुण्य और पाप रूप फल की प्राप्ति हो सकती है।

इदानीमश्रद्धावतः तामसं कर्म सर्वथैव निष्फलम्—कारककलापसंयोजनसमुपजनित-प्रयासमात्रफलमेव, इति सर्वथा अश्रद्धावता न भाव्यमित्युच्यते—

इस विषय में तो श्रद्धा न रखने वाले का तमोमय (यज्ञ, तप, दान आदि) कर्म, एकदम निष्फल है। वह तामस कर्म, यज्ञ सम्बन्धी सामग्रियों को जुटाने से उत्पन्न केवल-मात्र श्रम को ही देने वाला है। अतः कभी भी श्रद्धा से रहित अश्रद्धावान् नहीं बनना चाहिए। यही उपदेश करते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

पार्थ	= हे अर्जुन !	**कृतम्**	= किया हुआ कर्म है
अश्रद्धया	= बिना श्रद्धा के	**तत्**	= वह (सभी)
		असत्	= निष्फल बनता है
हुतम्	= होमा हुआ यज्ञ (तथा)	**इति**	= ऐसे
		उच्यते	= कहा जाता है। (अत:)
दत्तम्	= दिया हुआ दान	**तत्**	= वह
तप्तम्	= तपा हुआ	**नो**	= न तो
		इह	= इस लोक में
तप:	= तप	**च**	= और
च	= और	**प्रेत्य**	= मरने के बाद परलोक में (ही लाभदायक होता है।)
यत्	= जो भी कुछ	**न**	= नहीं

असदिति—अप्रशस्तम्। तस्मात्प्रशस्ते कर्मणि यतमानानां सुखेनैव भवति शिवमिति शिवम् ।।२८।।

असत् अप्रशंसनीय भेद-प्रथात्मक कर्म को कहते हैं। अत: श्रेष्ठ-उत्तम कर्म में ही यत्न करने वालों को सहज में ही परम-कल्याण प्राप्त होता है। इति शिवम् ।।२८।।

अत्र संग्रह श्लोक:

स एव कारकावेश: क्रिया सैवाविशेषिणी।
तथापि विज्ञानवतां मोक्षार्थे पर्यवस्यति ।।१७।।

सार श्लोक

(यद्यपि) ज्ञानी और सांसारिक व्यक्तियों को कर्मों के प्रति अनुरक्ति एक समान ही होती है और क्रियाओं में भी कोई अन्तर नहीं होता किन्तु फिर भी ज्ञानवानों के लिए वह कर्म, मोक्ष ही दिलाता है।

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे (श्रद्धात्रयविभागयोगोनाम) सप्तदशोऽध्याय: ।।१७।।

श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रचित गीतार्थ-संग्रह की (श्रद्धात्रयविभागयोग नाम की) सत्तारहवीं अध्याय समाप्त हुई।

अथ

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।।१।।

अर्जुन बोला

महाबाहो	= हे बड़ी भुजाओं वाले !	**त्यागस्य**	= त्याग के
हृषीकेश	= इन्द्रियों के ईश्वर !	**तत्त्वम्**	= स्वरूप का लक्षण
केशि-निषूदन	= केशि नामक राक्षस को मारने वाले कृष्ण ! (मैं)	**पृथक्**	= एक एक करके (अलग-अलग)
संन्यासस्य	= संन्यास	**वेदितुम्**	= जानना
च	= और	**इच्छामि**	= चाहता हूं ।

पूर्वमुक्तं 'स त्यागी स च बुद्धिमान्' इति । तथा 'स संन्यासी च योगी च न निरग्निः', इत्यादि । अतस्त्यागिसंन्यासिनोर्द्वयोः श्रवणात् विशेषजिज्ञासोरयं प्रश्नः ।।१।।

पहिले कहा गया है कि 'वही त्यागी है और वही बुद्धिमान् है' । फिर कहा 'वही संन्यासी और योगी भी है । अग्नि को न तपाने वाला 'संन्यासी नहीं है । अतः त्यागी और संन्यासी—इन दोनों का लक्षण सुनने पर इन दोनों का अन्तर जानने की इच्छा रखने वाले अर्जुन का यह प्रश्न है ।

अत्रोत्तरं—

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् देते हैं—

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।२।।

भगवान् बोले

कवय:	= ज्ञानवान् जन
काम्यानाम्	= अग्निष्टोम आदि सकाम
कर्मणाम्	= कर्मों के
न्यासम्	= त्याग को
संन्यासम्	= संन्यास (करना)
विदु:	= जानते हैं
च	= और (दूसरे)
विचक्षणा:	= विचारवान् व्यक्ति
सर्व-कर्म फल-त्यागम्	= सभी कर्मों के फल के त्याग को
त्यागम्	= त्याग करना
प्राहु:	= कहते हैं।

काम्यानि—अग्निष्टोमादीनि । सर्वकर्मेति । सर्वेषां—नित्यनैमित्तिककर्मणां क्रियमाणत्वेऽपि फलत्यागस्त्याग: । अत्र चाध्याये यदवशिष्टं वक्तव्यमस्ति, तत्प्राक्तनैरेव तत्रभवद्भट्टभास्करादिभिर्विततय विमृष्टमिति किमस्माकं तद्गूढार्थप्रकाशनमात्रप्रतिज्ञानिर्वाहण-साराणां पुनरुक्तप्रदर्शनप्रयासेन ।।२।।

अग्निष्टोम इत्यादि सकाम कर्मों को काम्य कर्म कहते हैं। 'सर्वकर्म'—सभी नित्य कर्मों और नैमित्तिक (हवन आदि) कर्मों के करने पर भी (उनके) फल का त्याग करना ही (वास्तविक) त्याग है। इस अध्याय में भी जो कुछ कहना शेष रहता है, उस विषय को तो आदरणीय भट्ट भास्कर आदि प्राचीन आचार्यों ने खोल कर विमर्श किया है। अत: फिर से दोहरायेंगे जब कि हम पहिले ही प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि हम केवल गीता के रहस्य—अर्थ पर ही प्रकाश डालेंगे।

तदत्रैव विशेषनिर्णयाय मतान्युपन्यस्यति—

इस लिये यहां, त्याग का विशेष रूप से निर्णय करने के लिये भिन्न-भिन्न मतों के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिण: ।
यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।३।।

एके	= कई एक
मनीषिण:	= मननशील ज्ञानी
इति	= ऐसा
प्राहु:	= कहते हैं (कि)
कर्म	= (सभी) कार्य हिंसा से युक्त होने के कारण
दोषवत्	= दोष से भरे हैं (अत:)
त्याज्यम्	= छोड़ने चाहियें
च	= और
अपरे	= अन्य विद्वान्
इति	= ऐसा
(आहु:)	= कहते हैं (कि)
यज्ञ-दान-तप-कर्म	= यज्ञ, दान और तपस्या रूप कर्म
त्याज्यम्	= त्यागने
न	= नहीं चाहिएं।

दोषवत्—हिंसादिमत्त्वात्पापयुक्तम् । तत्कर्म त्याज्यं (न सर्वं शुभफलम्);—इति केचित्त्यागे विशेषं मन्यन्ते सांख्यगृह्या इव । अन्ये तु - मीमांसाकञ्चुकानुप्रविष्टा 'क्रत्वर्थो हि शास्त्रादवगम्यते' इति । तथा 'तस्माद्या वैदिकी हिंसा ......।' इत्यादिनयेनेति-कर्तव्यतांशभागिनी (हिंसा) हिंसैव न भवति, 'न हिंस्यात्' इति सामान्यशास्त्रस्य तत्र बाधनात् । श्येनाद्येव तु हिंसा ।

'फलांशे भावनायाश्च प्रत्ययोऽनुविधायकः(श्लो० वा०)

इत्यन्यान् यज्ञादीन् हिंसादियोगिनोऽपि न त्यजेत् । शास्त्रैकशरणकार्याकार्यविभागाः पण्डिता इति मन्यन्ते ।।३।।

कई ज्ञानवान् कहते हैं कि कई ऐसे कर्म हैं जो हिंसात्मक पाप-कर्मों से युक्त होते हैं अतः वे कर्म, अनिष्ट को देने वाले हैं । उन कर्मों को नहीं करना चाहिये । किन्तु सभी शुभ फलों को देने वाले कर्म छोड़ने नहीं चाहियें । इस भांति कई जन त्याग में विशेषता दिखाते हैं । ऐसे त्याग को सांख्य मतवादी (और न्यायवादी) मानते हैं । अन्य कई जन छान बीन करने के कवच में प्रविष्ट होकर यह मानते हैं कि 'क्रतु नाम वाले यज्ञ का तात्पर्य शास्त्र के द्वारा ही जाना जाता है और इसीलिए 'जो वेदों में कही गई हिंसा है, वह हिंसा कर्तव्य मान कर हिंसा नहीं कहलाती है । क्योंकि यज्ञ आदि कर्मो में हिंसात्मक कर्म को सिद्ध बनाने वाली यह विशेष विधि—हिंसा नहीं करनी चाहिये—इस सामान्य विधि का खण्डन करती है । वास्तव में जन्त्र-मन्त्र करना ही हिंसा है ।

'भावना की जो अनुभूति ज्ञान है उसके अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है । या यों कहें—प्रत्येक कार्य का फल भावना के अनुसार ही मिलता है ।

इस प्रकार यज्ञ आदि कर्म, यदि हिंसा से संबन्धित भी हों, फिर भी त्यागने नहीं चाहियें । (क्योंकि शास्त्र के अनुसार यज्ञ में की गई हिंसा का फल स्वर्ग-प्राप्ति ही है) शास्त्र ही जिनका आश्रय-स्थान है, ऐसे कार्य और अकार्य के विभाग को जानने वाले पंडित लोग ऐसा मानते हैं ।

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।।४।।

भरत-सत्तम = हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन !
तत्र = उस
त्यागे = त्याग के विषय में (तुम)
मे = मेरा
निश्चयम् = सिद्धान्त
श्रृणु = सुनो ।
पुरुष-व्याघ्र = हे पुरुषों में शेर के समान बलवान् अर्जुन !

(सः) = वह
त्यागः = (राग-द्वेष-रहित) त्याग
हि = भी
त्रिविधः = तीन प्रकार का (सात्त्विक, राजस और तामस रूप से)
संप्रकीर्तितः = कहा गया है ।

यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान-तप: कर्म	= यज्ञ, दान और तपस्या रूप कर्म	**यज्ञ:**	= हवण
न त्याज्यम्	= छोड़ने नहीं चाहिएं	**दानम्**	= दान
तत्	= उनको	**च**	= और
एव	= तो	तप:	= तपस्या (ये तीनों कर्म)
कार्यम्	= करना ही चाहिये (क्योंकि)	**मनीषिणाम्**	= मननशील साधकों के अन्त:करणों को
		पावनानि	= पवित्र करते हैं ।

एतान्यपि च कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

पार्थ	= हे अर्जुन !	**त्यक्त्वा**	= छोड़कर (ही)
एतानि	= ये (यज्ञ, दान और तपस्या के)	**कर्तव्यानि**	= करने चाहियें ।
कर्माणि	= कर्म	**इति**	= ऐसा
अपि च	= भी	**निश्चितम्**	= निश्चित किया हुआ
सङ्गम्	= आसक्ति	**मे**	= मेरा
च	= और	**उत्तमम्**	= श्रेष्ठ
फलानि	= फल की भावना को	**मतम्**	= सिद्धान्त है ।

नियतस्य[1] च संन्यास: कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामस: परिकीर्तित: ॥७॥

नियतस्य	= श्रुति और स्मृति में विधान किए हुए नियत	**मोहात्**	= अज्ञान से
कर्मण:	= कर्मों का	**तस्य**	= उस नियत कर्म का
संन्यास:	= त्याग करना	**परित्याग:**	= न करना
उपपद्यते न	= युक्त नहीं है	**तामस:**	= तामस त्याग
च	= और	**परिकीर्तित:**	= कहा गया है ।

१. श्रुतिस्मृतिविहितस्य ।

दुःखमित्येव यः कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

यः	= जो	**त्यजेत्**	= न किया जाए
कर्म	= नियत कर्म	**सः**	= वह व्यक्ति
दुःखम्	= दुःख (समझ कर)	**राजसम्**	= राजस
एव	= ही	**त्यागम्**	= त्याग को
इति	= इस प्रकार	**कृत्वा**	= करके (भी)
काय	= शरीर को	**त्याग-फलम्**	= त्याग के फल को
क्लेश	= कष्ट लगने के	**न**	= नहीं
भयात्	= भय से	**लभेत्**	= प्राप्त करता है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

अर्जुनः	= हे अर्जुन !	**च**	= और
कार्यम्	= यह (यज्ञ, दान, तप रूप कार्य) करने ही चाहियें	**फलम्**	= फल की इच्छा को
		त्यक्त्वा	= छोड़ कर
		क्रियते	= किए जाते हैं
इति	= ऐसे समझ कर	**सः**	= वह
एव	= ही	**एव**	= तो
यत्	= जो		
नियतम्	= संध्या-वंदन आदि	**सात्त्विकः**	= सात्त्विक
कर्म	= कार्य	**त्यागः**	= त्याग
सङ्गम्	= आसक्ति (लगाव) को	**मतः**	= माना गयाहै।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जति ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

अकुशलम्	= अमङ्गल	**न अनुषज्जति**	= फूले नहीं समाता(ऐसा)
कर्म	= कर्म-फल के आने पर (जो)	**सत्व-समाविष्टः**	= सत्त्व-गुण-संपन्न साधक,
न द्वेष्ट्य	= विचलित नहीं होता	**छिन्न-संशयः**	= कटे हुए संशयों वाला
च	= और	**मेधावी**	= ज्ञानवान्
कुशले	= कल्याण-प्रद शुभ-कर्म-फल के आने पर जो	**त्यागी**	= त्यागी
		(अस्ति)	= है।

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

हि	= क्योंकि	अतः	= इसलिए
		यः	= जो (साधक)
देह-भृता	= देह-धारी जीव के द्वारा	कर्म-फल-त्यागी	= कर्मों के फल को त्याग दे
अशेषतः	= पूर्ण रूप से	सः	= वह
कर्माणि	= सभी कर्म	तु	= ही
		त्यागी	= त्यागी है ।
त्यक्तुम्	= त्यागे	इति	= ऐसे
न शक्यम्	= नहीं जा सकते हैं ।	अभिधीयते	= कहा जाता है ।

तत्र त्वयं निश्चयः—प्राग्लक्षितगुणस्वरूपवैचित्र्यात्त्यागस्यैव सत्त्वरजस्तमोमय्या चित्तवृत्त्या क्रियमाणस्य तद्विशिष्टस्वभावावभासिवस्तुस्थित्या त्यागो नाम—परब्रह्मविदां सिद्ध्यसिद्ध्यादिषु समतया रागद्वेषपरिहारेण फलप्रेप्साविरहेण कर्मणां निर्वर्तनम् । अत एवाह—'राजसं तामसं च त्यागं कृत्वा न कश्चित्फलसंबन्धः' इति । सात्त्विकस्य तु त्यागात् शास्त्रार्थपालनात्मकं फलम् । त्यक्तगुणग्रामग्रहस्य पुनर्मुनेः सत्यतस्त्यागवाचोयुक्तिरूपुपत्तिमती ॥११॥

उन पहिले कहे गए मतवादियों के सिद्धान्तों के प्रति हमारा विचार यह है—पूर्व वर्णित गुणों का स्वरूप-वैचित्र्य दृष्टि में रख कर सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त चित्त वृत्ति के द्वारा किये गये त्याग के गुण-विशिष्ट स्वरूप की वास्तविक स्थिति से सिद्धि असिद्धि में एक जैसा रह कर, राग-द्वेष तथा फल की अभिलाषा को छोड़ कर, जो ब्रह्म ज्ञानियों के द्वारा कर्मों का करना है, वही वास्तव में त्याग कहलाता है । इसी आशय से कहते हैं कि राजस अथवा तामस त्याग करने से कोई फल प्राप्ति नहीं होती । सात्त्विक पुरुष का त्याग तो शास्त्र-संबन्धी आज्ञाओं को पालना ही है या यों कहें—सात्त्विक पुरुष का त्याग शास्त्र संबन्धी विहित कर्मों का अनुष्ठान ही कहलाता है । पर जिस व्यक्ति ने सभी गुणों के समुदाय को दृढ़-निश्चय से त्यागा हो; ऐसे गुणातीत व्यक्ति के लिये ही त्याग का शब्द प्रयोग करना युक्तियुक्त और सार्थक है ।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य नतु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अत्यागिनाम्	= फल को चाहने वाले सकामी व्यक्तियों के	**प्रेत्य**	= मरने के बाद
कर्मणः	= कर्मों का	**भवति**	= मिलता है
इष्टम्	= अच्छा	**तु**	= किन्तु
अनिष्टम्	= बुरा	**संन्यासिनाम्**	= त्यागी पुरुषों के (कर्मों का फल)
च	= और		
मिश्रम्	= मिला हुआ	**क्वचित्**	= किसी रूप में भी
त्रिविधम्	= तीन प्रकार का		
फलम्	= फल	**न**	= नहीं होता।

अत्यागिनाम्—फलमयानाम् ॥१२॥

फल की कामना रखते हुए सकाम कर्म करने वालों को अत्यागी कहते हैं।

अधुना व्यवहारदशायामपि पञ्चस्वपि कर्महेतुषु बलादेवामी अविद्यान्धाः पुमांसः स्वात्मन्येव सकलकर्तृभावभारमारोपयन्ति। अतो निजयैव धियात्मानं बध्नन्ति, नतु वस्तुस्थित्या अस्य बन्धः—इत्युपदिश्यते—

कहां तक कहें इस व्यवहारदशा में भी कर्मों के करने में पांच (अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, पृथक् चेष्टा और दैव) कारणों के रहते हुए भी अविद्या से अन्धे बने हुए पुरुष अपने पर ही सभी कर्त्तापने का बोझ लादते हैं। अतः अपनी (परिमित) बुद्धि से अपने आत्मा को (कर्मों के जाल में) बांधते हैं। पर वास्तव में इस जीव को (कोई भी) बन्धन नहीं है। यही कहते हैं—

पञ्चेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

महाबाहो	= हे अर्जुन !	**सिद्धये**	= सिद्धि के लिए
इमानि	= ये	**सांख्ये**	= सांख्य—
पंच	= पांच (अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, पृथक् चेष्टा, दैव)	**कृतान्ते**	= सिद्धान्त में
		प्रोक्तानि	= कहे गए हैं
		(तानि)	= उन्हें तुम
कारणानि	= कारण	**मे**	= मुझ से
सर्व-कर्मणाम्	= सभी कार्यों की	**निबोध**	= भली प्रकार समझो।

कृतोऽन्तो निश्चयो यत्रेति कृतान्तः - सिद्धान्तः ॥१३॥

जहां अन्त-निश्चय किया जाता है उसे कृतान्त—सिद्धान्त कहते हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधा च पृथक्चेष्टा दैवमेवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अत्र	= इस विषय में	**पृथक्**	= भिन्न भिन्न
अधिष्ठानम्	= आधार (जिसके बल-भूते पर कर्म किए जायें) विषय	**चेष्टाः**	= चेष्टायें
		तथा	= वैसे
च	= तथा	एव	= ही
कर्त्ता	= काम करने वाला कर्ता	**पञ्चमम्**	= पांचवां
च	= और	**दैवम्**	= दैव (प्रारब्ध के अनु-अनुसार धर्म और अधर्म) कहा गया है।
पृथग्-विधम् करणम्	= अनेक प्रकार के करण		
विविधाः	= अनेक प्रकार की		

शरीरवाङ्मनोभिर्हि यत्कर्मारभतेऽर्जुन ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

अर्जुन	= हे अर्जुन।	**न्याय्यं**	= शास्त्र के अनुकूल हो
हि	= सत्य तो यह है कि	**वा**	= या
शरीर	= शरीर	**विपरीतम्**	= अपनी मन-मानी का हो
वाङ्	= वाणि (और)	**तस्य**	= उनके करने में
मनोभिः	= मन से	**एते**	= ये
यत्	= जो भी	**पञ्च**	= पांच (अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा और दैव)
कर्म	= काम		
आरभते	= किया जाता है (वह)	**हेतवः**	= कारण हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

तु	= किन्तु	**आत्मानम्**	= अपने ही आप को
एवम्	= ऐसा	**कर्तारम्**	= सभी कार्यों का करने वाला
सति	= होने पर भी	**पश्यति**	= देखता है
यः	= जो व्यक्ति	**सः**	= वह
अकृत-बुद्धित्वात्	= मलीन बुद्धि के होने से	**दुर्मतिः**	= बुरी बुद्धि वाला
तत्र	= उस विषय में	**न पश्यति**	= यथार्थ नही देखता है।
केवलम्	= केवल		

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

यस्य	= जिस व्यक्ति के (अन्तः करण में)	**सः**	= वह
अहंकृतः	= मैं ही कर्ता हूं (ऐसा)	**इमान्**	= इन
भावः	= विचार	**लोकान्**	= सभी लोकों को
न	= नहीं है (और)	**हत्वा**	= मार कर
यस्य	= जिसकी	**अपि**	= भी
बुद्धिः	= बुद्धि (व्यर्थ के कामों में)	**न**	= न तो (किसी को)
न लिप्यते	= नहीं जुटती	**हन्ति**	= मारता (ही) है (और)
		न	= नहीं (स्वयं)
		निबध्यते	= (पाप से) बंधा जाता है।

अधिष्ठानम्—विषयः। दैवम् प्रागर्जितं शुभाशुभम्। पञ्चैते अधिष्ठानादयः सामग्रीरूपतां प्राप्ताः सर्वकर्मसु हेतवः। अन्ये तु अधिष्ठीयते अनेन सर्वं कर्मेति बुद्धिगतं रजो लब्धवृत्तिकं धृतिश्रद्धासुखविविदिषारूपपञ्चकपरिणामिकर्मयोगशब्दवाच्यमधिष्ठानं क्वचित्प्रयत्नशब्देनोक्तम्। कर्ता—अनुसन्धाता बुद्धिलक्षणः। करणम्—मनश्चक्षुरादि, बाह्यमपि च खड्गादि। चेष्ठा—प्राणापानादिका। दैवशब्देन धर्माधर्मौ। ताभ्यां च बुद्धिगताः सर्वेऽपि भावा उपलक्षिताः। अन्ये त्वधिष्ठानमीश्वरं मन्यन्ते। अकृतबुद्धित्वादनिश्चितप्रज्ञतया। यः पुनरहंकारवियोगदार्ढ्येन प्रागुक्तयुक्तिशतशोधितेन कर्माणि करोति न स बन्धभाक्—कृतबुद्धित्वादित्याशयः॥१७॥

जिस को सिद्ध करना हो वह अधिष्ठान—विषय कहलाता है। पिछले जन्मों में कमाये हुए पुण्य-पाप के फलों को दैव कहते हैं। यही अधिष्ठान आदि पांच (किसी भी कार्य की सिद्धि में) सामग्री का रूप बन कर सभी कर्मों के कारण हैं। कई अन्य टीकाकार इसका अर्थ यों करते हैं जिससे सभी कर्म ठहराया जाये अर्थात् सिद्ध किया जाये, उस बुद्धि के अन्तर्गत रजोगुण को अधिष्ठान कहते हैं। इसके अतिरिक्त जो अपनी रजोगुण-वृत्ति में ठहर कर धैर्य, श्रद्धा, सुख, जिज्ञासा (जानने की इच्छा) अजिज्ञासा, (कुछ न जानने की इच्छा) नाम वाले पांच परिणामों से परिणत होकर 'कर्म-योग' शब्द से कहा जाता है उस प्रयत्न-विशेष को अधिष्ठान कहते हैं। बुद्धि सहित अनुसंधान करने वाले को कर्त्ता कहते हैं। मन, नेत्र आदि और बाहिरी तलवार आदि भी करण कहलाता है। प्राण-अपान की वृत्ति को चेष्टा कहते हैं। दैव शब्द से धर्म-अधर्म लक्षित किये जाते हैं। उन धर्म-अधर्म आदि द्वन्दों से बुद्धि में ठहरे हुए सभी आठों पदार्थ सूचित किये जाते हैं। ये ये हैं [धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य] कई व्यक्ति ईश्वर को ही अधिष्ठान मानते हैं। वे तो कच्ची बुद्धि वाले हैं और उनकी बुद्धि किसी निश्चय पर नहीं पहुंची है। अब जो अहंभाव से छूट कर, दृढ़ता-पूर्वक पीछे कहे गए सैंकड़ों युक्तियों से संशोधित बने हुए भाव—(अन्तःकरणों) से कर्मों को करता है वह कर्मों के बन्धन में नहीं फंसता क्योंकि उसकी बुद्धि तो कृतकृत्य बनी हुई होती है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

परिज्ञाता	= जानने वाला। ज्ञाता,	**कर्म**	= क्रिया (और)
ज्ञानम्	= ज्ञान (और)	**करणम्**	= करण (जिसके द्वारा काम किया जाता है
ज्ञेय	= जानने का विषय		
त्रिविधा	= (ये) तीनों तो		
कर्म-चोदना	= कर्म करने में प्रेरणा करने वाले हैं	**इति**	= इस प्रकार (ये)
च	= और	**त्रिविधः**	= तीनों
कर्ता	= (परिमित) कार्य करने वाला	**कर्म-संग्रहः**	= कर्म को जुटाने की सामग्री है।

कर्मणि चोदना—प्रवृत्तीच्छा। तत्समये येषामबोधमात्रनिष्ठत्वाज्ज्ञानज्ञेयज्ञातृश्रुतिवाच्यता तेषामेव सम्यग्ग्रहणरूपं यत्फलाभिसंधानेनात्मीयबुद्धया स्वीकरणम्—'अहमेतद्भोक्ष्ये, यतो मया कृतम्'—इत्येवंरूपम् तत्समये तथा निर्वर्तनावसरे करणकर्मकर्तृशब्दाभिधेयत्वमाविष्टत्वात्। अतो योगिनामावेशो नास्तीति तान्प्रति करणादिगिरां प्रसङ्गो नास्ति, अपितु ज्ञानमात्रे एव तात्पर्यम् ॥१८॥

कर्मों में चोदना का तात्पर्य कर्मों मे प्रवृत्त होने की इच्छा से है। उन कर्मों में प्रवृत्त होने के समय जो अज्ञान में ही लगे रहने से ज्ञान, ज्ञेय, तथा ज्ञातृता को ही ग्रहण करते हैं, उन्हें ही सांसारिक विषय-संबन्धि ज्ञान, भली-भांति सिद्ध होते हैं। क्योंकि वे जन, कर्म-फलों के आधार पर ही अपनी परिमित बुद्धि से विषयों को स्वीकार करते हैं, जैसे—'मैं यह खाता हूं, 'मैं ने यह किया' इस प्रकार के वाक्य (व्यवहार को ही जताते हैं) उस कर्म-चोदना के समय और कर्म-संग्रह रूपी कर्माचरण के समय करण, कर्म और कर्तृता का आवेश होता है। क्योंकि उन अज्ञानी जनों के कर्म-चोदनात्मक ज्ञान आदि अवस्था में कर्म-संग्रहरूपी करण आदि तीन वस्तुएं लगी ही रहती हैं। (इसके उलट) योगियों को व्यवहार करते हुए कर्मों का आवेश नहीं होता। उनके लिए तो 'करण' आदि वाणी का प्रसंग ही नहीं उठता। उनको तो केवल ज्ञान में ही तात्पर्य है अर्थात् वे ज्ञान को ही प्रधान मानते हैं।

अथैषां षण्णामपि संक्षेपेण गुणभेदाद्भेदं दर्शयितुमाह—

अब यहां गुण-भेद के आधार पर (इन ऊपर वर्णित ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता तथा करण, कर्म और कर्ता) छः का भेद भी नपे-तुले शब्दों में वर्णन करते हैं—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

गुण-संख्याने	= सांख्य-शास्त्र में	**एव**	= भी
गुण-भेदतः	= गुणों के भेद से	**त्रिधा**	= तीन तीन प्रकार के
ज्ञानम्	= ज्ञान	**प्रोच्यते**	= कहे गये हैं।
च	= और	**तानि**	= उनको
कर्म	= कर्म	**अपि**	= भी (तुम मुझ से)
च	= तथा	**यथावत्**	= ठीक-ठीक रूप मे
कर्ता	= कर्ता	**शृणु**	= सुनो।

गुणानां संख्यानं—निश्चयो यत्र, तत्र सांख्यीयकृतान्ते ज्ञानादि त्रिविधमुच्यते यत्तच्छृण्विति संगतिः। ज्ञानम्—इत्यनेन ज्ञाने क्रियायां च यत्करणं तद्द्विविधमुक्तम्। एवं कर्मेति ज्ञेयं कार्यं च। ज्ञाता कर्ता चेति ॥१९॥

जहां गुणों की संख्या अर्थात् निश्चय किया जाये उस सांख्य–सिद्धान्त में ज्ञान आदि तीनों के विषय में जो कुछ कहा है उसे तुम सुनो—यह श्लोक का संबन्ध है। ज्ञान—इस शब्द से ज्ञान और क्रिया में जो करण कहा गया है वह दो प्रकार का है। इसी भांति कर्म से ज्ञेय और कार्य भी कहा गया है तथा कर्ता, ज्ञाता का सूचक है।

तत्र 'सर्वभूतेषु' इत्यादिना श्लोकत्रयेण ज्ञानकरणस्य त्रैरूप्यमुक्तम् । अत एव 'येन'— इति तृतीया । इयता च ज्ञानकरणसामान्यस्य स्वरूपमुक्तम् । 'नियतम्' इत्यादिना श्लोकत्रयेण कर्मणो ज्ञेयकार्यरूपस्य त्रैविध्यम् । 'मुक्तसङ्गः' इत्यादिना श्लोकत्रयेण तु कर्तुर्द्विरूपस्य संक्षेपेण स्वरूपम् । करणविशेषस्य स्वरूपभेदप्रतिपादनार्थं बुद्धेस्त्रैविध्यं निरूपितम्, तद्द्वारेण करणान्तराणामपि त्रैविध्यमुपलक्षितम् । करणस्य त्वितिकर्तव्यतापेक्षित्वादितिकर्तव्यतायाश्च धृत्यादिपञ्चकरूपत्वेऽपि श्रद्धायाः पूर्वमुक्तत्वाद्विविदिषाविविदिषयोश्च, धृतिसुखाभ्यामाक्षेपात्तयोस्त्रैविध्यं 'धृत्या यया' इत्यनेन, 'सुखं त्विदानीम्' –इत्यनेन चोक्तम् । तदाह—

आगे कहे गए 'सर्वभूतेषु ...', पृथक्त्वेन और 'यत्तुकृत्स्नवत्, इत्यादि तीन श्लोकों से ज्ञान रूप करण के तीन रूप कहे गये हैं । अतएव इस श्लोक में 'येन,,—यह शब्द तृतीया विभक्ति में प्रयुक्त किया गया है। इससे ज्ञान-करण का सामान्य स्वरूप कहा गया । 'नियतम् संगरहितम्, यत्तु कामेप्सुना और अनुबन्धम्,,— इन तीन श्लोकों से ज्ञेय कार्य रूप कर्म के तीन प्रकार वर्णन किये गए हैं । ''मुक्तसंगोऽनहंवादी, इत्यादि तीन श्लोकों से दो प्रकार के कर्ता का रूप संक्षिप्त शब्दों में कहा है । करण—विशेष का स्वरूप– भेद, सिद्ध करने के लिए, बुद्धि के तीन रूप कहे गए हैं तथा उस बुद्धि के द्वारा अन्य करणों का भी तीन प्रकार से संकेत किया गया है। करणों में इतिकर्तव्यता की अपेक्षा होती है और इतिकर्तव्यता यद्यपि धृति आदि पांच रूपों वाली भी है फिर भी उन पांचों में से श्रद्धा के विषय में तो हम पहिले कह ही चुके हैं अब रहे विविदिषा (कुछ कहने की इच्छा) और अविविदिषा (कुछ न कहने की इच्छा) ये दोनों धृति और सुख में ही प्रयुक्त किये जाते हैं । अतः धृति और सुख के तीनों रूपों का वर्णन 'धृत्या यया,—इन श्लोकों से और 'सुखं त्विदानीम्,—इन श्लोकों से किया जाता है । यही कहते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

येन	= जिस ज्ञान से	**अविभक्तम्**	= विभाग से रहित (अखंड रूप वाला)
विभक्तेषु	= विभाग में बटे हुए	**ईक्षते**	= देखता है
सर्व-भूतेषु	= सभी प्राणियों में	**तत्**	= उस
एकम्	= एक	**ज्ञानम्**	= ज्ञान को
अव्ययम्	= अविनाशी	**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
भावम्	= परमात्मा के स्वरूप को	**विद्धि**	= जानो ।

विभक्तेषु देवमनुष्यादितया ॥२०॥

देवता, मनुष्य आदि रूप से जो बटा हुआ है उन में ।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तद्राजसमिति स्मृतम् ।।२१।।

तु	= अब जिस	वेत्ति	= जानता है
न्	= ज्ञान से (मनुष्य)	तत्	= वह
;	= सभी	(ज्ञानम्)	= ज्ञान
ु	= प्राणियों में	राजसम्	= राजस
-विधान्	= अनेक प्रकार के		
-भावान्	= भिन्न-भिन्न पदार्थों को	इति	= इस प्रकार
त्वेन	= राग और द्वेषबुद्धि से	स्मृतम्	= कहा गया है ।

पृथक्त्वेन—इह मे प्रीतिरिह मे द्वेषः,—इत्यादिबुद्धया ।।२१।।

इसमें मुझे प्रीति (लगाव) है और इसमें द्वेष (विरति) है—इस प्रकार की भेद-बुद्धि
ानने को पृथक् ज्ञान कहते हैं ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

	= जो (ज्ञान)	सक्तम्	= लगन पूर्वक (क्रोध या राग आदि में बंधा जाए)
स्मन्	= एक		
	= ही	च	= तथा
	= काम में	अतत्त्वार्थवत्	= सार-रहित
वत्	= एडी चोटी का जोर लगा कर पूर्ण रूप से	अल्पम्	= बेकार का हो
		तत्	= वह
कम्	= बिना सोचे समझे (बेकार ही)	तामसम्	= तामस (ज्ञान)
		उदाहृतम्	= कहलाता है ।

अहेतुकम्—कारणमविचार्यैव, अभिनिवेशावेशवशात् क्रोधरागादिग्रहणं यत्तत्तामस-
् ।।२२।।

प्रयोजन का न विचार करने से 'अहेतुकम्' शब्द का प्रयोग हुआ है । आग्रह-पूर्वक
् आवेश में आकर जो क्रोध, राग आदि का पालन करना है, ऐसा ज्ञान तामस
ाता है ।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

यत्	= जो	**अराग-द्वेषतः**	= राग-द्वेष के बिना (कर्तव्य जान कर)
कर्म	= काम	**कृतम्**	= किया गया हो
नियतम्	= शास्त्रों में निश्चित किया हुआ (और)	**तत्**	= वह (कर्म तो)
संग-रहितम	= कर्त्तापने के अभिमान से रहित	**सात्त्विकम्**	= सात्विक
अफल-प्रेप्सुना	= फल को न चाहने वाले साधक से	**उच्यते**	= कहा जाता है।

नियतम्—कर्तव्यमिति ॥२३॥

'यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रयोजन से और ऐसी धारणा को रख कर जो काम किया जाता है उसे नियत कर्म कहते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते क्लेशबहुलं तद्राजसमिति स्मृतम् ॥२४॥

यत् तु	= और जो	**काम-ईप्सुना**	= कामना — अभिलाषा की इच्छा रखने वाले (पुरुष से)
क्लेश-बहुलम्	= कष्ट-पूर्वक (अविद्या से व्याप्त हुआ)	**क्रियते**	= किया जाता है
कर्म	= कार्य	**तत्**	= वह
साहंकारेण	= अहंकार को लेकर	**राजसम्**	= राजस (कर्म)
		इति	= इस भांति
वा पुनः	= तथा	**स्मृतम्**	= कहा गया है।

क्लेशैः—अविद्याद्यैः, बहुलम्—व्याप्तम् ॥२४॥

अविद्या आदि (अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश)—इन क्लेशों से जो व्याप्त बना हो, उस कर्म को 'क्लेश-बहुल' कहते हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

यत्	= जो	**मोहात्**	= अज्ञान के आवेश में आकर
कर्म	= काम	**आरभ्यते**	= किया जाता है
अनुबन्धम्	= परिणाम	**तत्**	= वह (तो)
क्षयम्	= हानि	**तामसम्**	= तमोगुण (कर्म)
हिंसाम्	= हिंसा	**उच्यते**	= कहा जाता है।
च	= और		
पौरुषम्	= अपनी शक्ति का ध्यान न रख कर		

मोहात्—अभिनिवेशमयात् ॥२५॥

आगा पीछा सोचे बिना ही हठ-पूर्वक ज़िद से कर्म करने को मोह कहते हैं।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

मुक्त-सङ्गः	= लगाव से रहित	**सिद्ध्यसिद्ध्योः**	= सफलता-असफलता के होने पर
अनहंवादी	= 'मैं ही सभी कार्य अपने बल-भूते पर करता हूं' ऐसा न कहने वाला	**निर्विकारः**	= हर्ष, शोक से रहित
		कर्ता	= काम करने वाला, (साधक)
धृति-उत्साह-समन्वितः	= धैर्य और प्रयत्नशील,	**सात्त्विकः**	= सत्त्वगुणी
		उच्यते	= कहा जाता है।

अहं कर्ता इति न वदन्, तच्छीलस्तद्धर्मा तत्साधुकारी वा यो भवतीति- अनहंवादी—इत्यनेन णिनिना व्यवहारमात्रसंवृतिवशेन योगिनोऽपि 'अहं करोमि'—इति वचो न निषिद्धम् ॥२६॥

'मैं कर्म करने वाला हूं' यह न कह कर इस के उलट 'मैं कुछ भी नहीं करता हूं' जो इसी स्वभाव वाला, इसी सिद्धान्त को मानने वाला तथा इसी मन्तव्य पर प्रेम और आस्था-श्रद्धा रखने वाला होता है वह अनहंवादी कहलाता है। 'योगिन्' शब्द में 'णिनी' प्रत्यय से यह सिद्ध होता है कि योगी यदि व्यवहार की ही सिद्धि के लिए 'मैं कर्म करता हूं' यह वाक्य कहे भी, तो उस के लिए ऐसा कहना मना नहीं है। (कारण यह कि वह योगी व्यवहार को सिद्ध करने की आड में ऐसा कहता है, वास्तव में वह तो अनहंवाद पर ही टिका हुआ होता है।)

रागीकर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्त्यते ॥२७॥

रागी	=	लगाव से युक्त,	**अशुचिः**	=	अपवित्र,
कर्म-फल-प्रेप्सुः	=	कर्मों के फल को चाहने वाला,	**हर्ष-शोक अन्वितः**	=	प्रसन्नता और दुःख से युक्त
लुब्धः	=	लोभी,	**कर्ता**	=	काम करने वाला व्यक्ति
हिंसात्मकः	=	दूसरों को शारीरिक व मानसिक कष्ट पहुंचाने वाला,	**राजसः**	=	रजोगुणी
			परिकीर्त्यते	=	कहा जाता है ।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैकृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्रश्च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अयुक्तः	=	बेढंगे रूप से काम करने वाला,	**च**	=	और
प्राकृतः	=	शिक्षा से रहित,	**दीर्घसूत्रः**	=	छोटे से काम में बहुत समय लगाने वाला
स्तब्धः	=	घमण्डी,	**कर्ता**	=	कर्ता (तो)
शठः	=	मूर्ख,	**तामसः**	=	तमोगुणी
नैकृतिकः	=	निर्दय,	**उच्यते**	=	कहा जाता है ।
अलसः	=	आलसी			

हर्षशोकान्वितः—सिद्ध्यसिद्ध्योः । निकृतिः—नैर्घृण्यम् ॥२८॥

प्रसन्नता और दुःख से युक्त होने का अभिप्राय यही है कि सफलता में वह तमोगुण प्रकृति वाला व्यक्ति, प्रसन्न बनता है और असफलता में शोक से व्याकुल हो जाता है । निःकृति का अर्थ निर्दयता है ।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२६॥

धनंजय	=	हे अर्जुन !	**त्रिविधम्**	=	तीन प्रकार का
बुद्धेः	=	निश्चय करने वाली बुद्धि का,	**अशेषेण**	=	पूरा
च	=	और	**पृथक्त्वेन**	=	विभाग पूर्वक
धृतेः	=	संतोष का	**भेदम्**	=	भेद,
एव	=	भी	**प्रोच्यमानम्**	=	जो मैं कहूंगा
गुणतः	=	(सत्त्व आदि) गुणों के आधार पर	**तम्**	=	उसे
			श्रृणु	=	(मुझ से) सुनो।

बुद्धिः - निश्चयः । धृतिः सन्तोषः । **सर्वो हि सुकृतं दुष्कृतं वा कृत्वा अन्ते 'अवश्यं कृतं करणीयं किमन्येन'**- इति धियं गृह्णाति । अन्यथा क्रियाभ्यो व्युपरमे को हेतुः स्यात् । **अतः सर्वस्यैव धृतिरस्तीति तात्पर्यार्थः ।** पदार्थस्त्वप्रसिद्धो व्याख्यात एव ॥२९॥

बुद्धि, निश्चय को कहते हैं। धृति का तात्पर्य सन्तोष है। सभी जन, पुण्य और पाप कर्म करके अन्त में उस कार्य से पल्ला छुड़ाने के लिए यही कहते हैं कि 'जो आवश्यक कर्म करना था वह तो मैंने कर लिया अब अन्य कर्म करने से क्या लाभ ?' ऐसी बुद्धि रखते हैं। नहीं तो क्रिया से पीछे हटने का कौन कारण बनता। तात्पर्य यह है कि सन्तोष के होने से ही व्यक्ति, काम करने के बाद 'विश्राम लेता है। अतः सबों में धृति—संतोष का अंश विद्यमान ही है। अप्रसिद्ध—जो पद समझ में न आये हों और आवश्यक पदों की व्याख्या तो कर ही रहे हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या बुद्धिर्वेद सा सात्विकी मता ॥२०॥

पार्थः	=	हे अर्जुन !	**अभय**	=	किस कर्म के करने में भय नहीं है
प्रवृत्तिम्	=	कौन सा कर्म करना चाहिये,	**च**	=	और
निवृत्तिम्	=	किस कर्म से दूर रहना चाहिये	**बन्धनम्**	=	सांसारिक बन्धन क्या है
च	=	और	**च**	=	तथा
कार्य	=	कर्तव्य रूप व्यवहारों को	**मोक्षम्**	=	मुक्ति क्या है
अकार्य	=	अकर्तव्य रूप व्यवहारों को,	**या**	=	जो
भय	=	किस कर्म में भय है (तथा)	**बुद्धि**	=	बुद्धिः
			वेद	=	सही अर्थों में ये ऊपर कही हुई बातें जानती है
			सा	=	वह तो
			सात्विकी	=	सात्त्विक बुद्धि
			मता	=	मानी गई है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।३१।।

पार्थ	=	हे अर्जुन !	**अकार्यम्**	=	अकर्तव्य को
यया	=	जिस बुद्धि से	**एव**	=	भी
धर्मम्	=	धर्म	**अयथावत्**	=	जैसा शास्त्रों ने कहा है वैसा नहीं
च	=	और	**प्रजानाति**	=	जानता
अधर्मम्	=	अधर्म को	**सा**	=	वह
च	=	और	**बुद्धिः**	=	बुद्धि (तो)
कार्यम्	=	कर्तव्य	**राजसी**	=	राजसी है ।
च	=	और			

अयथावत्—असम्यक् ।।३१।।

अनुपयुक्त—असमीचीन— जैसा जानना चाहिए वैसा नहीं समझ पाता ।

अधर्मं धर्ममिति या बुद्ध्यते तमसान्विता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा तामसी मता ।।३२।।

या	=	जो (बुद्धि)	**च**	=	तथा
तमसा	=	तमोगुण से	**सर्व-अर्थान्**	=	सभी सिद्धान्तों को
अन्विता	=	युक्त होकर	**विपरीतान्**	=	उलटा ही
अधर्मम्	=	हिंसा आदि अधर्म को	**(मन्यते)**	=	मानती है ।
धर्मम्	=	धर्म (कर्तव्य)	**सा**	=	वह
इति	=	इस प्रकार	**बुद्धिः**	=	बुद्धि तो
बुद्ध्यते	=	जानती है ।	**तामसी**	=	तामसी
			मता	=	कही गई है ।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा सात्त्विकी मता ।।३३।।

यया	=	जिस	**योगेन**	=	अभ्यास से
अव्यभिचारिण्या	=	अटल	**धारयते**	=	सहन कर पाता है
धृत्या	=	धैर्य से	**सा**	=	वह धैर्य,
मनः	=	मन,	**सात्त्विकी**	=	सात्त्विक
प्राण	=	प्राण (और)	**मता**	=	माना जाता है ।
इन्द्रिय-क्रियाः	=	इन्द्रियों की उछल-कूद को			

मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः योगेन धारयति, यथा 'किं ममोपभोगादिभिः, सर्वथैवात्मारामो भूयासम्'—इति मन्वानः ॥३३॥

मन, प्राण और इन्द्रियों की चेष्टाओं को अभ्यास रूप योग से अपने वश में करता है। वह यह निश्चय करता है कि 'मुझे सांसारिक भोगों को भोगने से क्या मतलब है। मैं तो सदा आत्मा में रमण करने वाला आत्माराम ही बना रहूं।

यया तु धर्म कामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

पार्थ !	= हे पृथु के पुत्र !	**धर्म-काम-अर्थान्**	= धर्म, अर्थ और कामनाओं को
अर्जन !	= अर्जुन	**धारयते**	= धारण करता है
फल-आकांक्षी	= फल को चाहने वाला मनुष्य,	**सा**	= वह
प्रसङ्गेन	= उथले मन से	**धृतिः**	= धैर्य (तो)
यया	= जिस	**राजसी**	= राजस है।
धृत्या	= धैर्य से		

प्रसङ्गेन न तथाभिनिवेशेन ॥३४॥

सात्त्विक व्यक्ति की भांति दृढ़ता पूर्वक कार्य न करने को 'प्रसंग' से करना कहते हैं।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मोहमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥३५॥

(पार्थ)	= हे अर्जुन !	**च**	= और
दुर्मेधाः	= दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य,	**मोहम्**	= ममता को
		एव	= भी
यया	= जिस	**न**	= नहीं
(धृत्या)	= धैर्य से	**विमुञ्चति**	= छोड़ पाता
स्वप्नम्	= नींद	**सा**	= वह नींद लड़ाई आदि पर डटे रहने का धैर्य
भयम्	= भय		
शोकम्	= चिन्ता	**तामसी**	= तमोगुणी
विषादम्	= दुःख	**मता**	= माना गया है।

निद्राकलहादिष्वेव यया सन्तोषं बध्नाति तत्परतया, –सा तामसी धृतिः ।

जिस धैर्य से व्यक्ति, नींद, लड़ाई, झगड़ों में ही जुटा रहे तथा सन्तुष्ट बना रहे उसे तामस् धैर्य कहते हैं ।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च नियच्छति ॥३६॥

भरत-ऋषभ	= हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन !	**यत्र**	= जिस सुख में
इदानीम	= इस समय	**अभ्यासात्**	= (साधक) ईश्वर के अभ्यास से
मे	= मुझसे (तुम)	**रमते**	= अपने मन को बनाए रखता है
सुखम्	= सुख	**च**	= और
तु	= भी	**दुःखान्तम्**	= दुःख के अन्त को अर्थात् सुख को
त्रिविधम्	= तीन प्रकार का	**नियच्छति**	= पूर्ण रूप से प्राप्त करता है ।
शृणु	= सुनो		

यत्तदात्वे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं विद्यादात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

यत्	= (जो सुख)	**अमृत-उपमम्**	= अमृत के समान सुख-दायक होता है
तदात्वे	= अभ्यास के समय	**यत्**	= (और) जो
विषम् इव	= (सैंकड़ों जन्मों में विषयों को भोगने में आदी बनने से) जहर की भांति कटु दीखता है	**आत्म-बुद्धि प्रसादजम्**	= मन और बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न होता है
		तत्	= उस
		सुखम्	= सुख
परिणामे	= किन्तु अन्त में (फल) देने के समय)	**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
		विद्यात्	= जानो ।

तदात्वे अभ्यासकाले । विषमिव –जन्मशताभ्यस्तविषयसङ्गस्य दुष्परिहरत्वात् उक्तं च श्रुतौ—

---

१. नितरां प्राप्नोतीत्यर्थः ।

'क्षुरस्य धारा विषमा दुरत्यया :'

इत्यादि । आत्मप्रसादाद्बुद्धिप्रसादो जायते, अन्यस्यापेक्ष्यमाणस्याभावात् ।।३७।।

वह सात्त्विक सुख उस समय -- पूर्वकालीन अभ्यास काल में विष जैसा ही प्रतीत होता है। कारण यह कि सैकड़ों जन्मों में विषय-भोगों को भोगने में लगे रहने के कारण, उनकी आसक्ति कठिनता से ही हटाई जा सकती है । श्रुति में कहा भी है --

'यह सात्त्विक सुख का अभ्यास उस्तरे की धार के समान विषम और अति कठिन है। '' इत्यादि ।

मन की निर्मलता से बुद्धि की निर्मलता होती है । उस बुद्धि में अन्य विषय आदि सुखों की अपेक्षा नहीं रहती ।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदात्वेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तद्राजसमिति स्मृतम् ।।३८।।

यत्	=	जो (सुख)	**परिणामे**	=	किन्तु अन्त में—भोग भोगने के बाद
विषय-इन्द्रिय-संयोगात्	=	विषय और इन्द्रियों के मिलाप से प्राप्त होता है ।	**विषम**	=	जहर की
			इव	=	भांति (दुःखद) होता है
तत्	=	वह (भले ही)	**तत्**	=	उस को
अग्रे	=	पहिले भोग के समय	**राजसम् इति**	=	राजस सुख
अमृत-उपमम्	=	अमृत के समान अनुभव में आए	**स्मृतम्**	=	माना है।

विषयेन्द्रियाणां परस्परसंयोगजं सुखम्, चक्षुष इव रूपसंबन्धात् ।।३८।।

विषयों और इन्द्रियों के परस्पर मिलाप से जो सुख उत्पन्न होता है उसी की ओर यहां संकेत है । जैसे नेत्र इन्द्रिय का रूप (विषय) के साथ सम्बन्ध होने से (दर्शन का) सुख उत्पन्न होता है ।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।३९।।

यत्	= जो
सुखम्	= सुख
अग्रे	= भोग काल में
च	= और
अनुबन्धे	= परिणाम में
च	= भी
आत्मनः	= आत्मा को
मोहनम्	= मोह में डालने वाला होता है
तत्	= वह
निद्रा	= नींद
आलस्य	= आलस्य (और)
प्रमाद	= अनवधान से
उत्थम्	= उत्पन्न हुआ (सुख)
तामसम्	= तामस
उदाहृतम्	= कहा गया है।

निद्रात —आलस्येन[1] प्रमादेन पूर्वं व्याख्यातेन यत्सुखं, तत्तामसम् ॥३९॥

निद्रा —आलस्य से उत्पन्न प्रमाद से —जिस की हम पहिले व्याख्या कर चुके हैं— जो सुख उत्पन्न होता है वह तामस सुख है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पुनः	= और यह बात भी ध्यान में रखने वाली है कि
पृथिव्याम्	= पृथ्वी में
वा	= या
दिवि	= स्वर्ग में
वा	= या
देवेषु	= देवताओं में
तत्	= वह (कोई भी)
सत्त्वम्	= जीव
न	= नहीं
अस्ति	= है
यत्	= जो
एभिः	= इन
त्रिभिः	= तीनों
गुणैः	= गुणों की पकड़ से
मुक्तम्	= छूटा हुआ
स्यात्	= हो।

निद्रातः—आलस्येन प्रमादेन पूर्वं व्याख्यातेन यत्सुखं, तत्तामसम् ॥३९॥

[अवतरणिका] **एवं कर्तृकर्म करण बुद्धिधृत्योः सुखस्य च सत्त्वादिभेदभिन्नानां परस्पराङ्गाङ्गिभावबाध्यबाधकत्वसमुच्चयाद्वृत्तिक्रमयोगपद्यादियोगादपरिसंख्येयभेदत्वाद्विविध-फलप्रसवसमर्थत्वम्। इत्यनेन कर्मणां प्राक् सूत्रितं गहनत्वं वितत्य सहेतुकं निर्णीतम्। सर्वे चैते देवतादिस्थावरान्ता गुणमयसंबन्धं नातिक्रामन्ति। उक्तं हि**

'आ ब्रह्मणश्च कीटान्तं न कश्चित्तत्त्वतः सुखी।
करोति विकृतीस्तास्ताः सर्व एव जिजीविषुः॥'

---

१. आलस्येनेत्यनन्तरं 'शठतया'— इत्यधिकः क० पाठः।

इति। तत्त्वतो हि सुखं गुणातिक्रान्तमनसः नेतरस्येत्याशयः। एवमियता षण्णां प्रत्येकं त्रिस्वरूपत्वं धृत्यादीनां च प्रतिपादितम्। तन्मध्यात्सात्त्विके राशौ वर्तमानो दैवीं सम्पदं प्राप्त इह ज्ञाने योग्यः, त्वं च तथाविधः—इत्यर्जुनः प्रोत्साहितः। अधुना त्विदमुच्यते - यदि तावदनया ज्ञानबुध्द्या कर्मणि भावान्प्रवर्तते, तदा स्वधर्मप्रवृत्त्या विज्ञानपूततया च न कर्मसंबन्धस्तव। अथैतन्नानुमन्यसे, तदवश्यं तव प्रवृत्त्या तावद्भाव्याम्; जातेरेव तथाभावे स्थितत्वात्। यतः सर्वः स्वभावनियतः कुतश्चिद्दोषात्तिरोहिततत्स्वभावः कञ्चित्कालं भूत्वापि, तत्तिरोधायकविगमे स्वभावं व्यक्तमन्नं लभत एव। तथाह्येवंविधो वर्णानां स्वभावः। एवमवश्यं भाविन्यां प्रवृत्तौ ततः फलविभागिता भवेत्—तदाह

इस प्रकार सत्त्व आदि भेद से विभिन्न बने हुए कर्ता, कर्म, करण, बुद्धि, धैर्य और सुख को, परस्पर अंग-अंगी भाव तथा बाध्य-बाधक भाव के संबन्ध से चित्त-वृत्ति के आपसी मिलाप से और असंख्य भेदों के कारण, अनेक प्रकार के फलों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। इस वाक्य से पहिले कहे गए कर्मों की गहनता का विस्तार-पूर्वक तथा कारण सहित वर्णन किया गया है। ये सभी देवताओं से लेकर जड़ पदार्थों तक, तीन गुणों के संबन्ध का उल्लंघन नहीं कर पाते हैं। कहा भी है --

"ब्रह्मा से लेकर कीड़े तक वास्तव में कोई भी सुखी नहीं है, क्योंकि सभी प्राणि-वर्ग जीवित रहने की इच्छा से अनेकानेक चेष्टायें करते ही रहते हैं।"

तत्त्व-दृष्टि से तो गुणातीत मन वाला व्यक्ति ही सुखी है—दूसरा नहीं। यह इस श्लोक का तात्पर्य है। इस प्रकार इन ज्ञान आदि छः अवस्थाओं का और धैर्य आदि का भी स्वरूप तीनों रूपों में कहा गया। उनमें से सात्त्विक गुणों की श्रेणी में जो व्यक्ति दैवी संपदा का पात्र हो, वही इस (आत्मिक) ज्ञान के योग्य है। अतः हे अर्जुन! तुम भी वैसे ही दैवी संपदा वाले हो—यह कह कर अर्जुन का उत्साह बढ़ाया गया।

अब तो यह कहते हैं कि यदि इस ज्ञान-बुद्धि से तुम कर्मों को करने में जुट जाओगे तो अपने क्षत्रिय-धर्म को निभाने के कारण विज्ञान से पवित्र बने हुए तुम को युद्ध में हिंसात्मक कर्मों का कोई भी सम्बन्ध नहीं होगा और यदि अब तुम इस बात को नहीं मानोगे तो फिर (किसी न किसी समय) निश्चय ही तुम्हारी युद्ध करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति तुम्हें उस कार्य को करने में लगा देगी। क्योंकि क्षत्रिय-जाति का तो स्वभाव ही युद्ध करना है। अब यदि सभी जातियां स्वभाव में बंधे हुए होकर भी अज्ञान-वश कभी उस अपने स्वभाव को छोड़ भी दें फिर भी कभी न कभी अपने जाति-स्वभाव के आ उपस्थित होने पर वह (अपना) जाति सम्बन्धि व्यवहार करना ही पड़ता है। ऐसा तो सभी जाति के वर्णों का स्वभाव है। इस रीति से भावी (क्षत्रिय-संबन्धि) प्रकृति पर (अपनी) प्रवृत्ति के होने के कारण अवश्य ही फल का विभाग भी आ उपस्थित होता है। यही कहते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

परंतप	= हे अर्जुन !	**शूद्राणाम्**	= शूद्रों के (भी)
ब्राह्मण	= ब्राह्मण	**कर्माणि**	= कर्म
क्षत्रिय	= क्षत्रिय	**स्वभाव-प्रभवैः**	= अपने अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए
विशाम	= वैश्यों के	**गुणैः**	= गुणों के द्वारा
च	= तथा	**प्र-विभक्तानि**	= विभाजित हुए हैं ।

शमो दमस्तथा शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्राह्म कर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शमः	= अन्तःकरण का निग्रह	**विज्ञानम्**	= आत्मज्ञान
दमः	= इन्द्रियों का दमन	**च**	= और
तथा	= और	**आस्तिक्यम्**	= ईश्वर पर अटल विश्वास
शौचम्	= बाहर-भीतर की शुद्धि	(एते)	= ये तो
क्षान्तिः	= क्षमा-भाव	**स्वभावजम्**	= स्वभाव से (ही)
आर्जवम्	= मन की सरलता	**ब्राह्मम्**	= ब्राह्मण के
एव च	= तथा	**कर्म**	= कर्म अर्थात् लक्षण हैं ।
ज्ञानम्	= शास्त्र-ज्ञान		

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वाभावजम् ॥४३॥

शौर्यम्	= शूरवीरता	**अपलायनम्**	= पीठ न दिखाने का स्वभाव
तेजः	= तेज	**दानम्**	= दान देने की आदत
धृतिः	= धैर्य	**च**	= और
दाक्ष्यम्	= चतुरता	**ईश्वर-भावः**	= ईश्वर पर विश्वास(ये)
च	= और	**क्षात्रम्**	= क्षत्रिय के
युद्धे	= युद्ध में	**स्वभाव जम्**	= स्वाभाविक
अपि	= भी	**कर्म**	= कर्म हैं ।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
पर्युत्थानात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

कृषि = खेती बाडी करना
गोरक्ष्य = गाय को पालना
वांणिज्यम् = व्यापार (ये)
वैश्य-कर्म = वैश्य के
स्वभावजम् = अपनी जाति-स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म हैं (तथा)
परि-उत्थानात्मकम् = (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन) तीनों की सेवा करना
शूद्रस्य = शूद्र का
अपि = भी
स्वभावजम् = स्वाभाविक
कर्म = कर्म हैं ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

स्वे-स्वे = अपने अपने (स्वाभाविक)
कर्मणि = कर्म में
अभि-रतः = लगा हुआ
नरः = मनुष्य
संसिद्धिम् = परम सिद्धि को
लभते = प्राप्त करता है
यथा = अब जिस उपाय से
स्व-कर्म-निरतः = अपने स्वभावानुकूल कर्म में लगा हुआ मनुष्य
सिद्धिम् = परम सिद्धि को
विन्दति = प्राप्त करता है
तत् = उस विधि को (तुम मुझ से)
श्रृणु = सुनो

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन विश्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

यतः = जिस परमात्मा से
भूतानाम् = सभी प्राणियों की
प्रवृत्तिः = उत्पत्ति हुई है (और)
येन = जिससे
इदम् = यह
विश्वम् = जगत्
ततम् = व्याप्त है
तम् = उस ईश्वर को
स्व-कर्मणा = अपने स्वाभाविक कर्मों से
अभ्यर्च्य = पूज कर
मानवः = मनुष्य
सिद्धिम् = आत्म-साक्षात्कार को
विन्दति = प्राप्त करता है ।

१. पर्युत्थानं— वर्णत्रयस्य पूर्वस्य शुश्रूषा, तद्रूपं कर्मेत्यर्थः । परिचर्यात्मकम् इति क० पाठः ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

स्व-अनुष्ठितात्	= भली-भांति आचरण किए हुए	**स्वभावनियतम्**	= स्वभाव से नियन्त्रित किए हुए
पर-धर्मात्	= दूसरे धर्म से	**कर्म**	= आत्म-धर्म के कर्मों को करता हुआ (मनुष्य)
विगुणः	= विशेष गुणों वाला		
स्व-धर्मः	= अपना आत्मधर्म (ही)	**किल्बिषम्**	= पाप का
श्रेयान्	= श्रेष्ठ है (क्योंकि)	**न आप्नोति**	= भागी नहीं बनता

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

कौन्तेय	= हे अर्जुन !	**हि**	= क्योंकि
सदोषम्	= दोष-युक्त (आयास को देने वाला) होने पर	**धूमेन**	= धुएँ से
		अग्निः	= अग्नि के समान
अपि	= भी	**सर्व-आरम्भः**	= सभी कर्म
सहजं कर्म	= स्वाभाविक (यज्ञ आदि) कर्म को करना	**दोषेण**	= किसी न किसी दोष—अपूर्णता से
न त्यजेत्	= नहीं छोड़ना चाहिए	**आवृताः**	= ढांपे गए हैं।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

सर्वत्र	= पूर्ण रूप से	**संन्यासेन**	= अनासक्त कर्म करने से (भी)
असक्त-बुद्धिः	= लगाव से रहित बुद्धि वाला	**परमाम्**	= श्रेष्ठ
		नैष्कर्म्यसिद्धिम्	= निष्काम कर्म से मिली हुई सिद्धि को
विगत-स्पृहः	= लुप्त इच्छाओं वाला (साधक)	**अधि-गच्छति**	= प्राप्त होता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेन तु कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

कौन्तेय	= हे अर्जुन !	**ज्ञानस्य**	= तत्त्व-बोध का
सिद्धिम्	= अन्त:करण की पवित्रता से मिली हुई सिद्धि को	**परा**	= अन्तिम
		निष्ठा	= लक्ष्य है
प्राप्तः	= पहुंचा हुआ (साधक)	**तत्**	= (उसे)
यथा	= जैसे	**तु**	= भी
ब्रह्म	= परमात्मा का	**समासेन**	= नपे-तुले-शब्दों में
आप्नोति	= साक्षात्कार करता है	**मे**	= मुझ से
तथा	= और		
या	= जो	**निबोध**	= समझो

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादींन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

विशुद्धया-बुद्धया	= आत्म-बुद्धि[1]	**धृत्या**	= धीरज धर कर
युक्तः	= वाला	**आत्मानम्**	= अन्त:करणों को अपने वश में करके
विविक्त-सेवी	= एकान्त में रहने वाला,		
लघ्वाशी	= थोड़ा खाने वाला,	**च**	= तथा।
यत्-वाक्-काय-मानसः	= जीते हुए मन, शरीर और वाणी वाला	**शब्द-आदीन्**	= शब्द आदि
		विषयान्	= विषयों को
वैराग्यम्	= (ऐसा) पूर्ण वैराग्य को	**त्यक्त्वा**	= छोड़ कर (उनकी लपेट में न आकर)
सम्-उपाश्रितः	= प्राप्त हुआ (साधक)		
नित्यम्	= निरन्तर	**च**	= और
ध्यान-योग-परः	= ध्यान-योग में लगा हुआ	**राग-द्वेषौ**	= राग-द्वेष को
		व्युदस्य	= काट कर

अहंकार[1]ं बलं[2] दर्प[3]ं कामं क्रोधं परिग्रहम्[4] ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

---

१. अनात्मनि शरीरादावात्मप्रत्ययरूपम् ।

२. शक्याशक्यविवेकपरिहारेण कार्येषु हठं -- बलम् ।

३. स्वल्पस्यापि सिद्धिलेशस्योपलब्धेश्चित्तोद्रेकम् ।

४. देहदारद्रविणादिषु सर्वस्वबुद्धया स्वीकारम् ।

अहंकारम् = अनात्मा शरीर पर आत्म-भावना का होना
बलम् = मैं यह काम कर पाऊंगा या नहीं' इस विवेक के बिना ही अकारण हठभावना
दर्पम् = थोड़े से भी कार्य की सिद्धि पर मन में अहंकार का होना
कामम् = काम-वासना की भावना
क्रोधम् = किसी भी काम की अपूर्ति पर क्रोध का आ जाना,
परिग्रहम् = शरीर, स्त्री और धन पर अपनत्व का होना
विमुच्य = इन सभी से छूटा हुआ
निर्ममः = ममता से रहित
शान्तः = संकल्प-विकल्प से रहित होने पर शान्त बना हुआ (साधक)
ब्रह्म-भूयाय = ब्रह्म बनने के लिए
कल्पते = योग्य बनता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न हृष्यति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं[१] लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्म-भूतः = ईश्वर के लक्षणों से युक्त बना हुआ
प्रसन्न आत्मा = निर्मल मन वाला (साधक)
न = न तो
शोचति = (दुःख में) शोक करता है (और)
न = नहीं
हृष्यति = (सुख में) प्रसन्न होता है। (ऐसा)
सर्वेषु = सभी
भूतेषु = प्राणियों में
समः = समान दृष्टि वाला (साधक)
पराम् = सबसे श्रेष्ठ
मद्-भक्तिम् = मेरी अद्वैत-भावनात्मक भक्ति को
लभते = प्राप्त करता है।

भक्त्या मामभिजानाति योऽहं यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

१. परमात्माद्वैतप्रतिपत्तिलक्षणा या ज्ञानस्य परा निष्ठा, सैव परा मद्भक्तिरित्यर्थः।

अहम् = मैं
यश्च अस्मि = जो भी कुछ हूं (इस प्रकार)
माम = मुझे
तत्त्वतः = यथार्थ रूप से
यः = जो साधक
भक्त्या = अद्वैत-भावना रूपी भक्ति को लेकर
अभिजानाति = भली-भांति जानता है
ततः = उसके बाद
माम् = मुझे
तत्त्वतः = यथार्थ रूप से
ज्ञात्वा = अनुभव करके
तद्-अनन्तरम् = तत्पश्चात्
विशते = (मुझ में) प्रविष्ट होता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

अपि = और
मत्-व्यपाश्रयः = मुझ में आश्रित बना हुआ (साधक)
सर्व-कर्माणि = सभी कर्मों को
सदा = सदा
कुर्वाणः = करता हुआ
मत्-प्रसादात् = मेरी दया से
शाश्वतम् = सनातन,
अव्ययम् = अविनाशी,
पदम् = परम-पद को
अवाप्नोति = प्राप्त करता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य भारत।
बुद्धियोगं समाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

भारत = हे अर्जुन !
सर्व-कर्माणि = सभी कर्मों को
चेतसा = मन से
मयि = मुझ में
संन्यस्य = अर्पण करके
बुद्धि-योगम् = ज्ञान-योग को
समाश्रित्य = अपना कर
सततम् = सदा
मत्-चित्तः = मुझ में लगे हुए मन वाले (ही)
भव = बनो।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारं न मोक्ष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

त्वम् = तुम
मत्-चित्त: = मुझ में सदा मनवाला बना हुआ
मत्-प्रासादात् = मेरी कृपा से
सर्व-दुर्गाणि = (जन्म, मृत्युआदि) सभी संकटों को
तरिष्यसि = (अनायास ही) पार कर पाओगे
अथ = किन्तु
चेत् = यदि (तुम)
अहंकारम् = अपनत्व के अभिमान को
न = नहीं
मोक्ष्यसि = छोडोगे (तो)
विनङ्क्ष्यसि = (परमार्थ को न पाकर) नष्ट हो जाओगे।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।५९।।

यत् = जिस
अहंकारम् = (मिथ्या) अहंकार का
आश्रित्य = सहारा लेकर
इति = ऐसा
मन्यसे = मानते हो कि (मैं)
न योत्स्य = युद्ध नहीं करूंगा (यह)
ते = तुम्हारा
व्यवसाय: = निश्चय
मिथ्या = बेकार
एव = ही सिद्ध होगा (क्योंकि)
त्वाम् = तुम्हें तो
प्रकृति: = अपना क्षत्रिय-सुलभ-स्वभाव (बलजोरी)
नियोक्ष्यति = युद्ध करने में जुटा देगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।६०।।

कौन्तेय = हे अर्जुन !
यत् = जिस युद्ध-कर्म को (तुम)
मोहात् = ममत के मोह में पड़ कर
कर्तुम् = करना
न = नहीं
इच्छसि = चाहते हो
तत् = उसको
अपि = भी
स्वेन = अपने
स्वभावजेन = स्वाभाविक क्षत्रिय होने के नाते
कर्मणा = युद्ध-कर्म से
निबद्धः = बंधे हुए होकर
अवश; = परवश बन कर
करिष्यसि = करोगे ही।

ब्राह्मणादीनां कर्मप्रविभागनिरूपणस्य स्वभावोऽवश्यं नातिक्रामतीति क्षत्रियस्वभावस्य भवतोऽनिच्छतोऽपि प्रकृतिः स्वभावाख्या नियोक्तृतामव्यभिचारेण भजते। केवलं तया नियुक्तस्य पुण्यपाप-संबन्धः। अतो मदभिहितविज्ञानप्रमाणपुरःसरीकारेण कर्माण्यनुतिष्ठ। तथा सति बन्धो निवर्त्स्यति। इत्यस्यार्थस्य परिकरबन्धघटनतात्पर्यं महावाक्यार्थस्य। अवान्तर-वाक्यानां स्पष्टार्थः। समासेन संक्षेपेण ज्ञानस्य प्रागुक्तस्य निष्ठां वाग्जालपरिहारेण निश्चितामाह—'बुद्ध्या विशुद्ध्या'—इत्यादि। सर्वमेतद्व्याख्यातप्रायमिति न पुनरा-यस्यते॥६०॥

ब्राह्मण आदि वर्णों के कर्म विभाग का निश्चित किया हुआ स्वभाव सत्यतः त्यागा नहीं जा सकता। इस प्रकार यदि तुम्हें क्षत्रिय-स्वभाव के निभाने की कोई भी इच्छा नहीं है, फिर भी क्षत्रिय-सुलभ-स्वभाव, तुम्हें अपनी प्रकृति से प्रेरित करके अटल रूप से अपने वर्ण के अनुकूल (युद्ध रूप) कार्य में जुटा कर ही रहेगा। अन्तर इतना ही है कि प्रकृति के द्वारा प्रेरित बन कर पुण्य और पाप का संबन्ध होता है। अतः मेरे द्वारा कहे गए विज्ञान के प्रमाणों को दृष्टि में रख कर युद्ध-कर्मों में प्रवर्तित बनो। ऐसा करने से तुम्हारा बन्धन—जन्म-मरण मिट जायेगा। इस महावाक्य का यह तात्पर्य हमारे विवेक की नींव को दृढ़ बनाने के लिए ही है। अप्रधान—सामान्य वाक्यों का अर्थ तो सहज ही है। (पच्चासवें श्लोक में जो) 'समासेन' शब्द कहा गया है उसका अर्थ संक्षिप्त रूप से पहिले वर्णित ज्ञान की निष्ठा से है। वाक्-चतुरता को छोड़कर निश्चित बात तो 'बुद्ध्या विशुद्ध्या' इत्यादि श्लोकों में कही गई है। यह सभी तो हम कह ही आये हैं अतः फिर कहने का आयास नहीं करेंगे।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

ईश्वर सर्वभूतानां हृद्येष वसतेऽर्जुन।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥६१॥

अर्जुन !	= हे अर्जुन !	**सर्व-भूतानि**	= सभी प्राणियों को
एषः	= यह	**मया**	= अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से
ईश्वरः	= ईश्वर	**भ्रामयन्**	= नचाता हुआ (जन्म-मरण में घुमाता हुआ
सर्व-भूतानाम	= सभी प्राणियों के	**(स्थितः)**	= स्वरूप में ठहरा है।
हृदि	= हृदय में		
वसते	= रह रहा है (और)		
यन्त्र-आरूढानि	= शरीररूपी यन्त्र पर सवार होकर		

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
मत्प्रसादात्परां सिद्धिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥६२॥

भारत	= हे अर्जुन !	**मत्**	= मेरे
सर्व-भावेन	= पूर्ण रूप से	**प्रसादात्**	= अनुग्रह से
तम्	= उस परमात्मा का	**पराम्-सिद्धिम्**	= पर-सिद्धि रूप
एव	= ही	**शाश्वतम्**	= सनातन
शरणम्	= आश्रय	**स्थानम्**	= मोक्ष-धाम को
गच्छ	= लो (इस प्रकार अनन्य शरण लेने से)	**प्राप्स्यसि**	= प्राप्त करोगे ।

एष ईश्वरः परमात्मावश्यं शरणत्वेन ग्राह्यः। तत्र ह्यधिष्ठातरि कर्तरि बोद्धरि स्वात्मये विमृष्टे, न कर्माणि स्थितिभाञ्जि भवन्ति। नहि निशिततरनखरकोटिविदारित-समदकरिकरटगलितमुक्ताफलरिकरपरिकरप्रकाशितप्रतापमहसि सिंहकिशोरके गुहामधितिष्ठति, चपलमनसो विद्रवणमात्रबलशालिनो हिरणपोतकाः स्वैरं स्वव्यापारपरिशीलवापटुभावमवलम्बन्ते इति। 'तमेव शरणं गच्छ' इत्युपक्रम्य 'मत्प्रसादात्'—इति निर्वाहवाक्यमभिदधद्भगवान् परमात्मानमीश्वरं वासुदेवं चैकतया योजयतीति ॥६२॥

इस ईश्वर-परमात्मा की शरण लेकर ही रहना चाहिये। यह तो निश्चित सिद्धांत है कि जो प्रभु सभों का आधार है, बनाने वाला है, ज्ञान-स्वरूप और स्वात्म-रूप है उसका विमर्श करने पर कर्मों की स्थिति उसी प्रकार ठहर नहीं पाती जैसे युवक शेर, बहुत ही तीखे अपने नखों के अग्र-भाग से, मदमस्त हाथी के गण्डस्थलों को चीर के, उस गंडस्थल में से निकाले हुए बहुत से मोतियों की चमक से प्रकाशित होकर अपनी गुफा में बैठा हो और इधर चंचल मन वाले, स्वतन्त्रता पूर्वक विहार करने वाले, भागने में चतुर स्वभाव वाले, छोटे-छोटे हिरण, उस सिंह को देखकर अपने स्वाभाविक भागने की चतुरता का आश्रय न लेकर, अपने भागने के स्वभाव को (भय से) भूल कर वहीं पर सहम जाते हैं और ठिठक जाते हैं।

'तमेव शरणं गच्छ'—उसकी शरण में जा—इस प्रकार आरम्भ करके 'मत्प्रसादात्' मेरी दया से उस --प्रभु को तुम प्राप्त करोगे--यह वाक्य कह कर, भगवान्, परमात्मा ईश्वर और वासुदेव की एकता को ही दर्शाते हैं।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इति	= इस भांति (यह)	**एतत्**	= इस अद्वैतज्ञान को
गुह्यात्	= वेदान्त-शास्त्रों में कहे गए उपदेशों से भी	**अशेषेण**	= पूर्णरूप से
		विमृश्य	= विचार के (फिर)
गुह्यतमम्	= परम-अद्वैत	**यथा**	= जैसी (तुम्हारी)
ज्ञानम्	= ज्ञान	**इच्छसि**	= इच्छा हो
मया ते	= मैंने तुम्हें	**तथा**	= वैसा ही
आख्यातम्	= कहा	**कुरु**	= करो

तदेवेदं ज्ञानमुक्तम् । गुह्यात्—वेदान्तादपि गुह्यम्—परमाद्वैतप्रकाशनात् । एतच्चाशेषेण विमृश्येति—तात्पर्यमत्र विचार्येत्यर्थः । तच्च तात्पर्यं यथावसरमस्माभिः शृङ्गग्राहिकयैव प्रकाशितं यद्यपि, तथापि स्फुटमशेषेणविमर्शनं प्रदर्श्यते;—उपादेयतमं ह्यदः । नास्मिन्निरूप्यमाणे वा मतिस्तृप्यति ॥६३॥

वही (परम) ज्ञान इस समय कहा गया है । वह ज्ञान गुह्य—वेदान्त से भी अधिक रहस्य से भरा है क्योंकि यही ज्ञान परम-अद्वैत-स्वरूप को जतलाता है । इस ज्ञान का पूर्णरूप से विमर्श करके यानी इसमें तात्पर्य-अर्थ का विचार करके (उसके बाद जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो) वह तात्पर्य हमने स्पष्टरूप से यथोचित स्थानों में यद्यपि वर्णन किया भी है तथापि भली-भांति स्पष्ट शब्दों में इसका विचार (पुनः) किया जाता है क्योंकि यह (आत्म) ज्ञान परम उपयोगी है । या यूं कहें कि इस ज्ञान का (बार-बार) बखान करने में बुद्धि अघाती नहीं है ।

गुह्यतमं यदत्र निश्चितम्, तज्ज्ञानमिदानीं शृणु; इत्याह

जो रहस्यमय ज्ञान यहां निश्चित किया गया है, उस ज्ञान को (फिर से एक बार मुझ से) सुनो । यही कहते हैं ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमतिस्ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

सर्व-गुह्यतमम्	= सभी रहस्य-शास्त्रों में कहे गए रहस्यों से भी अति रहस्य	**दृढ.मति**	= पक्का विश्वास है कि (तुम)
मे	= मेरे (इस)	**इष्टः**	= (मेरे) प्यारे
परमम्	= परम (रहस्य से भरे हुए)	**असि**	= हो
वचः	= उपदेश को (तुम)	**ततः**	= इसीलिए तो
भूयः	= फिर एक बार	**ते**	= तुम्हारी
शृणु	= सुनो (क्योंकि)	**हितम्**	भलाई के लिए
मे	= मेरा	**वक्ष्यामि**	= (फिर वही उपदेश) कहूंगा ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

	(हे अर्जुन तुम इसलिए)	(एवम्)	= ऐसा करने से
मत्-मनाः	= मुझ में ही प्रेमपूर्वक मन लगाने वाला	(त्वम्)	= तुम
		माम्	= मुझे
भव	= बनो।	एव	= ही
मत्-भक्ताः	= मेरे भक्त	एष्यसि	= प्राप्त करोगे (यह मैं)
(भव)	= बनो।	ते	= तुम्हारे सामने
मत्-याजी	= मेरी पूजा करने वाला	सत्यम्	= सत्य
(भव)	= बनो।	प्रतिजाने	= प्रतिज्ञा करता हूं
माम्	= मुझे	(यतः)	= क्योंकि (तुम)
नमःकुरु	= नमस्कार करो अर्थात् मेरे आदेश के सामने झुको।	मे	= मेरे
		प्रियः	= प्यारे
		असि	= हो न।

मन्मना भव—इत्यादिना शास्त्रे ब्रह्मार्पण एव सर्वथा प्राधान्यम्—इति निश्चितम्। ब्रह्मार्पणकारिणः शास्त्रमिदमर्थवदित्युक्तम् ॥६५॥

अपना मन मेरी ओर लगाने वाला बनो—इस वाक्य से यही सिद्ध होता है कि शास्त्रों में ब्रह्म के अर्पण किया हुआ निष्काम कर्म ही पूर्ण रूप से प्रधान माना है। यह तो मानी हुई बात है। ब्रह्मार्पण कर्म करने वाले साधक के लिए ही यह शास्त्र का उपदेश सफल होता है। यह बात इस श्लोक में कही है।

आह च—

इस विषय में यह भी कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सर्व-धर्मान्	= सभी कर्तव्य और अकर्तव्य कर्म की परिधि को	व्रज	= पकडो (ऐसा करने पर)
		अहम्	= मैं
		त्वाम्	= तुम्हें
परित्यज्य	= छोड़ कर—लांघ कर	सर्व-पापेभ्यो	= सभी पापों से
एकम्	= केवल	मोक्षयिष्यामि	= छुटकारा दिला दूंगा (अतः)
माम्	= मेरा ही		
शरणम्	= पल्ला	मा शुचः	= शोक मत करो।

सर्वधर्मानिति। यदिदं युद्धकरणे प्रासङ्गिकबन्धुवधादि, तस्य सर्वस्याहं कर्ता—इत्यात्मधर्मतां परित्यज्य—'तथाचार्यादिहननक्रियानिषेधे मम धर्मो भविष्यति'—इति मनसा विहाय। मामेवैकं सर्वकर्तारं परमेश्वरं स्वतन्त्रं शरणं सर्वस्वभावाधिष्ठायकतया व्रज। अत एवाहं सर्वज्ञः सर्वेभ्यः पापेभ्यस्त्वां मोक्षयिष्यामीति। मा शुचः—किंकर्तव्यतामोहं मा गाः ॥६६॥

सभी धर्मों को त्याग कर—जो भी युद्ध में प्रसंगवश बान्धवों का वध आदि कर्म है—'उस सम्पूर्ण कर्म का मैं ही करने वाला हूं' ऐसे आत्म-अभिमान को छोड़कर तथा 'अपने इन आचार्यों को न मार कर मेरा धर्म बना रहेगा। ऐसी भावना को मन से हटा कर केवल मात्र मुझ स्वतन्त्र परमेश्वर के ही शरण में रहो अर्थात् अपने सर्व-स्वभाव बने हुए आत्मा से मेरा निश्चय करो। तभी तो मैं सर्वज्ञ ईश्वर सभी पापों से तुम्हें मुक्त कर दूँगा। तुम शोक न करो—'मैं क्या करूं' इस प्रकार की ढांवांढोल स्थिति को प्राप्त न होओ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

ते	= तुम्हारे हित के लिए कहा गया	**न**	= न
इदम्	= यह गीता का उपदेश,	**अशुश्रूषवे**	= भगवान् की चर्चा न सुनने की इच्छा रखने वाले के प्रति
कदाचन	= भूल कर भी		
न	= न तो		
अतपस्काय	= तपस्या से रहित मनुष्य को	**वाच्यम्**	= कहना चाहिए (और)
वाच्यम्	= कहना चाहिए	**यः**	= जो
च	= और	**माम्**	= मेरी
न	= न		
अभक्ताय	= भक्ति से रहित व्यक्ति को	**अभ्य-सूयति**	= निन्दा करता हो
(वाच्यम्)	= कहना चाहिए	**(तम्)**	= उसे भी
च	= तथा	**न**	= न ही (कहना चाहिए)

अस्य ज्ञानस्य गोप्यमानत्वं सिद्धिदम्—सर्वजनाविषयत्वात्। तपसा तावत्पापग्रन्थौ विशीर्णे कुशलपरिपाकोन्मुखता भवति। इति पूर्वं तपः, तपसः श्रद्धा जायते। सैवात्र भक्तिः। श्रद्धाप्युपजाता कदाचिन्न प्ररोहति—सौदामनीव क्षणदृष्टनष्टत्वात्। ततस्तत्प्ररोहे श्रोतुमिच्छा भवति। इयदपि च कस्यचिदनीश्वरे वस्तुनि शुष्कसांख्यादिज्ञाने भवति। सेश्वरेऽपि वा कस्यचित्फलार्थितया फलमेव प्रधानीकृत्य भगवन्तं स्वात्मानं तदुपकरणपात्रीकरणेनन्यक्कृत्य भवेत्। यदुक्तं

'पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्'
'कर्माण्यपि फलार्थत्वात्' (पू० मी० सू०)

इति। एवमुभयथापि भगवत्यसूयैवानादर इत्यर्थ: ।।६७।।

इस ज्ञान की गुप्तता ही मोक्ष रूप सिद्धि को देती है क्योंकि यह ज्ञान सभी मनुष्यों का विषय नहीं हो सकता। बात तो यों है कि तपस्या से पाप की गुत्थियां ढीली पड़ जाने पर मंगल पुण्य-कर्म आ उपस्थित होते हैं। अत: पहिले तपस्या का होना आवश्यक है। तपस्या से (भगवान् के प्रति) श्रद्धा उत्पन्न होती है। वहीं श्रद्धा यहां भक्ति है। श्रद्धा होने पर भी वह किसी समय वैसे ही रूढ नहीं बनती है जैसे बिजली की कौंध देखते देखते ही नष्ट हो जाती है। अत: उस श्रद्धा के रूढ बनने के लिए (गुरु-मुख से) कुछ उपदेश सुनने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस श्रद्धा को ग्रहण करके कई जन तो अनीश्वरवाद (नास्तिकता) से युक्त शुष्क सांख्य आदि ज्ञान को अपनाते हैं। कई सेश्वरावाद (ईश्वर) का आश्रय लेकर भी सांसारिक फल को ही अपना वांछनीय विषय बनाते हैं। इस प्रकार वे स्वात्म-स्वरूप भगवान् को उस फल के सिद्ध करने की सामग्री के समान ही मानते हैं। वे जन भी मुझे फल के समक्ष अप्रधान (गौण) मानने पर मुझसे ईर्षा ही करते हैं। कहा भी है—

"पुरुष परमात्मा कर्मों के करने का आश्रय है और कर्म, फलों के आश्रय पर ही (टिके) हैं।"

इस प्रकार ये दोनों (अनीश्वरवादी और सेश्वरवादी)। जन भगवान् से ईर्षा दूसरे शब्दों में उनका अनादर ही करते हैं यह इस श्लोक का अभिप्राय है।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा स मामेष्यत्यसंशय: ।।६८।।

य:	= जो (साधक)	**मयि**	= मुझ में
इदम्	= इस	**पराम्**	= पार्यन्तिक (तथ्य)
परमम्	= अति उच्च	**भक्तिम्**	= भक्ति
गुह्यम्	= रहस्य से भरे उपदेश को	**कृत्वा**	= करके
मद्-भक्तेषु	= मेरे (प्रिय) भक्तों में	**असंशय:**	= नि:सन्देह
अभिधास्यति	= कहेगा,	**माम्**	= मुझे ही
(स:)	= वह	**एष्यति**	= प्राप्त होगा।

भक्तिमिति—एतदेव मयि भक्तिकरणं; यद्भक्तेष्वेतन्निरूपणम्। अभिधास्यति—अभिमुख्येन शास्त्रोक्तप्रक्रियया धास्यति—वितरिष्यति। स मन्मयतामेतीति विधिरेवैष नार्थवाद:। एवमन्यत्र ।।६८।।

इस परम ज्ञान का मेरे भक्तों में बखान करना ही मेरी भक्ति कहलाती है। औरों को प्रदान करने का अभिप्राय यह है कि शास्त्र में कही गई प्रक्रिया के आधार पर सबों को उस ज्ञान का उपदेश करे। वह मेरे स्वरूप की एकता को प्राप्त करता है—यह बात विधि—आदेश के रूप में कही गई है। यह अर्थवाद नहीं है। इसी भांति अन्य प्रसंगों में भी विधि-वाक्य तथा अर्थवाद वाक्यों का अन्तर स्वयं समझना चाहिए।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

च न	= और न तो	**तस्मात्**	= उस मेरे उपदेश का बखान करने वाले से बढ़ कर
तस्मात्	= उस भक्ति से बढ़ कर	**मे**	= मेरा
मे	= मेरा	**प्रियतरः**	= अत्यन्त प्यारा
प्रिय-कृत्तमः	= प्रिय कार्य निभाने वाला	**भुवि**	= पृथ्वी में
मनुष्येषु	= मनुष्यों में	**अन्यः**	= दूसरा कोई
कश्चित्	= कोई	**भविता**	= हो सकेगा।
(अन्यः अस्ति)	= दूसरा है		
न च	= और न ही		

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

यः च	= अब जो	**तेन**	= उस के द्वारा
इमम्	= इस	**अहम्**	= मैं
धर्म्यम्	= धर्म-पूर्ण	**ज्ञान-यज्ञेन**	= ज्ञान-यज्ञ से
आवयोः	= हम दोनों के	**इष्टः**	= पूजित
संवादम्	= वार्तालाप के रूप में गीता-शास्त्र को	**स्याम्**	= होऊंगा
अध्येष्यते	= पढ़ेगा तथा इस पर विचार करेगा	**इति**	= ऐसा
		मे	= मेरा
		मतिः	= निश्चय है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

यः	= जो	सः	= वह
नरः	= मनुष्य	अपि	= भी
श्रद्धावान्	= श्रद्धा से युक्त	मुक्तः	= पापों से छूटकर
च	= और	पुण्य-कर्मणाम्	= उत्तम कर्म करने वालों के
अन-सूयः	= ईर्षा-रहित होकर भी (इस गीता-शास्त्र को)	शुभान्	= शुभ-दायक
श्रणुयात्	= केवल मात्र सुनेगा	लोकान्	= लोकों को
अपि	= ही	प्राप्नुयात्	= प्राप्त करेगा।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

पार्थ	= हे अर्जुन !	धनंजय	= हे धनंजय
कच्चित्	= क्या	कच्चित्	= क्या
त्वया	= तुम ने	ते	= तुम्हारा
एतत्	= यह मेरा उपदेश	अज्ञान-संमोहः	= अज्ञान से उत्पन्न हुआ गाढ मोह
एकाग्रेण	= एकाग्र	प्रनष्टः	= पूर्ण रूप में नष्ट हो गया ?
चेतसा	= मन से		
श्रुतम्	= सुना ? (और)		

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अच्युत	= हे निर्विकार कृष्ण !	लब्धा	= प्राप्त की (अतः मैं)
त्वत्-प्रसादात्	= आप की कृपा से	गत-सन्देहः	= संशयों से रहित होकर
(मम)	= मेरा	स्थितः	= (आपके सामने) ठहरा
मोहः	= (मिथ्या) मोह	अस्मि	= हूं (मैं तो)
नष्टः	= दूर हो गया	तव	= आप की
(च)	= तथा	वचनम्	= आज्ञा का (अवश्य)
मया	= मैं ने	करिष्ये	= पालन करूंगा।
स्मृतिः	= आत्म-स्मृति (भी)		

नष्टो मोहः— इत्यादिना युद्धप्रवृत्तिस्तावदर्जुनस्योत्पन्ना, ननु सम्यग्ब्रह्मविरत्वं जातम् - इति सूचयन्भाविनोऽनुगीतार्थस्यावकाशं ददाति ।।७३।।

'मेरा मोह मिट गया' इत्यादि कथन से यह बात जानी जाती है कि भगवान् के उपदेश से अर्जुन, केवल युद्ध करने पर ही उतारू हुआ है उसे परब्रह्म का शुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। इस कथन की सूचना से भगवान् को भावी अनुगीता के कहने का भी अवकाश मिला।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।।७४।।

संजय बोले

इति	= इस प्रकार	**अद्भुतम्**	= अलौकिक, रहस्य-पूण (तथा)
अहम्	= मैं ने	**रोम हर्षणम्**	= रोंगड़े खड़े करने वाले
वासुदेवस्य	= श्री कृष्ण के	**संवादम्**	= (पारस्परिक) वार्तालाप को
च	= और	**अश्रौषम्**	= ध्यान देकर सुना।
महात्मनः	= उदार मन वाले		
पार्थस्य	= अर्जुन के		
इमम्	= इस		

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यतरं महत् ।
योगं योगीश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।७५।।

व्यास-प्रसादात्	= श्री व्यास जी की कृपा दिव्य-दृष्टि द्वारा	**साक्षात्**	= प्रत्यक्ष रूप में
(अहम्)	= मैं ने	**कथयतः**	= कहते हुए
एतत्	= इस	**स्वयम्**	= खुद
महत्	= बहुत ही	**योगीश्वरात्**	= योगियों के ईश्वर
गह्यतरम्	= रहस्य से भरे हुए	**कृष्णात्**	= भगवान् कृष्ण से
योगम्	= योग को	**श्रुतवान्**	= सुना है।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्यसंवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७६।।

राजन्	= हे धृतराष्ट्र	**संस्मृत्य**	= पुनः-पुनः
केशव-अर्जुनयोः	= श्रीकृष्ण और अर्जुन के	**संस्मृत्य**	= स्मरण करने पर
इमम्	= इस	**(अहम्)**	= मैं
पुण्यम्	= कल्याण-कारक	**पुनः पुनः**	= बार बार
च	= और	**हृष्यामि**	= हर्षित होता हूँ। (फूले नहीं समाता)
अद्भुतम्	= अचंभे में डालने वाले		
संवादम्	= वार्त्तालाप को		

तच्च संस्मृत्य परमं रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महाराज प्रहृष्ये च पुनः पुनः ॥७७॥

महाराज्	= हे धृतराष्ट्र !	**रूपम्**	= विराट् स्वरूप का
(इति)	= इस प्रकार	**संस्मृत्य**	= ध्यान करने ही
हरेः	= पापों का हरण करने वाले भगवान् कृष्ण के	**मे**	= मुझे
तत्	= उस	**विस्मयः**	= आश्चर्य होता है
अति-अद्भुतता	= अचंभे में डालने वाले	**च**	= और
परमम्	= अलौकिक	**(अहम्)**	= मैं
		पुनः पुनः	= बारम्बार
		प्रहृष्यते	= (मन ही मन) हर्षित होता हूं।

यत्र योगीश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

यत्र	= जहां	**श्रीः**	= मोह लक्ष्मी,
योगीश्वरः	= योगियों के ईश्वर	**विजयः**	= विजय,
कृष्णः	= भगवान् कृष्ण हैं (और)	**भूतिः**	= परिपूर्ण ऐश्वर्य (तथा)
यत्र	= जहां	**ध्रुवा**	= अटल
धनुर्धरः	= गांडीव धनुष-धारी	**नीतिः**	= शालीनता (बुद्धिमत्ता) सदा रहती है।
अर्जुनः	= अर्जुन है	**(इति)**	= ऐसा
तत्र	= वहां तो	**मम**	= मेरा,
		मतिः	= सिद्धान्त है।

संजयवचनेन संवादमुपसंहरन्नेतदर्थस्य गाढप्रबन्धक्रमेण निरन्तरचिन्तासन्तानोपकृत-नैर्यन्तर्यादिव चान्ते सुपरिस्फुटनिर्विकल्पानुभावरूपतामापाद्यमानं स्मरणमात्रमेव परब्रह्मप्रदाय-कम्—इत्युच्यते। एवं भगवदर्जुनसंवादमात्रस्मरणादेव तत्त्वावाप्त्या श्रीविजयविभूतय इति शिवम् ॥७८॥

भगवान् कृष्ण और अर्जुन के आपसी वार्त्तालाप की समाप्ति पर संजय के इन वचनों से यह सूचित होता है कि भगवान् के इस उपदेश का अनुचिन्तन, यदि प्रचुर मात्रा में तथा निरन्तर किया जाये तो अन्त में अति स्फुट निर्विकल्प स्वरूप का अनुभव कराके परमेश्वर की पद्धवी को ही प्राप्त कराता है। ऐसा है भगवान् का केवल मात्र स्मरण करना। इस प्रकार भगवान् तथा अर्जुन के परस्पर संवाद का स्मरण करने पर वास्तविक मोक्ष रूप लक्ष्मी, विजय और स्वरूप आनन्द का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इति शिवम्।

अत्र संग्रह श्लोकः।

भङ्क्त्वा ज्ञानविमोहमन्थरमयीं सत्त्वादिभिन्नां धियं
प्राप्य स्वात्मविभूतसुन्दरतया विष्णुं विकल्पातिगम्।
यत्किंचित्स्वरसोद्यदिन्द्रियनिजव्यापारमात्रस्थिते-
र्हेलातः कुरुते तदस्य सकलं संपद्यते शङ्करम् ॥१८॥

सार-श्लोक

ज्ञान और अज्ञान रूप मोह से मन्द बनी हुई तथा सत्त्व आदि गुणों से भिन्नता को प्राप्त हुई बुद्धि को काट कर—दूर करके तथा स्वात्म-अनुभूति से सुशोभित बने हुए विकल्पों से रहित विष्णु भगवान् को प्राप्त करने के बाद, जिस किसी भी व्यवहार से इन्द्रियों को अपने-अपने कार्यों में स्वाभाविक रूप से तथा क्रीडा मानकर प्रवर्तित होने देना है, वह सभी, उस पुरुष के लिए शंकर का रूप ही बनता है अर्थात् उसे यह सभी जगत् का व्यवहार शिवमय ही दीखता है।

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादविरचिते गीतार्थसंग्रहे भाषाटीकोपेते (मोक्षसन्यासयोगो नाम) अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपाद द्वारा रचित श्रीमद्भगवद्-
गीतार्थ-संग्रह का (मोक्षसन्यासयोग नाम का) अठारहवां
अध्याय समाप्त हुआ।

— — —

(अभिनव व्याख्या)

(श्रीमान्कात्ययनोऽभूद्वररुचिसदृशः प्रस्फुरद्बोधतृप्तस्तद्वंशालङ्कृतो यः स्थिरमतिरभवत्सौशुकाख्योऽतिविद्वान् विप्रः श्रीभूतिराजस्तदनु समभवत्तस्य सूनुर्महात्मा येनामी सर्वलोकास्तपसिनिपतिताः प्रोद्धृता भानुनेव ।।१।।

(इस श्लोक में आचार्यपाद अभिनवगुप्त जी अपने गुरु के वंश का परिचय देते हैं)—

मोक्ष-लक्ष्मी से सम्पन्न तथा सूर्य के समान महान तेजस्वी और परमात्म-ज्ञान से तृप्त बने हुए कात्यायन नाम वाले ब्राह्मण के वंश से, दृढ बुद्धि वाले 'सौशुक' नाम के ब्राह्मण प्रकांड विद्वान् थे। उनके बाद उनके सुपुत्र महात्मा श्री भूतिराज नामक ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे जिन्होंने भगवान् सूर्य की भांति अंधकार में पड़े हुए सभी सांसारिक जनों को उस अज्ञान के अंधेरे से उभार लिया था।

तच्चरणकमलमधुपो भगवद्गीतार्थसंग्रहं व्यदधात् ।
अभिनवगुप्तः सद्द्विजलोटककृतचोदनावशतः ।।२।।

उन्हीं आचार्य भूतिराज के चरण-कमलों का भौंरा बना हुआ (मैं) अभिनवगुप्त 'भगवद्गीनार्थसंग्रह' नाम वाली व्याख्या अति श्रेष्ठ 'लोटक'नामक ब्राह्मण की प्रेरणा से करने लगा।

अत इदमयथार्थं वा यथार्थमपि सर्वथा नैव ।
विदुषामसूयनीयं कृत्यमिदं बान्धवार्थं हि ।।३।।

अतः यह व्याख्या युक्तियुक्त है या अयुक्त है इसके लिए विद्वानों को मुझ से भूल कर भी ईर्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि मैं ने इस व्याख्या की रचना बन्धु जनों के हित के लिए ही की है। (शिष्यों के लिए नहीं की है इसी लिए इस व्याख्या में त्रिक-सिद्धान्त की झलक पूर्ण रूप से नहीं है।)

अभिनवरूपा शक्तिस्तद्गुप्तो यो महेश्वरो देवः ।
तदुभययामलरूपमभिनवगुप्तं शिवं वन्दे ।।४।।

परमात्मा महेश्वर की शक्ति अभिनवा है—प्रतिक्षण नवीन रूप से विकसित होती है। उस अभिनवा शक्ति से जो महादेव सदा गुप्त रहते हैं। अतः उस अभिनवा शक्ति के तथा गुप्त महेश्वर के संग्रह रूप यामल स्वरूप अभिनवगुप्त परमेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ ।।४।।

—०—

परिपूर्णोऽयं श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहः । कृतिस्त्रिनयनचरणसरोरुहचिन्तनलब्धप्रसिद्धेरभिनवगुप्तस्येति शिवम् ।।

ॐ

सांख्ययोगादिशास्त्रज्ञः पाणिनीये पतंजलिः ।
शिवार्करश्मिसंपत्तव्याकोशहृदयाम्बुजः ।।
महामाहेश्वरः श्रीमान्राजानकमहेश्वरः ।
शैवशास्त्रगुरुः स मे वाक्पुष्पैरस्तु पूजितः ।।

सांख्य तथा योग आदि शास्त्र को जानने वाले, पाणिनी व्याकरण को जानने में पतंजलि के समान तथा शिव रूपी सूर्य की किरणों के लगने से जिनका हृदय रूपी कमल एकदम विकसित हुआ था ऐसे महेश्वर शंकर के भक्त, मोक्ष-लक्ष्मी संपन्न उपनामधारी राजानक महेश्वरनाथ जी हमारे शैव-शास्त्र(त्रिक-शास्त्र) के गुरु हैं । अतः वे मेरी वाणि रूपी फूलों से पूजित बनें ।

— o —

शिवभक्त्यमृतास्वादातृणीकृतरसान्तरः ।
राजानलक्ष्मणाभिख्यः सुधीर्नारायणात्मजः ।।

शिव-भक्ति रूपी अमृत का अनुभव करने से अन्य विषय-संबधि रस जिन्हें तिनके की भांति सार-रहित दीख पड़े ऐसे राजानक लक्ष्मण जी नाम वाले प्रतिभाशाली (हमारे गुरुवर्य) श्री नारायण जी के पुत्र हैं ।

हृदन्तर्वर्त्तिना साक्षाच्छ्रीरामेण प्रचोदितः ।
प्राकाश्यमनयद् गीताव्याख्यामभिनवोदिताम् ।।

हमारे हृदय में रहने वाले साक्षात् अवतार तुल्य श्री राम जी, जो कि (हमारे गुरुवर्य के) परम गुरु थे, उन से आन्तरिक रूप से प्रेरित होकर) हमने (हमारे गुरुवर्य ने) यह अभिनव गुप्त जी की गीता की व्याख्या का संकलन लोगों के सम्मुख रक्खा ।

— o —